युग-युगीन भारतीय कला

डॉ महेश चन्द्र जोशी
एसोसियेट प्रोफेसर इतिहास विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर राजस्थान

राजस्थानी ग्रथागार, जोधपुर

प्रेरणा – स्रोत

ज्येष्ठ भ्राता

प्रोफेसर लालमणि जोशी

की

स्मृति

में

विषय सूची

पुरोवाक्

लगभग दो दशाब्द पूर्व हमें स्नातकोत्तर कक्षा में भारतीय सस्कृति एव कला के अध्ययनार्थ निर्धारित प्रकरणों में स कुछ के अध्यापन का अवसर प्राप्त हुआ था। इस सम्बन्ध में हमने समय समय पर अध्ययन एव अध्यापन की सुविधा हेतु पर्याप्त सामग्री एकत्रित की। इस अवधि में हमें विद्वानों शोधार्थियों एव भारतीय कला के अध्येताओं के जिस एक असुविधाजनक प्रश्न का सामना निरन्तर रहा वह था राष्ट्रभाषा हिन्दी में किसी एक विस्तृत प्रामाणिक एव उपयोगी पुस्तक की ससुति। आग्ल भाषा में फर्ग्युसन कुमारस्वामी क्रमरिश ज़िमर पर्सी ब्राउन बेंजामिन रोलैण्ड हैवेल स्मिथ सरस्वती आदि अनेक विद्वानों ने भारतीय कला के किसी एक अथवा अनेक पक्षों पर स्वतत्र ग्रथों का प्रणयन किया है। इन सभी विद्वानों के ग्रथों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इन ग्रथों का पूरा पूरा लाभ अध्ययनेच्छुक सभी व्यक्तियों को दो कारणों से नहीं मिल पा रहा है — आग्ल भाषा पर अधिकाश विद्यार्थियों तथा अध्येताओं का अपेक्षित अधिकार न होना और कला के महत्त्वपूर्ण एव अध्ययन के लिए अभिस्तावित अधिकाश प्रकरणों का किसी एक पुस्तक में अनुपलब्ध होना।

पिछले तीन दशकों में भारतीय कला पर हिन्दी में जो अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुयीं उनमें से कोई एक पुस्तक उस कमी को दूर करने में सक्षम नहीं है जिसका सामना भारतीय कला के विद्यार्थियों को करना पडा है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने लगभग तीन दशक पूर्व हिन्दी में भारतीय कला नामक एक प्रामाणिक एव उपयोगी पुस्तक का प्रणयन किया था। उसका विस्तार ताम्राश्म युग से गुप्तकाल तक है। उसमें पाषाणयुग की कला गुप्तोत्तर युगीन मदिर वास्तु सल्तनत एव मुगलवास्तु आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकरणों को छोड दिया गया है। दो दशक पूर्व प्रकाशित वासुदेव उपाध्याय की प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एव मदिर' नामक पुस्तक तथा कृष्णदत्त वाजपेयी की भारतीय वास्तुकला का इतिहास नामक पुस्तक भी कला के पक्ष विशेष से सम्बद्ध ग्रथ ही हैं। परमेश्वरी लाल गुप्त की भारतीय वास्तुकला रायकृष्णदास की चित्रकला एव मूर्तिकला पर लघु पुस्तकें तथा भारतीय चित्रकला पर वाचस्पति गैरोला की विस्तृत एव प्रामाणिक पुस्तक आदि सभी ग्रथ भारतीय कला के पक्ष विशेष का ही निरूपण करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में सम्भवत पहली बार पाषाण युग से आधुनिक युग तक भारतीय वास्तु मूर्ति एव चित्रशिल्प से सम्बन्धित अधिकाश प्रकरणों के विस्तृत कलेवर को समेट कर उक्त कमी को दूर करने

का अल्प प्रयास किया गया है। हम पुस्तक की उपयोगिता तथा हमारे प्रयास की सफलता विफलता के आकलन का कार्य सुधी पाठकों पर छोडते हैं।

लेखक उन सभी विद्वानों का हृदय से ऋणी है जिनकी पुस्तकों का उपयोग ग्रथ रचना में किया गया है। उन सभी विद्वज्जनों का नामोल्लेख करना यहाँ सभव नहीं है। मैं अपने अभिन्न मित्र द्वय इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर डी० सी० शुक्ल एव एसोसियेट प्रोफेसर श्री जहूरखा मेहर का विशेषत आभारी हूँ जिन्होंने अनवरत मेरा उत्साहवर्द्धन किया। अन्तत मैं राजस्थानी ग्रथागार के श्री राजेन्द्र सिंघवी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने इस ग्रथ को समय से प्रकाशित करने का श्लाघनीय कार्य किया है।

इतिहास विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर

महेश चन्द्र जोशी

पूर्व पीठिका

कला शब्द के अर्थ का क्षेत्र व्यापक है। कला का स्वभाव गम्भीर एवं सूक्ष्म है। साधारणतः कला के अन्तर्गत साहित्य और इसके विविध प्रकार काव्य नाटक तथा प्रहसन इतिहास आदि ललित कलाएँ संगीत वाद्य नृत्य अभिनय चित्रकला तक्षणकला अथवा मूर्तिकला स्थापत्य, औद्योगिक धन्ध एवं विभिन्न प्रकार की दस्तकारियाँ उल्लेखनीय हैं। कला शब्द के व्यापक अर्थ प्रयोग के अन्तर्गत किसी भी कार्यक्षेत्र में प्रवीणता को भी सम्मिलित किया जा सकता है यथा वक्तव्य की कुशलता व्यवहार की कुशलता तथा प्रभावित करने की क्षमता। सामान्यतः कला के अन्तर्गत स्थापत्य अथवा वास्तु चित्रशिल्प एवं मूर्तिकला तथा नृत्य संगीत को ही सम्मिलित किया जाता है। भारतीय इतिहास धर्म दर्शन एवं संस्कृति के अन्य विविध पहलुओं के विकास-क्रम के प्रसंग में कला का अध्ययन अति आवश्यक है।

पुरातात्विक तथा साहित्यिक -- दो प्रकार की सामग्रियाँ भारतीय कला के अध्ययन के लिए उपलब्ध हैं। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत प्रागैतिहासिक एवं पुरैतिहासिक मानव निर्मित प्रस्तर उपकरण प्राकृतिक गुहाओं में मानव द्वारा बनाये गये भित्ति चित्र तथा इस काल की अन्य कला कृतियाँ पुरैतिहासिक एवं ऐतिहासिक युगों के नगर सम्बन्धी भग्नावशेष सामान्य निवास गृहों प्रासादों एवं धार्मिक स्मारकों के अवशेष स्तूप, विहार चैत्य मंदिर गुहा विहार मठ विद्यालय स्नानकुण्ड ध्वजस्तम्भ तक्षित एवं चित्रित प्रतिमाएँ काष्ठ प्रस्तर स्वर्ण रजत ताम्र कांस्य पीतल लौह अष्टधातु हाथीदाँत आदि से निर्मित मानवी अथवा दैवी मूर्तियाँ, देवालयों विहारों तथा गुफाओं की छतों एवं दीवारों पर कपड़े तथा कागज पर आलेखित चित्र मुद्राओं तथा मुहरों पर अंकित प्रतिमाएँ तथा प्रतीक विविध प्रकार के मिट्टी के पात्र प्रतिमाएँ खिलौने एवं मिट्टी के बर्तनों पर की गयी चित्रकारी पशु पक्षियों की आकृतियाँ तथा प्राकृतिक दृश्यचित्र शिलाखण्डों चट्टानों भवनों ताम्रपत्रों और मूर्तियों पर लिखे गये अभिलेख रखे जा सकते हैं।

प्राचीन भारतीय चित्रकला मूर्तिकला तथा वास्तुकला के अध्ययन के लिए पुरातात्विक सामग्री की उपादेयता सर्वाधिक है। प्रागैतिहासिक मानव की कलात्मक प्रगति का प्रमाण उस काल की पाषाण कृतियाँ तथा मृण् मूर्तियाँ आदि है। ताम्राश्म संस्कृति को उद्घाटित करने का महती कार्य पुरातत्व ने ही सम्पन्न किया। बौद्ध वास्तुकला और मूर्तिकला के विकास में प्राचीन स्तूपों के नमूने विहारों के

खण्डहर, गुहा चैत्य गृह कुषाण युग के सिक्कों से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा मथुरा कला शैली की बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों तथा कुषाणकालीन उन अभिलेखों जो स्तूप मूर्ति आदि स्थापित करने वाले दाताओं का उल्लेख करते हैं, से हम बौद्धकला का प्रारभिक इतिहास जान सकते हैं। भारतीय मूर्तिविद्या के अध्ययन में भी उपर्युक्त सामग्री का अत्यधिक महत्त्व है। अभिलेखों द्वारा हम स्थापत्य और तक्षण कला के कालक्रम एव समकालीन धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अभिलेख अनेक कलात्मक वस्तुओं तथा प्रतीकों की पहचान करने में भी सहायक होते हैं। यह निसन्देह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय कला के अध्ययन समालोचना एव दर्शन की आधारभूत सामग्री तो पुरातात्विक सामग्री ही है। प्राचीन भवनों विहारों मूर्तियों चित्रों एव मदिरों के विद्यमान अवशेष ही तो हमारे अध्ययन के विषय हैं वे ही हमारे अतीत के गौरव को प्रतिबिम्बित करने वाले दर्पण हैं।

प्राचीन भारतीय कला की ऐतिहासिक समीक्षा में सहायक और उपयोगी सामग्री की दूसरी कोटि साहित्यिक है। साहित्य को दो वर्गों में रखा जा सकता है —सामान्य साहित्य तथा विशिष्ट साहित्य। प्रथम वर्ग को पुन धार्मिक तथा लौकिक नामक दो उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है। धार्मिक साहित्य सस्कृत पालि और प्राकृत भाषाओं में सुलभ है। वैदिक साहित्य—सहिता ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद गृह्यसूत्र धर्मसूत्र से प्राचीन ब्राह्मण धर्मावलम्बी जन समुदाय के मकानों हवन-कुण्डों राज प्रासादों देवालयों मूर्तियों प्रतीकों चित्रों तथा विभिन्न कलाओं में कुशल शिल्पियों अथवा कलाकारों के विषय में सूचना मिलती है। इसी प्रकार स्मृतियों तथा पुराणों में कलाविषयक सूचना यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। पुराणों में मदिरों मूर्तियों चित्रों तथा अन्य प्रकार की कलाओं के विकास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री भरी पडी है। मत्स्य तथा विष्णु धर्मोत्तर पुराण में मूर्ति विद्या एव चित्रकला पर अत्यन्त उपयोगी अध्याय पाये जाते हैं। प्राचीन भारत की हिन्दू कला के विषय प्रतीक चित्र पुरा कथाएँ असख्य देवता राक्षस देव-दानव-युद्ध देवताओं के वाहन देवियाँ यक्ष गन्धर्व अप्सराएँ स्वर्ग नरक भक्ति उपासना, सृष्टि प्रलय अवतार एव पृथ्वी की आयु के युग जीव-जगत एव परमात्मा की सत्ता तथा महत्ता आदि कितने ही ऐसे विषय हैं जिन्हें समझने के लिए उपर्युक्त साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

बौद्ध वास्तुकला मूर्तिकला चित्रकला और मूर्ति विद्या के अध्ययन एव अनुशीलन में प्राचीन पालि वाडमय विनय पिटक सुत्त पिटक और अभिधम्म पिटक मिलिन्दपन्हो तथा आचार्य बुद्धघोष की कृतियाँ अत्यन्त आवश्यक है। महायान सूत्रों शास्त्रों एव तन्त्रों में बौद्ध विहारों चैत्यों स्तूपों मूर्ति एव चित्रों से सम्बन्धित प्रशसनीय सूचना मिलती है। बौद्धकला के अनुशीलन में बौद्ध धर्म दर्शन का सामान्य ज्ञान आवश्यक है और यह ज्ञान बौद्ध साहित्य ही प्रदान करता है। स्तूप की रचना उसकी प्रतीकात्मकता एव धार्मिक महत्व को जानने के लिए महापरिनिब्बान सुत्त एव महावस बहुत उपयोगी है। बौद्ध गुहा - विहारों एव नालन्दा महाविहार के समान विशाल विहार समूहों का विकास बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव एव बोधिसत्त्व की विविध मूर्तियाँ, उनमें प्रदर्शित विविध प्रतीकों का महत्त्व अधिगत करने में महायान सूत्र अतीव उपयोगी है।

बौद्ध धर्म की सामान्य विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त किये बिना हम महायान बौद्ध कला का यथोचित परिचय नहीं प्राप्त कर सकते । अजन्ता की गुफाओं में विद्यमान भित्ति चित्रों का सम्यक परिचय बुद्ध के जीवन की घटनाओं एव जातक कथाओं के ज्ञान के बिना कठिन है । साची भरहुत तथा अमरावती से प्राप्त बौद्ध अध्युच्चित्रों की लावण्यता का रसास्वादन बुद्ध की जीवनी एव अवदान साहित्य से अवगत होने पर ही किया जा सकता है । बौद्ध देवी-देवताओं बोधिसत्त्वों प्रज्ञापारमिता एव ध्यानी बुद्धों की मूर्तियों की समीक्षा के लिए मजुश्रीमूलकल्प प्रज्ञापारमिता बोधिसत्त्वावदान —लता अवलोकितेश्वरगुणकारण्डव्यूह गुह्यसमाजतन्त्र हेवज्रतत्र साधनमाला स्वायम्भू-पुराण आदि बौद्ध ग्रथों का सहयोग अपरिहार्य है ।

जैन वास्तु मूर्ति तथा चित्रकला के अध्ययन एव इतिहास निर्माण में जैन साहित्य विशेषत प्राकृत तथा सस्कृत में निबद्ध धार्मिक वाडमय का महत्त्वपूर्ण स्थान है । आचारागसूत्र भगवती सूत्र उत्तराध्ययन सूत्र अभिधानचिन्तामणि त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र आदि जैन ग्रथों की सहायता न केवल जैन धर्म के सैद्धान्तिक विकास वरन जैन स्थापत्य तक्षण कला तीर्थंकरों की मूर्तिविद्या एव जैन चित्रशिल्प के विकास के अध्ययन के लिए भी अपेक्षित है ।

लौकिक साहित्य की कोटि में महाभारत रामायण नाटक प्रहसन काव्य व्याकरण सम्बन्धी ग्रथ तथा ऐतिहासिक ग्रथ प्राचीन भारतीय कला और सस्कृति के प्रामाणिक तथा आधारभूत साक्ष्य है । सस्कृत नाटकों एव काव्यों में कला सम्बन्धी प्रशस्त उल्लेख पाये जाते हैं । कालिदास बाण आदि की कृतियों से विविध कलाओं के विषय में उपयोगी सूचना मिलती है । कल्हण की राजतरगिणी के लगभग प्रत्येक तरग में मन्दिरों मठों विहारों स्तूपों भवनों एव मूर्तियों के निर्माण के उल्लेख पाये जाते हैं । पतजलि शिवभागवतों द्वारा पूजी जाने वाली प्रतिमाओं और प्रतीकों का उल्लेख करता है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र दुर्गों तथा देवियों की मूर्तियों की चर्चा करता है ।

विशिष्ट साहित्य के अन्तर्गत मध्यकाल में लिपिबद्ध किये गये उन ग्रथों को सम्मिलित किया जाता है जो वास्तुशास्त्र शिल्पशास्त्र तथा प्रतिमा विज्ञान से सम्बन्धित हैं। शिल्पशास्त्र अथवा भारतीय कला सम्बन्धी विशिष्ट साहित्य में मानसार युक्ति कल्पतरु प्रासाद मण्डन समरागणसूत्रधार शिल्परत्न शिवतत्त्वरत्नाकर काश्यपशिल्पम मयमत प्रतिमा मान-लक्षण साधनमाला निष्पन्नयोगावली विष्णुधर्मोत्तर पुराण का तृतीय खण्ड मानसोल्लास अथवा अभिलषितार्थचिन्तामणि अपराजितपृच्छा तथा ईशान-शिव-गुरुदेव-पद्धति आदि ग्रथ सम्मिलित हैं ।

साहित्यिक सामग्री के अन्तर्गत उन विदेशी ग्रथों का उल्लेख करना समीचीन हागा जो प्राचीन भारतीय स्थापत्य चित्रकला एव तक्षण के विषय में उपयोगी सूचना देते हैं । इस श्रेणी में मेगास्थेनिज एव एरियन के ग्रथों फाहियान श्वान च्वाड ई-चिङ ओ काग वाश श्यान-त्से आदि चीनी परिव्राजकों के यात्रा विवरणों धर्म स्वामी की जीवनी बुदोन् गोलोत्सावाजोड नु-पल तारानाथ तथा सुमपा कन-पोके नामक तिब्बती ऐतिहासिक ग्रथों का उल्लेख किया जा सकता है ।

भारतीय वास्तुकला मूर्तिकला तथा चित्रकला भारतीय सस्कृति के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है।

कला न केवल सस्कृति का माध्यम है वरन् यह तो उसका आवश्यक अग है। अतएव भारतीय सस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन एव उसके समुचित ज्ञान के लिए भारतीय कला का अध्ययन आवश्यक है। किसी देश की सस्कृति में स्थापत्य कला तथा ललित कलाओं की स्थिति तथा उनमें अधिगत कुशलता उस देश की सास्कृतिक प्रगति का मापदण्ड प्रस्तुत करती है। अत प्राचीन भारतीय कला के अध्ययन का सास्कृतिक महत्व है।

प्राचीन भारतीय कला के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के कलाकारों को कितने प्रकार के पत्थरों, धातुओं तथा रगों का ज्ञान था। स्तूपों चैत्यगृहों मूर्तियों तथा मदिरों पर अकित अभिलेखों में कलाकारों उनके आश्रयदाताओं समकालीन शासकों कलाकृतियों के निर्माण के लिए दान दने वालों के नाम भी कभी-कभी प्राप्त होते हैं। मूर्तिकला तथा चित्रकला द्वारा हम प्राचीन भारत के विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न युगों की वेश भूषा तथा आभूषणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्राचीन भारतीय वेश भूषा के क्रमिक विकास के इतिहास में साहित्य के अतिरिक्त मूर्तिकला तथा चित्रकला अत्यधिक उपयोगी है।

भारतीय कला के विषय प्रमुखत धार्मिक हैं अतएव धार्मिक विकास के इतिहास में कलात्मक अवेशेषों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। यथा मगध से प्राप्त बौद्ध कलात्मक अवशेषों के आधार पर अवलोकितेश्वर और तारा देवी के धार्मिक पथ के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह महायान बौद्ध धर्म में भक्ति पूजा तथा मूर्तिपूजा के विकास के अध्ययन में बुद्ध प्रतिमा के उदय उसके लक्षण और विकास-क्रम से अत्यन्त उपयोगी प्रकाश पडता है। प्राचीन भारत में प्रचलित पुराकथाओं धार्मिक प्रतीकों एव नाग वृक्ष आदि की पूजा का प्रामाणिक परिचय भी प्राचीन भारतीय कला के अध्ययन से प्राप्त होता है। इस दिशा में फोगल फर्ग्युसन कुमारस्वामी तथा ज़िमर के श्लाघनीय प्रयत्नों का उल्लेख किया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय कला सस्कृति तथा आध्यात्मिक साधना का उत्कृष्ट दिग्दर्शन करती है। भारत में कला और धर्म कला और दर्शन कला और रस की सौन्दर्यानुभूति कला और योग ध्यान में घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। योगी अरविन्द के अनुसार स्थापत्य चित्रकला और मूर्तिकला भारतीय दर्शन धर्म योग सस्कृति के मौलिक और केन्द्रीय तत्त्वों से न केवल प्रेरणा में अभिन्न हैं वरन् उनकी महत्ता की गम्भीर एव विशिष्ट अभिव्यक्ति भी करते हैं। भारतीय कलाएँ भारत की आध्यात्मिक और धार्मिक अनुभूति की लावण्यमयी लिपि के पवित्र एव सुन्दर स्वर व्यञ्जन हैं। भारत में कला धर्म है धर्म कला है कला केन्द्र तीर्थस्थान हैं। परम्परा से भक्त श्रद्धालु और धर्मार्थी इन पुण्य स्थलों के दर्शन करके अपने को पवित्र और कृतार्थ मानते आये हैं।

यदि भारत में बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास भारतीय बौद्धकला के विकास के आधार पर लिखा जाये तो अधिक कठिनाई नहीं होगी। महायान में बुद्ध और बोधिसत्त्व का जो रूपान्तर हुआ उसका चित्रण हमें गन्धार कला और अजन्ता की गुफाओं की कला में उपलब्ध होता है। बौद्ध कला भारत में बौद्धधर्म के विकास के क्रमबद्ध इतिहास का स्वरूप प्रस्तुत करती है। भारतीय सस्कृति के

तान्त्रिक युग (700 1200 ई०) में तान्त्रिक धर्म के सैद्धान्तिक और क्रिया पक्षों का जो व्यापक प्रभाव भारतीय संस्कृति के स्वरूप और प्रक्रिया पर पड़ा उसकी पुष्टि करने का एक प्रमुख साधन तत्कालीन मूर्तियों और मंदिरों में तक्षित दृश्य हैं । देवताओं और देवियों के स्वरूप एवं उनकी पूजा पद्धति में जो परिवर्तन तन्त्र के कारण हुए उनकी झांकी खजुराहो तथा उड़ीसा के मंदिरों की दीवारों और स्तम्भों पर अंकित दृश्यों और प्रतिमाओं में देखी जा सकती है।

कलात्मक अवशेष कभी कभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक मतों का संशोधन करते हैं । उदाहरणार्थ बेसनगर से प्राप्त यूनानी राजदूत हेलियोदोर द्वारा निर्मित गरुड़ ध्वज स्तम्भ की खोज होने से पूर्व कुछ इतिहासकारों का मत था कि भागवत सम्प्रदाय के विकास में ईसाई धर्म का और क्राइस्ट उपासना का अत्यधिक प्रभाव था। परन्तु उपर्युक्त वैष्णव स्मारक स्तम्भ द्वारा भागवत सम्प्रदाय की विदेशी उत्पत्ति के भ्रान्तिपूर्ण मतों का निराकरण स्वतः हो गया। कभी कभी भारतीय कला का अध्ययन इतिहास की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं पर भी प्रकाश डालता है। उदाहरणार्थ अजन्ता में गुफा संख्या एक में एक भित्ति चित्र चालुक्य राजा पुलिकेशी द्वितीय के दरबार में फारस के शाह खुसरू पर्वेज के राजदूत को अपना प्रमाण पत्र प्रस्तुत करते हुए प्रदर्शित करता है।

भारतीय कला की सबसे बड़ी विशेषता उसकी धार्मिकता है। भारतीय धार्मिक विश्वासों परम्पराओं और विचारों की भारतीय स्थापत्य कला तक्षणकला तथा चित्रकला पर गहरी छाप है। मंदिर देवालय हैं देवी- देवताओं के निवास स्थान हैं उनकी आधारभूत योजना और उनके प्रत्येक भाग की बनावट शास्त्रीय विधान और योजना के अनुकूल है। प्रत्येक प्रतिमा - बुद्ध बोधिसत्व विष्णु शिव सूर्य शक्ति कार्तिकेय गणेश अथवा यक्ष यक्षिणी नाग गन्धर्व कुबेर आदि की मूर्ति — यथार्थतः भारतीय जन जीवन के धार्मिक विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। प्राचीन भारत में लौकिक कला के अवशेष बहुत कम हैं । भारत में कला का विकास विशेष रूप से धार्मिक विकास की उपज के रूप में हुआ। प्राचीन भारत में कला कला के लिए नहीं अपितु कला धर्म के लिए रही है। कला धार्मिक साधना का एक माध्यम और महत्वपूर्ण पहलू है। मंदिर का निर्माण पुण्यमय कार्य है,मूर्ति का बनाना एवं बनवाना धर्माचरण करना है। स्तूप और चैत्य का निर्माण तथागत की देशनानुकूल है। लुम्बिनी बोधगया सारनाथ और कुशीनगर आदि पवित्र स्थलों का दर्शन करना भी सुगत का उपदेश है। इसलिए ये स्थान कलाकेन्द्र बन गये। जिन दिक्पालों यक्षों गन्धर्वों नागों आदि असंख्य उपदेवों की प्रतिमाओं का निर्माण प्राचीन भारत में हुआ वे अतिप्राचीन काल से देव समूह के लोकप्रिय सदस्य रहे हैं । जिस ओर से देखिए भारतीय कला के विषय धार्मिक हैं। बौद्धधर्म ने कला को गम्भीर व्यापक और निरन्तर प्रेरणा दी। यही कथन जैन धर्म तथा कला के सम्बन्ध में भी लागू होता है। तीर्थंकरों के त्याग और तप जीवन और चरित्र कैवल्य प्राप्ति का उत्साह और कैवल्यावस्था की आनन्दमयी शांति उपासकों की श्रद्धा भक्ति दानशीलता और स्वर्गप्राप्ति के निमित्त किये गये विभिन्न उपाय ऋषभदेव से वर्द्धमान तक के 24 जिनों की पवित्र पौराणिक कथाएँ आदि जैनकला के विषय हैं। वही बात हिन्दू वास्तुकला और मूर्तिकला के विषय में यथार्थ है। मंदिरों की योजना मानों स्वर्ग में बने हुए दैवी प्रासादों की पुनरावृत्ति है। वैदिक वाङमय महाकाव्यों और पुराणों में विस्तृत धार्मिक आख्यान

पुराकथाएँ अवतार ऋषि मुनियों के चरित्र शिव-- भक्ति,कृष्ण लीला राम चरित देव दानव युद्ध सृष्टि और प्रलय स्वर्ग और नरक धर्माधर्म सघर्ष समुद्र मन्थन और काम मर्दन गगावतरण राम रावण युद्ध हनुमान का लोकोत्तर चरित्र नल दमयन्ती और सत्यवान सावित्री के उपाख्यान वराह अवतार द्वारा पृथ्वी का उद्धार भगवती द्वारा महिषासुर वध शकर का विश्व व्यापी नृत्य आदि विषय असख्य प्रतिमाओं मदिरों के तोरणों स्तम्भों और दीवारों पर तक्षित चित्रों द्वारा अभिव्यक्त किये गये हैं ।

भारतीय कला की आवश्यक और मौलिक पृष्ठभूमि भारतीय दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत करता है। भारतीय कला का विकास केवल सौन्दर्यानुभूति अथवा रसास्वादन की इच्छा के कारण नही हुआ। उसके विकास के मूल में अध्यात्मिक चेतना की प्रेरणा थी। भारतीय कला के उपकरण भारतीय तत्त्वदर्शन की लिपिमाला प्रस्तुत करते हैं। भारतीय कला में सम्पूर्ण विश्व ईश्वर का स्वरूप माना गया है। मानव पशु पक्षी आदि सभी जीवों को ईश्वरीय सत्ता से आवृत्त माना गया है। कलाकृतियों की सृष्टि दृश्येन्द्रिय जन्य सुख के लिए नही अध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना एव दार्शनिक सत्यों की देशना के लिए हुई। कला सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का स्थूल स्वरूपों द्वारा स्पष्टीकरण करती है। अध्यात्मिक सत्य की अनुभूति अपरोक्ष और प्रत्यात्मवदनीय होती है। परमार्थ सत्य का ज्ञान अतीन्द्रिय है। कलाकार उसे आशिक रूप में मुखाकृति भाव भगिमा आसन मुद्रा और उपयुक्त रगोपकरण अथवा अन्य प्रतीकों द्वारा मूर्त रूप देने की सामर्थ्य रखता है। यद्यपि बौद्धकला के कतिपय स्थलों पर भौतिक सासारिक जीवन व्यापार में रत प्राणियों के दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। राजाओं के वैभवशाली दरबार युद्धलिप्सा और वीरता के उत्साह एव नृत्य भिक्षा मागत हुए भिक्षु आदि अनेक दृश्य वहाँ पर हैं। चोल युगीन शिव नटराज की कास्य मूर्ति मानो शैव दर्शन सिद्धान्तों के साराश का प्रतिनिधित्व कर रही है। सम्पूर्ण विश्व नटराज की नाटय शाला है। कलाकार ने शिवनृत्य में अभिप्रेत पाचों क्रियाओं सृष्टि स्थिति सहार तिराभाव एव अनुग्रह को मूर्तिमान बनाने की सफल चेष्टा की है। प्राचीन भारतीय कलाकारों एव शिल्पियों के विषय धार्मिक थ और प्रेरणा के स्रोत भारतीय दार्शनिक विचार और अध्यात्मिक अनुभूतियाँ थी।

भारतीय कला की एक प्रमुख विशेषता उसकी अभिव्यक्ति प्रधानता है। कलाकार ने गूढ और गम्भीर आदर्शों और आध्यात्मिक चिन्तन के सूक्ष्म तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिये अनेक उपायों का सहारा लिया है। उसका उद्देश्य असीमित और अनन्त सत्य को सीमित और सरल माध्यम द्वारा आन्तरिक भावनाओं की बाह्य भाव भगिमा मुखाकृति अथवा मुद्राओं द्वारा और दैवी अथवा आध्यात्मिक को मानवी अथवा लौकिक माध्यम द्वारा अभिव्यक्त करना है। कलातत्वविदों और भारतीय विद्या विशारदों की दृष्टि में भारतीय कलाकारों ने उपर्युक्त विषय में अभूतपूर्व कुशलता दिखाई है। वरद मुद्रा अथवा धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा की मूर्तियों में अत्यन्त सूक्ष्म और गूढ अर्थ से परिपूर्ण मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना बडी कुशलतापूर्वक हुई है। चित्रकला में रगों का प्रयोग ऐसे किया गया है जिससे विचार पद्धति और अभिव्यक्ति का समन्वयात्मक प्रतिनिधित्व हो सके और दर्शक उस सामजस्य का अनुभव कर सके। भारतीय मूर्तिकला में स्त्रियों यक्षिणियों अथवा देवियों की प्रतिमाओं में उनके नितम्ब और स्तन बहुधा अत्यधिक विकसित और बृहताकार पाये जाते है। सस्कृत साहित्य में

यह प्रवृत्ति भारतवासियों के नारी सौन्दर्य की कल्पना का सकेत है जैसा कि कालिदास की कृतियों से स्पष्ट होता है। बृहताकार नितम्ब और पूर्णविकसित स्तन वस्तुत मातृदेवी के मातृत्व और जनन शक्ति की अभिव्यञ्जना भी करते हैं। कुछ देवी देवताओं की मूर्तियाँ अत्यन्त विलक्षण भयकर कुरूप और असयत हैं जैसे काली की मूर्ति अथवा महाकाल की मूर्ति। इन मूर्तियों द्वारा शिल्पी भय क्रोध और वीभत्स आदि भावनाओं को मूर्त स्वरूप देता है।

भारतीय कला में प्रतीकों और चिन्हों का बाहुल्य है। देवी देवताओं की मूर्तियाँ उनके प्रतीक मात्र हैं। सामान्य लेखकों की धारणा में भारतवासी बुतपरस्त अथवा मूर्तिपूजक हैं उनके दवी दवता मदिरों में रहते हैं। परन्तु इस धारणा में भ्राति मूलक विचार भी सम्मिलित हैं। मूर्तियाँ स्वय देवता न हाकर देवताओं के प्रतीक हैं उपासना और ध्यान में महायतार्थ उपकरण हैं। हिन्दू उपासकों क लिए देव मूर्तियों का वहा महत्त्व है जा रेखागणित के लिए रेखा चित्रों का। दिव्यावदान में इस विषय पर एक महत्त्वपूर्ण घाषणा पायी जाती है। मार यक्ष क रूप में अनेक स्वरूप धारण करने की शक्ति रखता है। उपगुप्त उसे बुद्ध के स्वरूप में प्रक्ट होने के लिए विवश करता है और श्रद्धापूर्वक मार क समक्ष झुक जाता है। परन्तु मार अपनी पूजा होते देख उपगुप्त के इस कृत्य की आलाचना करता है। तव उपगुप्त यह समझाता है कि वह मार की पूजा नही अपितु उसकी पूजा कर रहा है जिसका प्रतिनिधित्व हा रहा है। इस प्रकार लोग मिट्टी स निर्मित अमर दवताओं की मूर्तियों की पूजा में मिट्टी की नहीं वरन् मृण्मूर्तियों द्वारा प्रतिनिधित्व किये गये अविनाशी दवताओं का पूजा करते हैं। मूर्तिपूजा एक प्रकार का धार्मिक उपाय कांशल्य है। मूर्तियों का स्पष्टत ईश्वर के व्यक्त स्वरूप की अवस्थाओं का द्यातक माना जा सकता है। स्वय ईश्वर तो अमूर्त और अरूप है। नाम और रूप तो केवल उपाधि मात्र हैं। प्रतीकात्मकता भारतीय कला का गभीर और व्यापक गुण है। साची में देवों यक्षों गन्धर्वो मनुष्यों उपासकों राजाओं एव दाताओं (अनाथपिण्डक) आदि सभी की मूर्तियाँ हैं परन्तु बुद्ध की मूर्ति नही है। बुद्ध अमूर्त एव अरूप हैं वे स्वय कहत हैं मं दव नही हूँ, गन्धर्व नही हूँ, यक्ष नही हूँ मनुष्य भी नही हूँ। मैं बुद्ध हूँ। साची की कला में बुद्ध क व्यक्तित्व की सत्ता महत्ता रहस्यात्मकता और बौद्ध कला की प्रतीकात्मकता दृष्टिगत होती है। सिद्धार्थ गोतम के महाभिनिष्क्रमण दृश्य में कन्थक की पीठ खाली है। राजकुमार की उपस्थिति अश्व के पीछ स प्रदर्शित छन्दक सारथि द्वारा पकडे गय छत्र से सकेतित है। अन्यत्र बुद्ध की उपस्थिति बोधिवृक्ष स्तूप अथवा पद चिन्हों द्वारा प्रक्ट की गयी है। ये बुद्ध के प्रतीक हैं। देवी दुर्गा की दश भुजाएँ प्रदर्शित की गई हैं। उनका एक तीसरा नेत्र भी दिखाया गया है। दश भुजाओं द्वारा देवी की अपार रचनात्मक और ध्वसात्मक शक्तियों की ओर सकेत है। उनका तृतीय नत्र उनकी असाधारण प्रज्ञा का प्रतीक है।

भारतीय कला प्रताकात्मकता और आदर्शवादिता स आत-प्रोत है। इसक कारण उस प्रकृति के भौतिक नियमों और मानवीय मान्यताओं का अतिक्रमण भी करना पडा है। आदर्श कलाकार जो देखता है उसको ज्यों का त्यों नही अभिव्यक्त करता। भौतिक जीवन और जगत के दृश्यों की प्रतिलिपि उतारना मात्र उसका व्यापार नहीं है। वस्तुओं और घटनाओं क मूल में जा आधारभूत तथ्य है जीवन का जा चरम लक्ष्य है मनीषियों एव तत्वदर्शियों न जो अनुभव किया है उसको अभिव्यक्त

करना कलाकार का उद्देश्य है आदर्श है। अपने इस पवित्र आदर्श की पूर्ति में वह अग सौष्ठव या मासपेशियों की यथार्थ स्थिति की चिन्ता नहीं करता। भारत के देवता मानवेतर है। यूनान के देवी देवताओं की कल्पना मानवीय स्तर पर की गयी थी। यूनानी जीवन दर्शन में मनुष्य मनुष्य का सौन्दर्य और उसकी बुद्धि सर्वोपरि थे। भारतवासियों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था। भारतीय जीवन दर्शन में अध्यात्मिक तत्त्व का प्राधान्य था न कि भौतिक तत्त्व का। भारत की कला में बौद्धिकता स अधिक भावात्मकता का पुट है। भारतीय कला में यथार्थवाद का नही आदर्शवाद का प्राधान्य है।

प्रकृति चित्रण और प्राकृतिक सौन्दर्य को भारतीय कला में यथोचित महत्त्व दिया गया है। सुन्दर अथवा लावण्य वस्तु की सृष्टि में भारतीय कलाकारों ने प्राकृतिक सौन्दर्य और नैसर्गिक माधुर्य का यथाशक्ति समादर किया है। भारतीय कला में लावण्य का जो आदर्श स्वरूप है वह प्रकृति के सौन्दर्य पर आधारित है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नैसर्गिक सुन्दरता भारतीय कलाकारों की दृष्टि में सभी प्रकार की सुन्दरता का मापदण्ड है। उदाहरण के लिए कालिदास पार्वती के सौन्दर्य के वर्णन में कहता है कि प्रकृति में जो सर्वाधिक सुन्दर है उसी के अनुरूप विधाता ने पार्वती के अगों का निर्माण किया था। मेघदूत का यक्ष अपनी प्रिया की सुन्दरता की तुलना के लिए प्रकृति का सहारा लेता है। कुमारसम्भव में भी पार्वती के सौन्दर्य की तुलना प्रकृति के प्रत्येक सुन्दर तत्त्व की समष्टिगत सुन्दरता के साथ की गयी है। साची स्तूप के पूर्वी तोरण के दायी ओर एक वृक्षका अथवा यक्षिणी का चित्र वृक्ष के साथ इस प्रकार निर्मित किया गया है मानों वह वृक्ष का अभिन्न अग हो। साची के कटहरों (वेदिका) के अध्युच्चित्रों में जो दृश्य हैं उनमें चित्रित प्रकृति प्रेम वन्य पशुओं की सहानुभूति वृक्षों और विद्याधरों का परस्पर सानिध्य और पक्षियों का निर्भय विचरण आदि के द्वारा भारतीय कला और प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचान भारतीय कला की स्वाभाविकता और नैसर्गिकता की भूरि भूरि प्रशसा की है। युवती के शरीर का स्वाभाविक लावण्य और आकर्षक स्वरूप यौवन का नैसर्गिक उन्माद और करूणाद्र हृदय का निर्मल दृष्टिकोण श्रद्धालु उपासकों की विनम्रता आर पूजा में तत्परता और पक्षियों का सहज कौतुहल आदि का दिग्दर्शन भारतीय कला में जितनी कुशलता क साथ हुआ है उसकी तुलना पेरीक्लीज कालीन यूनान अथवा आगस्टस युगीन रोम की कलाकृतियाँ भी नहीं कर सकती।

भारतीय कला भारतीय जन जीवन के भी पर्याप्त निकट है। अजन्ता की कला के विषय धार्मिक हाने के साथ साथ लौकिक भी हैं। अनेक मूर्तियों के अधोभाग में उनके निर्माण करने वालों के चित्र पाये जाते हैं। दक्षिण भारत में ऐतिहासिक व्यक्तियों की अनेक मूर्तियाँ पायी गयी हैं। गुप्तकालीन भारतीय कला उस युग के भारतवासियों के लौकिक जीवन के वैभव और एश्वर्य सुख और समृद्धि को प्रतिबिम्बित करती है।

19वी शताब्दी के कतिपय ख्याति प्राप्त पश्चिमी विद्वानों का मत था कि प्राचीन भारत में ललित कलाओं का विकास नहीं हुआ और प्राचीन भारतवासियों को प्रकृति में सौन्दर्य तत्त्व की सत्ता एव महत्ता का ज्ञान नही था। सर जॉर्ज बर्डवुड का मत था कि भारत में मूर्तिकला और चित्रकला ललित कलाओं के रूप में अज्ञात हैं।

प्रोफेसर वेस्ट मैकॉट ने 1864 ई० में लिखा था हिन्दुस्तान की मूर्तिकला का विस्तृत विवरण करने में कोई आकर्षण नहीं है। यह कला के इतिहास लिखने में कोई सहायता नहीं देती इसका विकृत स्वरूप इसे ललितकला के विकास में कोई स्थान देने से वचित कर देता हैं। डॉ० एण्डर्सन के भी इसी प्रकार के विचार थे। विख्यात सस्कृतज्ञ एफ० मैक्समूलर ने भी एक स्थान पर लिखा है कि प्रकृति में विद्यमान सौन्दर्य तत्व का विचार हिन्दू मस्तिष्क में था ही नहीं।

जॉर्ज बर्डवुड के मत का आलोचना 20वीं शती के प्रारम्भ में ब्रिटेन में ही कुछ कलाविदों ने की थी। कालान्तर में हैवेल स्मिथ फुशे कनिंघम फर्ग्युसन जॉन मार्शल स्टेला क्रमरिश कुमारस्वामी याजदानी आदि विद्वानों के श्लाघनीय कार्यों द्वारा भारतीय कला की प्रतिष्ठा का यथार्थ निरूपण और तथ्य विषयक भ्रातियों का निवारण हुआ। नाट्यशास्त्र काव्यादर्श काव्यप्रकाश दशरूप ध्वन्यालोक साहित्य दपण आदि अनेक ग्रथों की परम्परा प्राचीन और मध्यकालीन भारत में सौन्दर्य शास्त्र के समुचित विकास की ओर सकेत करती है। कुमारस्वामी के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र तथा सौन्दर्यानुभूति के जो नियम नाटकों और काव्यों में लागू होते हैं वे ललितकलाओं में भी लागू होते हैं। सुन्दर रमणीय लावण्य आदि शब्द अग्रेजी के ईसथेटिक इमोशन या फीलिंग ऑव जॉय का समानार्थक नहीं हैं। सुन्दर अथवा ब्यूटिफुल शब्द से बाह्य सन्तुलन एव नैसर्गिक सौन्दर्य अभिप्रेत होता है। किन्तु रमणीय वस्तु में रस का उद्रेक करने की सामर्थ्य होता है। रसास्वादन और सौन्दर्यनुभूति में अन्तर है।

ललित कला का उद्देश्य भी वही है जो काव्य अथवा नाट्य साहित्य का है। ज्ञानवर्द्धन और शिक्षा प्रदान करना ही कला का उद्देश्य नही है। ललित कला अथवा काव्य साहित्य की प्रमुख विशेषता रस है। रसास्वादन कराना काव्य और कला का प्रमुख विषय है। विश्वनाथ अपने विख्यात ग्रथ साहित्यदर्पण में लिखता है कि रसास्वादन शुद्ध अविभाज्य स्वय प्रकट होने वाला आनन्द एव चेतना का मिश्रण अन्य किसी प्रकार की सवेदना से रहित ब्रह्मास्वादन का सहोदर है उसकी सत्ता लोकोत्तर है। केवल वे ही इसको प्राप्त कर सकते हैं जो तादात्म्य करने अथवा एकीभूत होने में समर्थ हैं। ईश्वरसहिता में कहा गया है कि ऐसी मूर्ति जिसमें रूप और लावण्य होता है दर्शक के मन में आनन्द अथवा रस उत्पन्न कर देती है। जगन्नाथ के अनुसार रमणीय वह वस्तु है जो एक अद्वितीय प्रकार का आनन्द हमारे मन में उत्पन्न करती है। यह आनन्द लोकोत्तर होता है। रमणीय से तात्पर्य एक विशेष प्रकार के भावाद्रेक उत्पन्न करने वाले दृश्य से है। सुन्दरता को परिभाषित करना कठिन है। यह एक सतुलित अवस्था है आदर्श अवस्था है इसके उपयोगी होने न हान का प्रश्न ही नहीं उठता।

महेश चन्द्र जोशी

अध्याय –

भारतीय कला की पाषाण युगीन पृष्ठभूमि

पाषाण युगीन सस्कृतियाँ मानव सभ्यता के प्राचीनतम चरण की द्योतक हैं। 1863 ईसवी में लुब्बोक ने सर्वप्रथम पाषाण युग को पूर्वपाषाण युग (पैलियोलिथिक एज) तथा नव पाषाण युग (नियोलिथिक एज) नामक दो खण्डों में विभक्त किया था। दोनों युगों के बीच मध्य पाषाण युग (मेसोलिथिक एज) की स्थिति है। ब्रड वुड ने 1960 के दशक में उक्त तीनों युगों के वैकल्पिक नामों के रूप में खाद्य सग्रहण खाद्य सचयन तथा खाद्य उत्पादन से सम्बद्ध सस्कृति नाम देने का सुझाव दिया था।

सामान्यत किसी देश के इतिहास का अध्ययन करते समय पुराविद् उस देश विशेष के मानवों द्वारा किये गये स्व विकास के उन तमाम कार्य कलापों को दो भागों में विभाजित करते हैं मानव के वह प्रयास जो उसने तब किये जब वह लिखने की कला से अनभिज्ञ था, तथा वह क्रिया–कलाप जो उसने लेखन कला विकसित करने के पश्चात् किये। प्रथम वर्ग के क्रिया–कलापों को प्रागैतिहासिक युगीन (प्रिहिस्टॉरिक) तथा द्वितीय को ऐतिहासिक युगीन (हिस्टॉरिक) कहा जाता है। मिश्र में मेसोपोटामिया तथा ईरान के सलग्न भागों में ईसा पूर्व तृतीय सहस्राब्दी के तुरन्त पश्चात की शताब्दियों में लेखन कला के आविर्भाव के साथ ही सामान्यत पश्चिमी एशियाई प्रागैतिहासिक युग का अन्त माना जाता है। किन्तु भारत में इतिहास एव प्राग् इतिहास का अन्तर विशेषत भ्रामक है। भारत में तृतीय एव द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व में लेखन कला का न केवल लोगों को ज्ञान था वरन् उन्होंने उसका उपयोग भी किया था। यह विशिष्ट लिपि अभी तक सर्वमान्य रूप में नहीं पढी जा सकी है। इस लिपि की निर्माता सभ्यता भी मिनोअन क्रीट (3000 से 1400 ई पूर्व) सभ्यता की भाति ही एक ऐसी प्रागैतिहासिक सभ्यता है जो (बिना पढी गई लिपि के साथ) औपचारिक रूप से साक्षर है। सैन्धव सभ्यता के नाम से विख्यात इस साक्षर सभ्यता की अपनी एक विशिष्ट कोटि है। प्राचीन भारतीय सभ्यता का यह वह चरण है जब मानव प्रस्तर के साथ साथ धातुओं का भी उपयोग करने लगा था। इस युग की सभ्यता का इसीलिए पाषाणयुगीन सभ्यता से भिन्न रेखाकित करने के लिए पुरा ऐतिहासिक सभ्यता (प्रोटो हिस्टॉरिक) नाम दिया जाता है। इसके अन्तर्गत ताम्राश्म तथा कास्य युगीन सस्कृतियों का अध्ययन किया जाता है। प्राग् इतिहास तथा पुरा इतिहास दोनों ही मुख्यत पुरातत्ववेत्ताओं के अध्ययन की परिधि के विषय माने जाते हैं।

पूर्व पाषाण युगीन मानव की कलात्मक उपलब्धियाँ — मानव अस्तित्व के प्राचीनतम चरणों से सम्बन्धित अवशेषों की दृष्टि से भारत विश्व के समृद्ध देशों में गिना जाता है। पूर्व पाषाण युगीन सस्कृति लगभग 5,00 000 वर्ष पुरानी मानी जाती है। भारत के उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में प्रागैतिहासिक युगीन खोज बीन से सम्बद्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभियान दल में डी टेरा टीलहार्ड डि चार्डिन तथा पेटरसन सम्मिलित थ। इन तीनों विद्वानों ने विज्ञान जीवाश्मविज्ञान (स्टडी ऑव फॉस्सिल) तथा प्रागितिहास के माध्यम से प्रातिनूतन काल (प्लीस्टोसीन) का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए काश्मीरघाटी तथा पूछ से लेकर सिन्ध तथा झेलम के मध्य स्थित नमक की पहाडियों तक के क्षेत्रों का सर्वेक्षण

किया। उन्होंने इसके अतिरिक्त नर्मदा की घाटी में भी अनुसधान कार्य किये। इनके अनुसधानों का वृत्तान्त 1939 ई में वाशिंगटन से प्रकाशित हुआ। डी टेरा को शिवालिक की ऊपरी सतह पर पाषाण युगीन मानव के प्रचुर उपकरण उपलब्ध हुये थे। इनमें अनगढ पेबुल के एक ओर छिले हुये बडे भाग से निर्मित शल्क सम्मिलित हैं। यही शल्क भारत क विशालतम प्रस्तर उद्योग का प्रमुख अग हैं। पुरातत्ववेत्ताओं ने इसे प्राग् सोहन सस्कृति कहा है। सोहन (रावलपिण्डी जिला) सिन्धु नदी की एक छोटी शाखा नदी है जिसकी पहचान ऑरल स्टाइन ने ऋग्वेद की सुषोमा नदी से की थी। प्राग् सोहन के पश्चात प्रारम्भिक सोहन सस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। इससे सम्बद्ध उपकरण डी टेरा को सोहन घाटी तथा अटक से सिन्धु सोहन नदियों के सगम तक विस्तृत भू भाग में मिले थे। यहाँ से प्राप्त होने वाले प्रस्तर उपकरण अपेक्षया परिष्कृत एव छोटे आकार के हैं। पेबुल से निर्मित यह औजार चपटे तथा गोल दोनों ही प्रकार के आधार वाले हैं। इनमें शल्क भी सम्मिलित हैं। पजाब के विभिन्न भू भागों से पाषाणयुगीन उपकरण भारत की स्वाधीनता के पश्चात भी प्राप्त हो चुके हैं। पजाब का होशियारपुर जिला पाषाणयुगीन मानव की पर्यटन भूमि था जैसा कि स्थानीय सोहन नदी (सिन्धु नदी की पूर्वोक्त उल्लिखित सहायक नदी से भिन्न) पर स्थित अनक स्थलों से प्राप्त हाने वाले प्रस्तर उपकरणों से आभासित हाता है। पूर्व पाषाण युगीन उक्त केन्द्रों में स एक ता दौलतपुर म उत्तर की ओर मात्र एक माल का दूरा पर स्थित है।

वस्तुत पूर्व पाषाणयुगीन प्रस्तर उपकरणों का पता सर्वप्रथम 1863 ईसवी में राबर्ट ब्रूस फूट ने मद्रास के निकट पल्लवरम में लगाया था। वह भारतीय भू वैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग में भू तत्ववेता थे। उन्हें ही प्राय भारतीय प्रागितिहास का जनक माना जाता है। उसने प्रस्तर युगीन उपकरणों के संकलन का श्रीगणेश करने के साथ प्रागितिहास के अध्ययन को दिशा में ठोस चरण उठाया। उनके लगभग चार दशकों का सकलन मद्रास सग्रहालय में सगृहीत है। उसके बाद भारत के विभिन्न स्थलों से उपरोक्त उपकरण प्राप्त हुये। मद्रास के आस पास प्राप्त प्रस्तर उपकरण भिन्न प्रकार के हैं। उनकी तुलना आशूलियन व एबेवीलियन उपकरणों से की गई है। सक्षेप में पूर्व पाषाणकालीन भारतीय प्रस्तर उपकरण दो प्रकार के है सोहन शैली के उपकरण जो एक मुखी हैं तथा मद्रास शैली के उपकरण जो द्विमुखी हैं।

पूर्व पाषाण युग का मानव प्रकृति पर पूर्णत निर्भर था। वह पशुपालन एव कृषि कर्म सरीखे जीवनोपयोगी व्यवसायों से अनभिज्ञ था। वह मुख्यत वन में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध फलों एव कन्दमूलों से उदरपूर्ति करता था। उसके आहार की आपूर्ति का अन्य उल्लेखनीय विकल्प निसन्देह पशुओं का मास था। आखेट मानव के मनोरजन का साधन होने के साथ ही उदरपूर्ति का माध्यम भी था। पाषाण युगीन मानव द्वारा वन्य पशुओं का आखेट करने के लिए जिन औजारों का उपयोग किया जाता था वह वस्तुत प्रस्तर निर्मित भोंडे और भोथरे औजार थे। उसके यह औजार उन पशुओं के अस्थिपञ्जरों में मिले हैं जो अब लुप्त हो चुके हैं। चूकि उसने अभी तक अग्नि प्रज्वलित करना नहीं सीखा था अत उसका भोजन कच्चा ही था। मनुष्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए तथा अपने आस पास की परिस्थिति पर विजय पाने के लिए पर्याप्त सघर्ष करना पडता था। पाषाण युगीन मानव छायादार वृक्षों के नीचे झाडियों में नदियों की कगारों में तथा पर्वतों की कन्दराओं में निवास करता था।
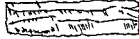
चित्र–1 पूर्व पाषाण युगीन उपकरण

उपलब्ध अवशेषों से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि पाषाण युगीन मानव ने किन्ही धार्मिक विचारों अथवा रिवाजों का विकास कर लिया था। शव विसर्जन के उन दो प्रकारों से भी वह अनभिज्ञ था जिनका मानव समाज में प्रचलन सुदीर्घकाल से चला आ रहा है। सम्भवत मानव द्वारा मृतक के शरीर को वन्य पशु पक्षियों के भक्षण के निमित्त फैंक दिया जाता था। शव-दहन तथा शव-दफ़न करने की प्रक्रिया ज्ञात नहीं थी। प्रकृति पर पूर्णत निर्भर होने के कारण पुरा-प्रस्तरीय (पैलियालिथिक) मानव ने पशुओं की आदतों तथा गतिविधियों के अतिरिक्त पौधों के उगने तथा निश्चित अन्तराल पर उनके समाप्त हो जाने की प्रक्रिया पर निसन्देह गौर किया होगा। उसके अवलोकन में ही प्राणिशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र के बीज निहित थे। इसी प्रकार जलवायु विज्ञान तथा खगोल विज्ञान की उत्पत्ति भी उसकी तारों एव प्रकृति के परिवर्तनशील तथ्यों की साधारण जानकारी में ही ढूँढी जानी चाहिए।

पुरा प्रस्तरीय मानव के औजार भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त हुय हैं यथा मद्रास उडीसा हैदराबाद मध्यप्रदेश बिहार उत्तर प्रदेश[1] पजाब आदि। पूर्व पाषाण युगीन मानव के द्वारा प्रयुक्त हाने वाले पत्थर के उपकरणों में मुख्यत पेबुल से बने शल्क (फ्लक्स) गडासे (चॉपर) खुरचना (स्क्रैपर) बसूली (क्लीवर) फलक (ब्लेड) तथा विदारक परशु (हैन्ड एक्स क्लीवर) सम्मिलित हैं (चित्र-१)। मानव अपने हथियार बनाने के लिए सम्भवत खडे पत्थर के टुकडे को दूसरे प्रस्तर खण्ड से टक्कर मार कर छाटता था।

भारत में अभी तक पूर्व पाषाण युगीन मानव का कोई भी अस्थि पञ्जर प्राप्त नहीं हुआ है। पूर्व पाषाण युग की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बद्ध प्रस्तर उपकरणों का अध्ययन करने से इस बात का सकेत मिलता है कि मानव की कलात्मक अभिरूचि में क्रमश विकासोन्मुख दिशा में परिवर्तन हो रहा था। प्रारम्भ में उसके औजार भौंडे तथा भोथरे थे किन्तु मध्य पूर्व पाषाण युग के उसके औजारों में अपेक्षया परिष्करण दिखाई देता है। वह अब छोटे पत्थरों तथा पेबुलों से अपने औजार बनाने लगा था।

मध्य पाषाण काल पुरा प्रस्तरीय काल के पश्चात् मध्य प्रस्तरीय काल का प्रादुर्भाव हुआ। यह पूर्व तथा नव पाषाणयुगों के मध्य का सक्रमण काल नही है। मध्य पाषाण युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता है बहुत ही छोटे आकार के प्रस्तर औजारों का निर्माण। लघु पाषाण उद्योग (माइक्रोलिथिक इन्डस्ट्री) प्रागैतिहासिक युगीन भारत का एक ऐसा उद्योग है जो न तो किसी निश्चित स्थल पर भूतात्त्विक निक्षेप (जिओलाजिकल डिपाजिट) के साथ मिलता है और न ही पूर्व कालिक मानव उद्योगों के साथ उसका कोई स्तरीकरण किया जा सकता है। किन्तु इस बात के प्रमाण हैं कि उक्त उद्योग कुछ क्षेत्रों में ऐतिहासिक युग तक जीवित था। स्टुअर्ट पिगट के अनुसार वास्तव में यह पुरा प्रस्तरीय काल के उद्योगों से अधिक विकसित अथवा विशिष्ट उद्योगों तक के सक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करता है। उक्त उद्योग न्यूनाधिक मात्रा में अस्तित्वहीन[2] उच्च पूर्व पाषाण युगीन फलक उद्योग से विकसित

---

1 बेलन की घाटी (द० इलाहाबाद एव प० मिर्जापुर) में उच्च पूर्व पाषाण काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि हड्डी की बनी मातृदेवी की एक मूर्ति है जो लोहन्दा नाला में तृतीय ग्रैवेल से प्राप्त हुई थी द्रष्टव्य, राधाकान्त वर्मा भारतीय प्रागैतिहासिक सस्कृतियाँ, पृ 224

२ प्राय: अब पुराविद् यह मानते हैं कि योरोप की भाति भारत में भी उच्च पूर्व पाषाणकाल का अस्तित्व था। देखिए राधाकान्त वर्मा भारतीय प्रागितिहास, भाग प्रथम, पृ ३१-३२

हुये हैं इस बात से भी अधिक यह तथ्य कि भारत के लघु पाषाण उद्योग सम्भवत पश्चिम से नये लोगों के आगमन का प्रतिनिधित्व करते हैं उन्हें पूर्वगामी संस्कृतियों की अपेक्षा अपनी अनुगामी संस्कृतियों के अधिक निकट लाता है।

इस युग के उद्योग वस्तुत मनुष्य की अधिक विकसित होती हुई मानसिक शक्ति का आभास देते हैं । इस काल में निर्मित लघु उपकरण आकार में छोटे होने पर भी अधिक उपयोगी एव घातक थे। सम्भत मानव जीवन की सुविधा में वृद्धि के साथ–साथ इस युग में जनसख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुयी। अचानक अधिक सख्या में पाये जाने वाले आवास स्थल तथा उद्योग स्थलों से इस बात की पुष्टि होती है। इन उपकरणों का निर्माण उच्च पूर्व पाषाणिक ब्लेड परम्परा के विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित था। भारत के विभिन्न क्षेत्रों से यह विशिष्ट औजार पाये गये हैं । इन स्थानों में उत्तर प्रदेश में विंध्यक्षेत्र (मोरहना पहाड बघही खोर आदि) एव गगा घाटी (सराय नहर राय) (चित्र २ ३) बगाल में बीरभानपुर तमिलनाडु में टेरी उद्योग गुजरात में लघनाज मध्यप्रदेश में आदमगढ और राजस्थान में बागोर (भीलवाडा जिला) की गणना की जा सकती है।

मिर्जापुर बनारस तथा इलाहाबाद में अनेक आवासों पर ऐसे उद्योग मिले हैं जिन्हें न तो ब्लेड ब्यूरिन उद्योग के साथ रख सकते हैं और न वे लघु पाषाण उद्योग के साथ ही जाते हैं। इन उद्योगों के उपकरणों के अध्ययन में ब्लेड तत्व की प्रधानता एव क्रमश लघुतर होने की प्रवृति भी दृष्टिगत होती है। उनको देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तर पाषाण काल के लघु पाषाण उद्योगों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई। लघु पाषाण उपकरणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है अ ज्यामितिक उपकरण तथा ज्यामितिक उपकरण। उक्त पाषाण उपकरणों के विकास की प्रक्रिया के विश्लेषण के आधार पर प्रथम कोटि के उपकरणों को पूर्वगामी तथा द्वितीय को उनका अनुगामी माना जाता है। त्रिभुज समलम्ब चतुर्भज (ट्रापेज) अनुप्रस्थ बाणाग्र (ट्रासवर्स एरो हेड) आदि ज्यामितिक प्रकार के उपकरणों का विकास बाद में हुआ।

मध्य पाषाण युगीन इन लघु प्रस्तर उपकरणों के निर्माण में जिन मूल्यवान प्रस्तर प्रकारों का उपयोग किया गया है उनमें इन्द्रगोप (कार्नेलियन) गोमेद (अगेट) चकमक (फ्लिण्ट) स्फटिक (क्वार्टज) आदि की गणना की जा सकती है। गोदावरी के निचले प्रदेश तथा गुजरात की नर्मदाघाटी से यह उपकरण प्राप्त हुये हैं। इनमें खुरचनी (स्क्रेपर) तिकोने फलक (ट्रि एगूलर ब्लेड) खाचेदार (नाच्ड) अथवा साधारण चाकू जैसे फलक मुख्यत सम्मिलित हैं। सम्भत इन चकमकी फलकों को बाण के सिरे पर फसाया जाता था अथवा किसी हत्थे में लगा कर काम में लाया जाता था। इन अगुष्ठनुमा लघु औजारों के प्राप्ति स्थल से कहीं कहीं मिट्टी के भोंडे बर्तन भी प्राप्त हुये हैं । वस्तुत यह लघु पाषाण सस्कृतियाँ भारत में नवपाषाण युग की परम्परा में पाषाण परशु तथा मृदभाण्ड निर्मित करने वाले समुदायों के साथ दीर्घकाल तक जीवित रहीं। ब्रह्मगिरि नामक स्थान में मध्यपाषाण तथा नव पाषाण युग की सस्कृति का सिलसिला प्रारम्भिक एतिहासिक युग के साथ मिला हुआ है। यद्यपि लघु पाषाण उद्योग की तिथि निर्धारण का कार्य नितान्त जटिल है तथापि उक्त उद्योग के निर्माताओं की कलात्मक अभिरुचि तथा क्षमता का आकललन इन लघु उपकरणों के आधार पर किया जा सकता है। लघु पाषाण उद्योग की प्रारम्भिक तिथि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कम से कम 6000 ई पूर्व तथा अन्तिम तिथि 1500 ई पूर्व के लगभग निर्धारित की जा सकती है।

था। नव पाषाणयुग निश्चित ही सास्कृतिक एव तकनीकी प्रगति के प्रतीक के रूप में भी उल्लेखनीय है। यह स्थिति कदाचित सामुदायिक जीवन के अस्तित्व की ओर सकेत करती है। सम्पति के विचार से युद्ध और शाति की समस्याएँ भी उठ खडी हुयी ।

यह उल्लेखनीय है कि नव पाषाणयुग के उपरोक्त चार में से तीन लक्षणों का अस्तित्व किसी न किसी रूप में मध्य पाषाण काल में था। मात्र घिसकर प्रस्तर उपकरण निर्माण के प्रमाण इस युग में नही मिलते हैं। यद्यपि मध्य पाषाण युगीन मानव द्वारा कृषि कर्म के उदाहरण कही प्रकाश में नही आये किन्तु सिल लोढे जिनका उपयोग अनाज को पीसने हेतु किया जाता होगा सम्बद्ध स्थलों से प्राप्त हुय हैं। गुजरात में लघनाज से कुछ पालतू सरीखे पशुओं के अस्थि अवशेष प्रकाशित हुये हैं। मध्यप्रदेश में आदमगद के मध्य पाषाण युगीन लोग पालतू जानवरों से परिचित थे। अत यह नहीं कहा जा सकता है कि पशु पालन का चलन नवपाषाण युग की एक आकस्मिक घटना थी। इसी प्रकार मृद्भाण्ड निर्माण की कला का प्रादुर्भाव नवपाषाण युग से पहले ही हो चुका था। लघनाज (गुजरात), बागोर (राजस्थान) बघही खोर (विन्ध्य क्षेत्र उ.प्र) आदि स्थानों से प्राप्त पुरावशेषों से इस बात की पुष्टि होती है। अन्तत उक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पशुपालन खेती तथा मिट्टी के बर्तन निर्माण की कला के विकास से नवपाषाण युग में जो आमूल परिवर्तन हुये उनका बीजारोपण मध्यपाषाण युग में होने लगा था। निसन्देह उनका अच्छा विकास नव पाषाण काल में हुआ।

नव पाषाण युगीन उपकरण भारत के जिन विभिन्न भू भागों से प्राप्त हुये हैं उनका वीडी कृष्णास्वामी बीके थापर अलचिन आदि विद्वानों ने उपलब्धि स्थलों के आधार पर अनेक भागों में वर्गीकरण किया है। नवपाषाण युगीन मानव सस्कृति के अवशेष कश्मीर (बुर्जहोम) बलूचिस्तान स्वात उपरी सिन्धु घाटी (किले घुल मोहम्मद घलीगई मेहरगढ) गगा घाटी के दक्षिण में विन्ध्य क्षेत्र (कोलडिहवा महगडा पचोह आदि) बिहार के सारन जिले (चिराद) छोटा नागपुर पठार उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले बिहार उडीसा तथा पश्चिमी बगाल असम चित्तगाग दार्जिलिंग तथा दक्षिणी भारत (ब्रह्मगिरि नागर्जुनी कोण्ड मास्की सगनकल्लू, उतनूर टी नरसीपुर कुपगल सिंगनपल्ली आदि) से प्राप्त हुये हैं।

नवपाषाण युग की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है घिसकर चिकने किये हुये पत्थर के औजारों का निर्माण एव उपयोग। प्रस्तर उपकरणों के निर्माण की यह एक नई तकनीक थी। इन्हें घृष्ट उपकरण (ग्राउण्ड टूल्स) भी कहा जाता है। पूर्वपापाणिक मानव जिस तरह पेबुल से बने हुये बडे एव भोंडे हथियार प्रयोग में लाता था और मध्यपाषाणिक मानव मूल्यवान पत्थरों से बने लघु आकार के उपकरण उसी प्रकार नव पाषाणिक मानव पत्थर को घिसकर चमकदार उपकरण अपने उपयोगार्थ निर्मित करता था। ऐसा लगता है कि नवपाषाणिक मानव पत्थर के घृष्ट उपकरणों के अतिरिक्त हड्डियों से भी औजार बनाता था। बुर्जहोम से प्राप्त हड्डियों से निर्मित छिद्रक (बोरर) शर (पॉइण्ट) सुईयाँ (नीडल्स) इस बात की पुष्टि करती हैं। घुल मोहम्मद महगडा चिराद आदि स्थलों से भी अस्थि निर्मित उपकरण प्राप्त हुये हैं। नव पाषाण युगीन विभिन्न स्थलों से उपलब्ध होने वाले उपकरणों में घर्षित तकनीक से पाषाण निर्मित कुल्हाडी बसुली (एडजे) खोदने की लकडी (डिगिंग स्टिक) चाकू गदाशीर्ष (मेस हेड) कुदाल (हो) छेन्यान्त कुल्हाडी (पिक एक्स) छेनी (चीजिल) आदि की गणना मुख्यत की जा सकती है (चित्र – 4)। इस युग में पाषाणिक घृष्ट उपकरणों के साथ साथ कहीं-कहीं पर मध्यपाषाण

नव पाषाण उपकरण

1 घर्षित कुल्हाड़ी (गोलाकार)

2. खांचेदार कुल्हाड़ी

3 बसुली

4. वृत्ताश्म अथवा गदाशीर्ष

5. दण्ड छेनी

6. छेन्यान्त कुल्हाड़ी

चित्र—4
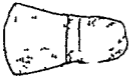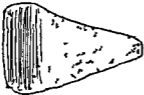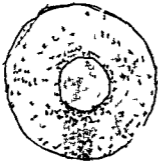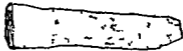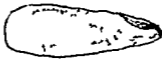
युगीन लघु पाषाण उपकरण भी प्राप्त होते हैं। कश्मीर घाटी के बुर्जहोम की द्वितीय अवस्था के उल्लेखनीय उपकरणों में ताबे के बाणाग्र की गणना की जा सकती है जो उनके धातु सम्पर्क की सूचना देता हे।

इस काल के मानव द्वारा घर की दीवारों को मिट्टी व ईटों से निर्मित करने तथा फर्श पर प्लास्टर करके गेरू पोतन के सकेत भी मिले हैं। चाक पर निर्मित ब्लैक बर्निश्ड पॉटरी का भी श्रीगणेश इसी काल मे होता है। दक्षिणी भारत के अनेक स्थलों से पीले भूरे रग (पेल ग्रे वेयर) तथा भूरा या काले रग की मिट्टी की हस्त निर्मित पॉटरी प्राप्त हुई है। वर्तनों की लाल सतह पर भूरे व बैगनी रग के रैखिक चित्र भी मिले हैं। यहाँ से स्टिटाइट क मनके व ब्लेड प्रधान लघु पाषाण उपकरण भी प्राप्त हुये हैं। गगा घाटी के दक्षिण में विन्ध्य क्षेत्र में विस्तृत पाषाणयुगीन सस्कृति के अन्तर्गत हाथ से निर्मित होने वाली पॉटरी में धान की भूसी का सालन क (डिग्रेसेंट) रूप में प्रयोग होता था। यहाँ धान की खेती होती थी। कोलडिहवा में धान की दो कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं। 5440+240 ई पूर्व तथा 4530+185 ई पूर्व यह दो भारत में प्राप्त धान की प्राचीनतम तिथियाँ हैं। सम्भवत विश्व में धान की खेती के यह प्राचीनतम प्रमाण हैं। नव पाषाणिक मानव की कलात्मक रूचि को व्यक्त करने वाले उपकरणा में महग पत्थरों से बने मनकों (बीडस) लटकन (पेन्डेन्ट) हड्डियों की चूडियों तथा पशु पक्षी तथा नाग की मृण्मूर्तिया की गणना की जा सकती हे जा बिहार के सारन जिले में चिराद से प्राप्त हुये हैं। नव पाषाण युग में धातुओं में ताबे के साथ मानव का परिचय स्थापित हो चुका था। धीरे धीरे उसन धातुओं के औजार बनाने के साथ साथ चाक पर बर्तन बनाने की कला भी सीख ली।

महाश्म (मगालिथ्स) सरचनाएँ—मानव द्वारा जिन तमाम क्रियाओं का सम्पादन वर्तमान जीवन को सुव्यवस्थित एव सुनियोजित करने तथा जीवनेतर जीवन का लक्ष्य कर किया जाता है उनमें अन्त्येष्टि या शवाधान क्रिया उल्लेखनीय है। यह क्रिया प्रागैतिहासिक काल से ही प्राय सभी देशों क मानव द्वारा किसी न किसी रूप म सम्पन्न होती रही है। मरणोपरान्त जीवन में आस्था पारलौकिक जीवन में वर्तमान जीवन के भौतिक पदार्थों की आवश्यकता पुनर्जन्म आदि धार्मिक एव दार्शनिक प्रश्न मानव के लिए विचारणीय बने रहे। इस चिन्तन के परिणामस्वरूप सास्कृतिक विकास के विभिन्न कालों म मानव न अपने मृत सम्बन्धियों के शवों का विसर्जन विविध प्रकार से किया दफ़नाकर जलाकर या जल में प्रवाहित करके। प्राचीन शवधियाँ (बरियल्स) मानव के मरणोत्तर अस्तित्व में आस्था की आर सकेत करती हैं। शवाधान की प्रक्रिया विश्वजनीन है। प्राचीन मिश्र एव चीन में ऐसी राजकीय शवधियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें राजा क साथ उसकी रानियाँ दास नौकर रथ घोडे पालतू पशु तथा सासारिक भोग की विविध मामग्री दफ़ना दी गई थी। इस प्रकार की शवधि भारत में अभी तक नही मिली। महाश्म वस्तुत साधारण जनों के पिरामिड कहे जा सकते हैं। असम और उडीसा की आधुनिक जनजातियों में आज भी महाश्म शवधि की निर्माण परम्परा विद्यमान है। जनजातियों की यह आस्था ही कि मृत आत्मा में उनका भला बुरा करने की क्षमता है सम्भवत शवधि की उक्त परम्परा को बनाये रखने में प्रेरक रही हो।

भारत के विभिन्न भू भागों से शवधिया प्राप्त होती हैं। ताम्राश्म (चेल्कोलिथिक) सस्कृतियों में मध्य दक्षिण और सुदूर दक्षिण का क्षेत्र इस दृष्टि से उल्लखनीय है। पाषाण निर्मित शवधियाँ ब्रह्मगिरि सघ्नकल्लु, मास्की आदि स्थलों के अतिरिक्त तमिलनाडु आन्ध्र केरल तथा कर्नाटक प्रान्त के विस्तृत

क्षेत्र मे प्राप्त हो चुकी हैं। उत्तर भारत में भी यह महापाषाण शवधिया प्राप्त हो चुकी हैं । राजस्थान में दौसा व बागौर तथा उत्तर प्रदेश में बेलन घाटी के उत्खनन से भी लौहयुगीन महापाषाण शवधियाँ प्रकाश में आई थी । महाश्म शब्द मेगॉस और लिथॉम शब्दों (जिनका क्रमश अर्थ है बडा और पत्थर) के याग से बने मगालिथ शब्द का हिन्दी रुपान्तर है। महाश्म वह स्थापत्य सरचना है जिसका सम्बन्ध अन्त्येष्टि स्मारक अन्त्यष्टि अथवा तत्सम्बन्धी किसी धार्मिक कर्मकाण्ड से है। कालक्रम की दृष्टि से इन्हें दो भागों में रखा जा सकता है प्रागैतिहासिक महाश्म तथा जनजातियों के महाश्म। द्वितीय श्रेणी क महाश्म आज भी मध्य प्रदेश उडीसा तथा आसाम की जनजातियों में प्रचलित हैं। विन्ध्य पर्वत श्रेणियों में बिखरे हुए महाश्म अधिकाशत मानव अवशेष रहित हैं । महाराष्ट्र में उत्खनित कतिपय महाश्मों को उत्खननकर्ताओं न रहने के स्थान माना है न कि शवधि।

महाश्मा के सरचनात्मक भेद— दक्षिण भारत में तमिलनाडु में कुर्त्तनूर सनूल तथा पैयम पल्लि आन्ध्र प्रदेश में येलेश्वर कोचपट एव पड्डवकुर कर्नाटक में ब्रह्मगिरि मास्की जडमेन हल्लि आदि स्थलों में उत्खनन कार्य सम्पन्न हुये थे। महाश्मों को अनेक तथ्यों के आधार पर सरचात्मक प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है।

१. डालमनायड सिस्ट यह एक पाषाणनिर्मित टेबलनुमा सन्दूक प्रकार की कब्र है। यह एक ऐसी वास्तु सरचना है जिसमें ग्रेनाइट के चार बडे बडे टुकडों को जमीन पर सीधा खडा कर उनके उपर इकहरा या दुहरा प्रस्तर रख दिया जाता था। कभी कभी इस पत्थर के नीचे पूर्व की ओर एक आला या मुख बनाया जाता था। इसका उपयाग सिस्ट के भीतर अवशेष या अन्य सामग्री डालने क लिए होता था। इसके उपर एक कब्र या कयर्न बनाया जाता था। यह व्यवस्था सभी सिस्टों में नही पायी जाती। इनके भीतर मिट्टी की शव पेटिकाएँ तथा उनमें मानव अस्थियाँ लोहे के उपकरण तथा विशेष प्रकार के काल व लाल मिट्टी के बर्तन भी रख हुये मिलते हैं ।

2 पटियासिस्ट (स्लब्ड सिस्ट) यह अनगढ या गढे हुए ग्रेनाइट या लेटराइट की चार आयताकार शिलापटिकाओं को आधा भूमि में गाढ कर बनाई गई सन्दूकनुमा सरचना है जिसकी पूर्वी दावार में 2 फुट व्यास वाला एक आला बनाया जाता है जिसे शिला पटिका से बन्द कर दिया जाता था। इसके भीतर लौह उपकरण व पॉटरी के साथ अस्थिया मिली है। कर्नाटक के ब्रह्मगिरि में इस प्रकार के महाश्म पर्याप्त मिले हैं।

3 छत्र प्रस्तर (अम्ब्रला स्टान) इन शवधियों की बाह्याकृति छाते नुमा हाने के कारण इसे छत्र प्रस्तर नाम दिया गया है। इस तरह की वास्तु रचनाएँ केरल प्रान्त के कोच्चिन में विशषत पाई गई हैं । इनमें लगभग 4 फुट ऊँचाई की उपर की ओर पतली होती हुई शुण्डाकार लेटराइट पत्थर की पटियों का भीतर को ओर झुका कर खडा किया जाता था। इनके शीर्ष पर गुम्बदाकार आवरण प्रस्तर रखा जाता था।

4 हुडस्टोन इन शवधियों में छत्र प्रस्तर प्रकार की भाति नीचे आधार स्तम्भ नही होते। ग्रेनाइट के गुम्बदनुमा आवरण पत्थरों के नीचे गर्त शवधियाँ मिलती हैं । केरल के कोच्चिन स्थल से हुड स्टान शवधियाँ प्राप्त हुई हैं।

5 मल्टिपल हुड स्टान इस प्रकार की शवधियों में 5 से 12 तक शुण्डाकार लटराइट पत्थरों

की पटियों को भातर की ओर इस प्रकार झुका कर खडा किया जाता था कि उनसे एक वृत्त की आकृति बन जाती थी। इसक उपर आवरण प्रस्तर होता था अथवा नहीं, नही कहा जा सकता। इसके भीतर भी गर्त शवधियों के प्रमाण मिल हैं।

6 उथली गर्त शवधि (शैलो पिट बरियल) कुर्त्तनूर की उथली गर्त शवधि स मिट्टी की शव पेटिका अस्थिया लोहे के कगन आदि प्राप्त हुये थे। कोच्चिन के निकट पार कल्लॉम नामक स्थान से भी एक ऐसा गर्त मिल चुका है। इस प्रकार की शवधि में प्राय 12 फुट या उससे कम व्यास के प्रस्तरखण्ड वृत्त के भीतर एक गढा खादकर कलश या मिट्टी का आधार स्तम्भ युक्त शव पटिका (लेग्ड सर्कोफेगिस) में शवाधान की क्रिया की जाती थी। यह निसन्देह लौहयुगीन शवधियाँ हैं।

7 गहन गर्त शवधि (डीप पिट बरियल) मुख्यत कर्नाटक के मास्की तथा ब्रह्मगिरि नामक स्थानों स प्राप्त होने वाली यह शवधियाँ भिन्न प्रकार की हैं। इनका निर्माण प्रस्तर वृत्त क भीतर लगभग 8 फुट गर्त खोदकर होता था। कहीं-कहीं गर्त क फर्श पर चार शिला पटिकाएँ रखी जाती थी। यहाँ स भी अन्य स्थलों की भाति ही उपकरण मिलते हैं।

8 दीर्घाश्म स्तम्भ (मनहिर) यह महाश्मयुगीन स्मारक स्तम्भ हैं जो शवधियों के समीप या उनके उपर खडे किय जाते थे। यह 3 से 25 फुट तक ऊँच हाते थे। मास्की म इनकी लम्बी पंक्ति मिला है। केरल में भी यह पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। कर्नाटक में शवधियाँ प्राप्त नहीं होता। दीघाश्म वस्तुत मृतात्मा के प्रति परिवार की श्रद्धा क प्रतीक स्मारक थे।

9 शवधि गुफाएँ (बरियल केव्स) करल प्रान्त में पहाडों का तलहटी में लेटराइट की शिलाओं को काटकर वृत्ताकार अथवा आयताकार तलछन्द (ग्राउण्ड प्लान) योजना का गुफाएँ बनायी जाती थां। इनकी छत गुम्बदाकार हैं। इस प्रकार की सरचना में सर्वप्रथम एक गर्त उत्खनित किया जाता था जिसमें उतरने के लिए सोपान बनाये जाते थे। लगभग डेड फुट ऊँचा द्वार एक अथवा अनेक दिशाओं में खोदकर बनाया जाता था। इन द्वारों क पीछे गुफाएँ खादी जाती थी जो शवाधान के लिए प्रयुक्त हाती थी।

महाश्मों की तिथि एव उनक निर्माताओं की पहचान पुराविदों के लिए विवाद का विषय है। प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने इन्हें प्रथम शती ई पूर्व में रखा था। ब्रह्मगिरि व मास्की क महाश्मों की तिथि ह्वीलर महादय ने 200-300 ई पूर्व सुझाई था। कार्बन 14 तिथि लगभग 800 से 1100 ई पूर्व सुझाई गई है। स्थूलत इन्हें लौहयुगीन स्मारक माना जाता है। साधारणत उत्तर भारत में लोहे का प्रयोग आर्यों क आगमन एव विस्तार के साथ ही आरम्भ हुआ माना जाता है। कुछ पुरातत्ववेत्ताओं न भारतीय महाश्म निर्माण की परम्परा की अफ्रीका यूरोप ईरान पश्चिमी एशिया आदि क्षेत्रों में निर्मित समान शवधियों की परम्परा से तुलना के आधार पर इसका जन्म अफ्रीका में तृतीय चतुर्थ सहस्राब्दी में माना है। कुछ विद्वान इनके निर्माण की परम्परा को नितान्त स्वदेशी परम्परा मानते हैं। कुछ भी हो महाश्म मानव द्वारा पत्थर की सहायता से भवन की सरचना के प्रारम्भिक प्रयास के प्रतिनिधि स्मारक माने जा सकते हैं।

ताम्रनिधि तथा गैरिक पॉटरी (कॉपर होड तथा ओ सी पी) — पुरातन काल में भारतीय मानव का कलात्मक क्षमता एव कुशलता का परिचय देने वाली सामग्री में ताम्रनिर्मित उपकरणों क समूहों

तथा गैरिक रगी पॅटरी का अपना विशिष्ट स्थान है। यह उपकरण मध्य प्रदेश 'बिहार तथा उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थलों से प्रकाश में आये हैं। ताम्रनिधि का खोज से सम्बन्धित विद्वानों में वेन्सेन्ट स्मिथ हीरानन्द शास्त्री सी ब्राउन ए कैम्पबेल एच सी राय प्रभृति की गणना की जा सकती है। ताम्रनिधि सस्कृति के उद्गम स्थल तथा निर्माताओं के सम्बन्ध में महाश्म सस्कृति की भाति ही विद्वानों में मतभेद है। गेल्डनर ताम्र उपकरणों को इण्डो आर्यन लोगों के स्थानान्तरण से सम्बन्धित मानते हैं। उनकी धारणा में वैदिक आर्यजनों ने ही उक्त ताबे के उपकरणों का आविष्कार एव उपयोग किया था। स्टुअर्ट पिगट के अनुसार ताम्र उपकरणों के क्षेत्र पर दृष्टिपात करने से आर्यों के भारत आगमन का अन्दाजा लगाया जा सकता है। आगे वह इन उपकरणों को उन लोगों की उपनिवेशवादी प्रवृत्ति का परिचायक मानता है जो सैन्धव नगरवासियों को निर्मूल करने के लिए उत्तरदाई माने जाते हैं।

ताम्रनिधि को साधारणत गगाघाटी के ताम्र उपकरण नाम स भी सम्बोधित किया जाता है। गगा घाटी के प्रमुख ताम्र उपकरणों में (1) चपटी कुल्हाडी (फ्लेट सल्ट) (2) कन्धे दार फरसेनुमा कुल्हाडी (शुल्डर्ड सल्ट) (3) हत्थेदार कुल्हाडी (बार सेल्ट) (4) ताबे की अगूठी (कॉपररिंग) (5) काटदार बर्छेनुमा उपकरण (हार्पून) (6) एन्टिने सोर्ड तथा (7) मानवाकृति उपकरण (एन्थ्रोपोमॉर्फिक फिगर) की गणना की जाती है (चित्र –5) । चपटी कुल्हाडी का कार्यांग (वर्किंग ऐज) अर्द्धचन्द्राकार होता है। यह आयताकार कुल्हाडी हडप्पा व नासिक के पास जोर्वे से भी प्राप्त हुई थी। कन्धेदार फरसेनुमा कुल्हाडी बिहार उडीसा व पश्चिमी बगाल से प्राप्त हुई हैं इस विशिष्ट कुल्हाडी का कार्यांग घुमावदार होता है। हत्थेदार कुल्हाडी की लम्बाई उसकी चौडाई के अनुपात में अधिक होती है। इसका कार्यांग भी चपटी कुल्हाडी की भाति ही अर्द्धचन्द्राकार होता है। यह मुख्यत बिहार उत्तरी उडीसा व पश्चिमी बगाल से प्राप्त होते हैं। ताबे की अगूठी ताबे की पत्ती को मोडकर बनाई जाती थी। सिन्धु घाटी स यह उपलब्ध नहीं होती। काटेदार बर्छेनुमा ताम्र उपकरण जिसे हार्पून कहा जाता है में दोनो किनारों पर पीछे की ओर मुडी हुई नोक और रस्सी बाधने के लिए एक गाठ या लूप बना होता है। बी बी लाल के अनुसार मिर्जापुर के गुहाचित्रों में गेंडे का शिकार करते पाषाण युगीन मानवों के हाथ में हार्पून से मिलते जुलत उपकरण से युक्त लट्ठ अकित किया गया है। एन्टिने सोर्ड को बीच के एक एन्टिने या मूठ द्वारा विभाजित हान के कारण उक्त नाम से पुकारा जाता है। गगा घाटी के अतिरिक्त यह तलवारें आन्ध्र प्रदेश से भी प्राप्त हो चुकी हैं। ताम्रनिधि की सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धि मानवाकृति उपकरण है जो मात्र गगा घाटी में ही पाये जाते हैं। बी बी लाल के विचार में यह विशिष्ट उपकरण विश्व में अन्यत्र कही से भी नहीं प्राप्त हुआ। यह उपकरण एक ऐसे मानव की आकृति की ओर सकेत करता है जिसके दोनों हाथ उपर की ओर मुडे हुए हैं और पैर फैले हुए हैं। यह उपकरण निर्माताओं की कलात्मक अभिरुचि का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही धातु से पिघलाकर साचे में उपकरण निर्माण की कला में उनकी दक्षता पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

ताम्रनिधि उपकरणों के साथ गैरिकवर्णी अथवा गेरूए रग की एक विशेष प्रकार की पॉटरी भी उत्खनन में प्रकाश में आइ है। इसे ओकर कलर्ड पॉटरी (ओ सी पी) कहा जाता है। बी बी लाल ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश में बिजनौर और बदायू जिलों में हुए उत्खनन के आधार पर ताम्रनिधि की समस्या पर नया प्रकाश डाला। उन्हें वहाँ से गैरिक पॉटरी के कुछ नमूने प्राप्त हुए थे। इसके अतिरिक्त इटावा जिले में सैपइ में किए गये उत्खनन में ताम्रनिधि के साथ गैरिक पाटरी भी प्राप्त हुई है। बी बी

चित्र—5 ताम्रनिधि (कॉपर होर्ड)
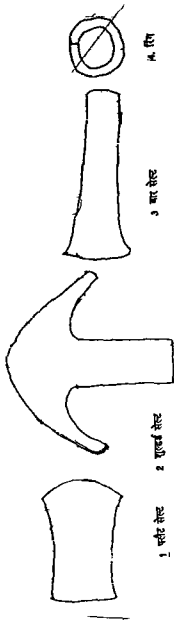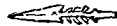
लाल ने इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि ताम्रनिधि एव गैरिक पॉटरी में एक निश्चित सम्ब ध है। यदि दोनों के मध्य सम्बन्ध वाले उक्त मत को स्वीकार किया जाय तो इसका अर्थ होगा कि इनका निर्माण उन लोगों द्वारा हुआ था जो आर्यों के आगमन के पूर्व गगा घाटी में रहते थे। अपने मत की पुष्टि के लिए लाल महोदय ने मध्य प्रदेश उत्तरी उडीसा पश्चिमी बगाल एव दक्षिणी बिहार से उपलब्ध होने वाली पाषाण कुल्हाडियों का उदाहरण प्रस्तुत किया है जिनसे पश्चात काल में ताम्र कुल्हाडियाँ विकसित हुई थी। इसी तरह उन्होंने मिर्जापुर की पाषाणिक गुहाओं के चित्रों में प्रयुक्त उपकरण को हार्पून का प्रेरक बताया। उनके विचार में कभी इन प्रदेशों में प्रोटो आस्ट्रोलिद प्रजातियों का निवास था। सम्भवत सन्थाल एव मुण्डा जातियों के पूर्वज इन ताम्र उपकरण समूहों के निर्माता थे।

ताम्रनिधि सस्कृति सम्भवत द्वितीय सहस्राब्दी में अस्तित्व में आ चुकी थी। ओसीपी के कुछ नमूने प्रोफेसर नूरूल हसन को लालकिले अतरञ्जी खेडा झिन्झाना व नसीरपुर में प्राप्त हुए थे। इनकी तिथियाँ वैज्ञानिक परीक्षण के पश्चात् 1250 से 2280 ई० पूर्व के मध्य सुझाई गई। विभिन्न तिथियों क प्रकाश में स्थूलत कहा जा सकता है कि गैरिक वर्णी पॉटरी व ताम्रनिधि से सम्बद्ध सस्कृतियाँ 2000 से 1580 ई०पूर्व के मध्य अस्तित्व में आचुकी थीं। गैरिक वर्णी पॉटरी चित्रित भूरे मृद्भाण्ड (पी०जी० डब्ल्यू) की अग्रगामी पॉटरी प्रतीत होती है।

डी०पी० अग्रवाल ने ताम्रनिधि उपकरणों को दो निम्नप्रकारों में विभाजित किया है— प्लेट्यू क्षेत्र जिसके अतर्गत साधारण प्रकार के उपकरण सम्मिलित हैं तथा दोआब क्षेत्र—जिसके अन्तर्गत मानवाकृति तथा एन्टिने सोर्ड जैसे विकसित उपकरण सम्मिलित हैं। उनके अनुसार हडप्पा सस्कृति व ताम्रनिधि सस्कृति दोनों एक दूसरे से पृथक सस्कृतियाँ हैं। ताबे के उपकरण आखेटीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्मित होते थे। सम्भवत प्लेट्यू क्षेत्र के उपकरण दोआब क्षेत्र के विकसित उपकरणो के पूर्वगामी उपकरण थे। यह उल्लेखनीय है कि गैरिक वर्णी पॉटरी ताम्रनिधि के साथ पूर्वी प्लेट्यू क्षेत्र में उपलब्ध नहीं होती। यदि दोनों सस्कृतियों के निर्माता एक थे तो गेरूए रग के मृद्भाण्डों का ताम्रनिधि के साथ पूर्वी प्लेट्यू क्षेत्रों से भी मिलना चाहिए था। रोपड के अपवाद के अतिरिक्त दोआब क्षेत्र म भी दोनों एक ही स्तर में नहीं मिलते। कुछ विद्वान इन्हें दो अलग-अलग लोगों की सस्कृतियाँ मानते हैं। गैरिक वर्णी पॉटरी के निर्माता परवर्ती हडप्पा सस्कृति से सम्बन्धित लोग थे और मुख्यतया पजाब पश्चिमी उत्तरप्रदेश और राजस्थान में रहते थे। ताम्रनिधि भारतीय प्राग इतिहास में एक विशेष परम्परा है। सम्भवत यह पूर्वी भारत के मूलनिवासियों के उपकरणों का प्रतिनिधित्व करती है जो मूलत पूर्वी बिहार पश्चिमी बगाल और उडीसा में रहते थे।

अन्तत कहा जा सकता है कि गेरूए रग के मृद्भाण्डों की परम्परा के पोषक लोग पजाब पश्चिमी उत्तरप्रदेश और राजस्थान के निवासी थे। इनके प्रमुख मृद्भाण्ड घडे अनाज रखने वाले मर्तबान प्यालिया थालिया कटोरिया आदि थे। सम्भवत यह लोग गगा घाटी के मूलनिवासी थे। इन्हें अग्रवाल महोदय ने परवर्ती हडप्पीय लोग कहा है। गेरूए रग के मृद्भाण्डों के निकट ताम्र निर्मित वे उपकरण मिलते हैं जिन्हें ताम्रनिधि कहा जाता है। यह उपकरण पश्चिमी उत्तर प्रदेश राजस्थान के अतिरिक्त सुदूर पूर्वी भारत में मिलते हैं। ऐसा लगता है कि ताम्रनिधि का उद्भव पूर्वी भारत में हुआ। इस प्रकार के विशिष्ट उपकरणों का प्रसार धीरे धीरे पूर्व से पश्चिमी भारत की ओर हुआ जहां वे गेरूए रग के मृद्भाण्डों के सम्पर्क में आये। दोनों के मध्य अन्तर बना रहा। ताम्रनिधि के

चित्र—6
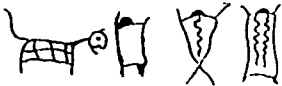
चित्र—7

चित्र—8

पोषक लोग मूलत: आखेटक अवस्था में थे। खाद्य सामग्री सग्रहक थे। इसके विपरीत गेरूए रग के मृद्भाण्ड निर्माता एक सुसस्कृत जीवन व्यतीत करते थे। कृषि-कर्म करते थे। यह लोग आर्थिक दृष्टि से पूर्णत: व्यवस्थित थे। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में यह दोनों सस्कृतियाँ साथ साथ रहती थीं। सेपइ में दोनों के भौतिक अवशेष एक स्तर में प्राप्त हुए हैं। मात्र इस आधार पर इनके सह निवास और एक दूसरे में विलय जैसी सभावनाओं को अभी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता।

पाषाण युगीन चित्रकला— भारतीय कला का इतिहास लगभग उतना ही पुरातन है जितना मानव के विकास का। मानव की सृजनात्मक प्रवृत्ति उसे अन्य जीवधारियों से विलग करती है। वह पाषाणयुग से ही निरन्तर अपने उन्नयन के लिए तथा अपने आस पास के वातावरण को अधिकाधिक अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। प्रारम्भ में वह बड़े-बड़े पेबुल्स से अपने उपयोगार्थ पत्थर के औजार बनाता था। धीरे धीरे उन उपकरणों में पर्याप्त सुधार हुआ। उन्हें उसने रगड कर चमकाने तथा अधिक कलात्मक बनाने में सफलता पाई। उपरलों से निर्मित लघुपाषाण उपकरण उसकी उत्कृष्ट कलात्मक अभिरूचि की ओर सकेत करते हैं। उसके द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार के पाषाणोपकरण मानव के बुद्धिकौशल तथा हस्तकौशल के प्रतिनिधि स्मारक हैं।

पाषाणयुगीन मानव की कलात्मक गतिविधि का क्षेत्र मात्र विविध प्रकार के पाषाण उपकरणों के निर्माण तक सीमित नहीं था। वह अपने शिलाश्रयों में रैखिक चित्र भी बनाता था। आदिम मानव की रचनात्मक प्रतिभा के इस पक्ष का ज्ञान एक पुराविद् द्वारा 1879 ई० में स्पेन के अल्टामीरा की गुहाओं में प्रागैतिहासिक मानव द्वारा की गई चित्रकारी के प्रकाशन से हुआ। इस घटना से यह बात स्पष्ट हो गई कि पाषाणिक मानव अपने प्राकृतिक शिलाश्रयों की दीवारों पर आखेट दृश्यों तथा अन्य प्रसगों को अकित करते थे। आदिम मानव समाज के गुहा चित्रों में प्राय: तीन पक्षों का अकन मिलता है— आखेटकर्ता आखेट के लक्ष्य पशु तथा आखेट के लिए प्रयुक्त हथियार। इसके पश्चात् कृषि सभ्यता के आरम्भ होने के साथ बनने वाले चित्रों में वृक्षों, लताओं पत्तों तथा पुष्पों का अकन बहुलता से होने लगा। सभ्यता के विकास के साथ साथ चित्रकला का रूप निखरता गया। पाषाणयुगीन आखेटक मानव अब सवेदनशील स्नेहसिक्त करुणायुक्त एव सामाजिक मानव के रूप में चित्रित होने लगा। इसके साथ ही पालतू पशुओं का भी चित्रण किया जाने लगा। यद्यपि प्राकृतिक गुफाओं की दीवारों पर पाषाणिक मानव द्वारा की गई चित्रकारी कलात्मक दृष्टि से सुन्दर एव विकसित नहीं है तथापि भारतीय चित्रकारी को समझने के लिए उसकी उपादेयता कम नहीं है। इस काल की कला का स्वरूप साकेतिक है। आदिम मानव के शिलाश्रयों में प्राप्त होने वाले चित्रों से जिज्ञासु दृष्टा द्वारा उसकी सास्कृतिक स्थिति तथा उसके व्यवहार एव आदर्श का अनुमान लगाया जा सकता है। यह पाषाणिक चित्रशिल्प मानव की सघर्षयुक्त जीवन निर्वाह प्रणाली तथा उसके विपत्तिजनक दुस्साहसों की ओर सकेत करता है। यह चित्र मनुष्य के प्रारम्भिक धार्मिक विश्वासों की परिकल्पना भी कराते हैं। चित्र प्राय: निर्जन एव दुर्गम पहाडी स्थलों में मन्द प्रकाश में निर्मित किये गये थे। सम्भवत: अपने विरोधियों से पवित्र धार्मिक कर्मों की रक्षार्थ ऐसा किया गया।

यह चित्र मानव की रचनात्मक क्षमता को भी अभिव्यक्त करते हैं। ललित कला की भावना पाषाणयुगीन मानव में बीज रूप में विद्यमान थी। उस अन्तर्निहित भावना को मूर्तरूप देने के लिए अपेक्षित गत्यात्मक एव लयात्मक शक्तियों को उभारने का उसने कोई सजग प्रयास नहीं किया। कहा
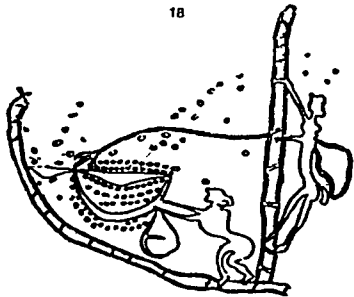
चित्र—9

चित्र—10

जा सकता है कि कल्पनायुक्त रोमाञ्चक एवं उन्नतिशील कला का उदय एवं विकास आदिम मानव द्वारा चित्रित कलारूपों से प्रेरित एवं प्रभावित हुआ। मानव की आरम्भ से अब तक की प्रगति का आकलन आदिम कला कृतियों को देखकर किया जा सकता है। भारत के अतिरिक्त चित्रांकित गुफाएँ पेरू अलास्का फ्रांस स्पेन दक्षिणी रोडेशिया आदि देशों से भी प्राप्त हो चुकी है। प्राय विद्वान इनको 50 000 से 10 000 वर्ष ई० पूर्व के मध्य रखते हैं। पाषाणिक मानव ने अपनी सास्कृतिक प्रगति कैसे की यह ज्ञात करने के लिए अब पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। प्रागैतिहासिक चित्रों का अध्ययन करने वाले विद्वानों में एलन हाटन ब्राड्रिक स्टुअर्ट पिगट, डी० एच० गोर्डन श्री तथा श्रीमती अल्चिन मनोरजन घोष आदि का नाम लिया जा सकता है।

आदिम कला कालान्तर में विकसित होने वाली उच्चकोटि की मानसिक सभ्यता को सदा प्रभावित करती रही है। बगाल में इतु पूजन, मनसापूजन तथा पुण्य पुखरव्रत सरीखी अनेक लोककला से सम्बन्धित धार्मिक कार्य पद्धतियाँ आदिम सभ्यता के अवशेष हैं। विशिष्ट उत्सवों के अवसर पर अल्पना' नामक विभिन्न प्रकार की रचना का उपयोग भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अब भी होता है। मिट्टी के कुछ पात्रों तीर कमान भाले आदि अत्यन्त पुरातन वस्तुओं के आकार फर्श पर चावल के लेप से आदिम रीति से बनाये जाते हैं। सभवत शैवों का त्रिशूल तथा वैष्णवों का त्रिपुण्ड नामक प्रतीक चिन्ह सिंहनपुर की गुहाचित्रकारी के अवशेष प्रतीत होते है।

पत्थर के विविध प्रकार के औजार हाथ से बने मिट्टी के बर्तन के अतिरिक्त पाषाणिक मानव द्वारा बनाये गये रैखिक चित्र भारत के विभिन्न प्रान्तों में स्थित गुफाओं की दीवारों में मिलते हैं। आदिमकला के उदाहरण विहार प्रान्त[3] के चक्रधरपुर, सिंहनपुर और होशगाबाद में मध्यप्रदेश के आदमगढ रायगढ में तथा मिर्जापुर के लिखुनिया कोहर भल्डरिया बादा जिले के मानिकपुर आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। प्रागैतिहासिक चित्र या तो शिलाओं में काटकर या सुअर की दर्बी द्वारा तरह-तरह के रग मिलाकर उन पर अकित किये गये हैं। उनके रग चमकदार एव सजीव हैं। पाषाणिक चित्रयुक्त कन्दराओं को स्थानीय भाषा में 'दरी' कहा जाता है। इन कन्दराओं की दीवारों पर लाल गेरू या हैमेटाइट पत्थर से बनाये गये रेखा चित्रों को लोकभाषा में रक्त की पुतरियाँ कहा जाता है।

सर्वाधिक चित्र मध्यप्रदेश में महादेव पहाडी के आस-पास मिलते है। यहाँ के चित्रों में मनुष्य व पशुओं की टोलीनुमा आकृतियाँ (जो लाल व पीले रग से बनी) मुख्यत सम्मिलित हैं (चित्र -6-8)। मानवों के हाथ में धनुष-बाण अकित हैं। यह लोग मुख्यत आखेट पर निर्भर थे। चित्रों से ऐसा इंगित होता है कि ये लोग धातु के बने नोकदार तीर प्रयोग में लाते थे (चित्र- 8)। जगली साड शेर, बाघ साभर व हाथी सम्भवत आखेट के लक्ष्य पशु थे। बास की सीढियों पर चढ कर पहाडियों से या पेडों से लटकते शहद के छत्तों से शहद भी यह निकालते थे (चित्र-9)। इसके पश्चात् विकास के अगले क्रम में शस्त्रधारी सैनिक तथा घुडसवार योद्धा धनुष-बाण और तलवार से युद्ध करते हुए चित्रित किये गये है (चित्र-10)। घरेलू जीवन से सम्बद्ध चित्रों में तार का बाजा बजाते मानव कन्द कूटकी सी नृत्य में रत नर-नारी आदि का उल्लेख किया जा सकता है। हस मोर आदि चिडिया एव

3. दक्षिणी बिहार में हजारी बाग से लगभग 42 किलोमीटर दूर इसको नामक वन जातीय ग्राम से हाल ही में भूरे रग के लगभग 100 फुट लम्बाई वाले पत्थर पर ताम्राश्म युगीन शैलचित्र प्राप्त हुए है। इन्हें 7000-5000 ई० पूर्व का माना गया है, इण्डियन एक्सप्रेस, 25.5.92
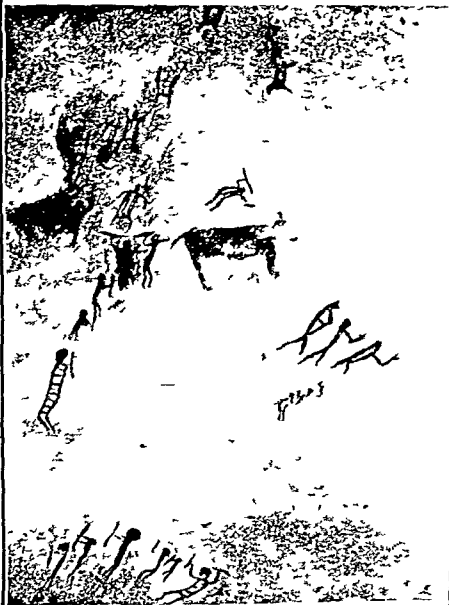
चित्र–11 गेरुए रंग से अंकित आखेट का एक दृश्य सिंगनपुर प्रागैतिहासिक पुरा पाषाण युग का अन्तिम भाग

चित्र–12 गेरुए रग से अंकित सींगोंवाला महिष होशगाबाद प्रागैतिहासिक पाषाण युग
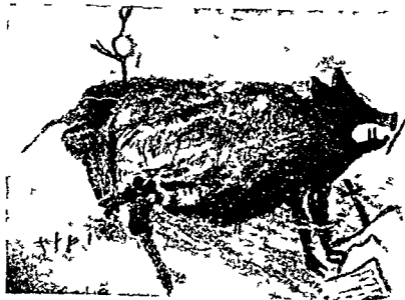
चित्र–13 गेरुए रग से अंकित आहत सअर मिर्जापुर–प्रागैतिहासिक नव पाषाण युग

सुअर कुत्ते बन्दर भालु आदि पशु भी चित्रित हैं। होशंगाबाद शहर से 2 1/2 मील दूर आदमगढ़ की चट्टानों में प्रागैतिहासिक चित्रों का एक अनुक्रम मिलता है । यहा के एक दृश्य में एक जनसमूह को घोड़ों पर बिना काठी के सवार दिखाया गया है। एक अन्य चित्र में काली पीठिका पर पीली मिट्टी से रगा हुआ एक बारहसिंघा अंकित है।

सिंहनपुर के शिलाचित्र राजगढ़ रियासत की राजधानी रायगढ़ से 11 मील की दूरी पर स्थित है। यह चित्र चट्टानों में काफी ऊचाई पर अंकित है (चित्र -11)। कुछ चित्र दीवारों पर खोदकर गढ़े गये हैं। कुछ चित्रों का निर्माण लाल एव पीली मिट्टी से रग कर किया गया है। हिरन जगला भैंसे (चित्र- 12) व छिपकली आदि की आकृतियाँ पर्याप्त मात्रा में चित्रित हैं । बादा जिले में मानिकपुर से प्राप्त चित्रों में तीर कमान युक्त घुड़सवार के अलावा बिना पहिए की गाडी में बैठे हुए व्यक्ति के चित्र का उल्लेख किया जा सकता है। मिर्जापुर जिले में लिखुनिया कोहर भल्डरिया आदि स्थानों से पाषाणयुगीन चित्र प्राप्त हुए हैं। मिर्जापुर के यह गुहाचित्र सोन नदी की घाटी में हैं। सोन नदी की घाटी में बने चित्र आखट एव नृत्य के चित्र हैं। यहाँ लिखुनिया दरी या गुफा में कुछ घुड़सवार पालतू हथिनी की सहायता से जगली हाथी को पकड़ते चित्रित किये गये हैं । घुड़सवारों के हाथ में लम्बे भाले हैं। यहाँ एक बनैला सुअर भी अंकित है (चित्र-13)। मन्दसौर जिले में मोरी गाँव के आस पास अनेकों कन्दराएं हैं। उनकी छतों व दीवारों पर लाल गेरू से चित्र बनाये गये हैं। यहाँ विविध प्रकार के पशुओं एव नृत्यरत मानवों को चित्रित किया गया है। यहाँ की महत्वपूर्ण रेखाकृतियों में मण्डल के भीतर चतुर्भुजी स्वस्तिक आकृति आठअरों वाला चक्र सूर्य अष्टदल कमल आदि की गणना की जा सकती है।

अध्याय - 2

ताम्राश्म युगीन कला

संस्कृति की खोज, नामकरण, विस्तार एवं तिथि — सैन्धव संस्कृति की खोज पुरातत्ववेत्ताओं की सर्वाधिक महत्व की उपलब्धि होने के साथ ही भारतीय इतिहास की युगान्तरकारी घटना थी। 19 वीं शती के द्वितीयार्द्ध में जब ईस्ट इण्डिया रेलवे लाइन का निर्माण हो रहा था तो उसके लिए आवश्यक रोड़ी-कंकड़ की आपूर्ति ईंटों से निर्मित ब्राह्मणाबाद नामक मध्यकालीन नगर के भग्न अवशेषों से की गई। मुल्तान से लाहौर के मध्य रेलवे लाईन के निर्माण में भी ब्रन्टन-बन्धुओं ने प्राचीन हड़प्पा नगर के मलबे का निर्दयतापूर्वक उपयोग किया था। इसी समय 1856 ई० में अंग्रेज जनरल कनिंघम को सेलखड़ी (स्टेटाइट) की मुहर सहित अनेक प्राचीन वस्तुएँ वहाँ के कार्यकर्ताओं से प्राप्त हुई थी। इन पुरातन वस्तुओं का वास्तविक महत्व लगभग सात दशक पश्चात् हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से उद्घाटित हुआ। 1921 ई० में दयाराम साहनी ने हड़प्पा टीले में उत्खनन का कार्य आरम्भ किया था। इसके एक वर्ष बाद राखलदास बनर्जी ने मोहनजोदड़ो नामक स्थल से 1922 ई० में अनेक प्रकार के पुरावशेष प्राप्त किये। मोहनजोदड़ो (सिन्धी में मुर्दे जो दड़ो अर्थात् मृतकों का टीला) सिन्ध के लरकाना जिले में सिन्धु नदी के दाहिने तट पर स्थित है। हड़प्पा भी पाकिस्तान में मॉण्टगोमरी जिले में रावी नदी के बांये तट पर स्थित है। इसके पश्चात् सिन्धु नदी की उपत्यका में विकसित होने वाली इस संस्कृति के उक्त दोनों केन्द्रों में समय-समय पर होने वाले उत्खनन कार्य से इसके विविध पक्ष प्रकाशित हुये। साहनी और बनर्जी के अतिरिक्त यहाँ के उत्खनन कार्य से सम्बद्ध विद्वानों में के० एन० दीक्षित, एच० हारग्रीव्ज, अर्नेस्ट मैके मार्शल ह्वीलर, माधव स्वरूप वत्स आदि का नाम लिया जा सकता है। इन विद्वानों के अथक प्रयत्न से उक्त दो प्रमुख स्थानों के अतिरिक्त चाहुन्दड़ो लोहुमजोदड़ो शाहजी कोटीरो झूकर, झागर, कुल्ली मेही पेरियानो घुण्डई राना घुण्डई कोट डीजी आदि अनेक हड़प्पा संस्कृति के पुरास्थल प्रकाश में आये।

मार्शल ने हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो से प्राप्त पुरावशेषों के तुलनात्मक परीक्षण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला था कि यह अवशेष सभी ज्ञात अवशेषों से पुरातन होने के साथ-साथ अभी तक की सुविज्ञात सभी भारतीय संस्कृतियों से भी पर्याप्त प्राचीन प्रागैतिहासिक संस्कृति के अवशेष हैं। प्रारम्भ में यहाँ के सांस्कृतिक अवशेषों का सुमेरी सभ्यता से सादृश्य होने के कारण इस नई सभ्यता का इण्डो-सुमेरियन नाम सुझाया गया। सिन्धु नदी की उपत्यका में नवीन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र होने के कारण इसे सिन्धु घाटी की सभ्यता नाम दिया गया। यद्यपि मार्शल ह्वीलर आदि पुराविदों ने इस सभ्यता को 'सिन्धु सभ्यता' नाम दिया किन्तु अर्नेस्ट मैके ने इसे 'हड़प्पा संस्कृति' नाम देना उचित समझा। यह सभ्यता अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इसके निर्माता योजनाबद्ध नगरों में रहते थे। व्यापार एवं कृषि करते थे। पश्चिमी एशिया के साथ व्यापार करते थे। उन्हें लेखन कला का ज्ञान था। यद्यपि सैन्धव संस्कृति प्रागैतिहासिक संस्कृति ही है किन्तु लेखन कला से उसका परिचय उसे एक भिन्न पहचान प्रदान करता है। इस संस्कृति को इसी कारण पुराऐतिहासिक (प्रोटो हिस्टारिक) संस्कृति कहकर सम्बोधित किया जाता है। इस सभ्यता को ताम्र-पाषाणयुगीन सभ्यता अथवा ताम्राश्म युगीन

सभ्यता (चेल्कोलिथिक सभ्यता) नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इस सभ्यता के निर्माता प्रस्तर के साथ साथ ताबे का भी उपयोग करते थे (लिथ + चेल्क = प्रस्तर + ताम्र) इसी कारण इसे ताम्राश्म अथवा ताम्र पाषाण सभ्यता कहा जाता है। सैन्धव सभ्यता को कास्य युगीन सभ्यता भी कहा जाता है।

विस्तार — सैन्धव सभ्यता का विस्तार भारत के विस्तृत भूभागों में था। इस सस्कृति से मिलते जुलते अवशेष हडप्पा मोहनजोदडो के अतिरिक्त चाहुन्दडो लोहमजोदडो, शाहजी-कोटीरो भूकर झागर कुल्ली मेही पेरियानो घुण्डई कोट डीजी आम्री आदि अनेक स्थला से प्रकाश मे आये हैं। इस सस्कृति के अवशेष राजस्थान में प्राचीन सरस्वती दृषद्वती (आधुनिक घग्घर एव चौतग नदियाँ) नदियों के काठे में भी प्राप्त हुए। गगानगर जिले में घग्घर के किनारे कालीबगा एक ऐसा ही स्थल है जहाँ से सैन्धव सस्कृति में अवशेष मिले थे। 1953 ई० में भूतपूर्व पुरातत्व विभाग के निदेशक श्री अमलानन्द घोष ने पुरानी बीकानेर रियासत क्षेत्र में लगभग 2 दर्जन हडप्पा सस्कृति मे सम्बद्ध पुरास्थलों की खोज की थी। उन्होंने यहा की सस्कृति को सोथी सस्कृति नाम दिया था। कालीबगा के दो टीलों से प्राक् हडप्पा (पश्चिम की ओर का छोटा टीला) तथा हडप्पा सस्कृति के लोगों (पूर्वी बडा टीला) के अवशेष प्राप्त हुए थे। सैन्धव सस्कृति के विस्तार क्षेत्र के अन्तर्गत पाकिस्तानी पजाब सिन्ध बलूचिस्तान के अलावा भारत में पजाब राजस्थान गुजरात हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश के क्षेत्र सम्मिलित हैं। पजाब में रोपड गुजरात में रगपुर और लोथल नर्मदा घाटी में भगतराव तथा उत्तर प्रदेश में हिन्डन नदी (यमुना की सहायक) के तट पर आलमगीरपुर तथा राजस्थान में कालीबगा के अतिरिक्त उदयपुर के निकट आहाड (प्राचीन आघाट) में सैन्धव सस्कृति के अवशेष उत्खनित किये जा चुके हैं। पुरातात्विक उत्खननों के आधार पर कहा जा सकता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता विस्तार की दृष्टि से अपनी समकालीन मिश्र एव मेसोपोटामिया की सभ्यताओं से भी अधिक व्यापक क्षेत्र में विस्तृत थी।

भारतीय पजाब में रोपड के अतिरिक्त कोटला निहग चक 86 बाडा सघोल ढेर मजरा हरियाणा में मिताथल सिसवाल वाणावली गुजरात में रगपुर लोथल के अतिरिक्त रोजडी तेलोद सुरकोटडा देशलपुर आदि 40 से अधिक स्थानों से, राजस्थान में कालीबगा व आहाड के अतिरिक्त सरस्वती दृषद्वती घाटी में 2 दर्जन से अधिक स्थलों में तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मेरठ सहारनपुर बुलन्दशहर तथा मुजफ्फरनगर जिलों में सैन्धव सस्कति के विस्तार के प्रमाण मिल चुके हैं। अब इस सस्कृति की उत्तरी सीमा जम्मू कश्मीर के माण्डा स्थल तक विस्तृत है। इसकी दक्षिणी सीमा का विस्तार गोदावरी घाटी तक हो चुका है। महाराष्ट्र के डायमाबाद से भी सैन्धव लिपि युक्त ठीकरे मिल चुके हैं। सैन्धव सस्कृति का विस्तार पश्चिम में बलूचिस्तान के सुत्कागेण्डोर से पूर्व में मेरठ जिले के आलमगीरपुर तक था।

तिथि सैन्धव सभ्यता की तिथि निर्धारण का प्रश्न पर्याप्त कठिन और उलझा हुआ है। सभ्यता का दीर्घकालीन विकास व्यापक क्षेत्र में इसका विस्तार निर्माता अवनति पतन आदि अनेक ऐसे पहलू हैं जो इस सभ्यता की तिथि निर्धारण की समस्या के निराकरण में बाधक हैं। सर जॉन मार्शल ने सर्वप्रथम 1931 ई में सैन्धव सभ्यता को 3250 ई पूर्व से 2750 ई पूर्व के मध्य रखा। एक अन्य सुझाव के अनुसार इसे 2400 ई पूर्व से 1700 ई पूर्व के मध्य रखा गया। इस मत के समर्थन में उन सैन्धव मुहरों का हवाला दिया गया जो मेसोपोटामिया के उर किश लगश टेलस्मर आदि नगरों से
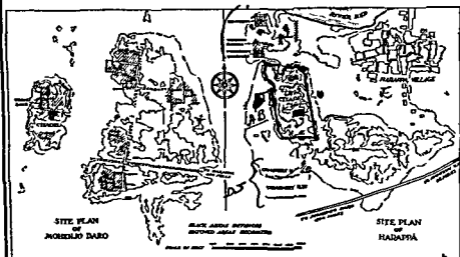
चित्र–14 मोहनजोदडो तथा हडप्पा स्थल का ह्वीलर के आधार पर मानचित्र

अक्कादी नरेश सारगन के स्तर से खुदाई में प्राप्त हुई थी। सारगन का समय 2350 ई पूर्व निर्धारित किया गया है। सम्भवत व्यापारिक आदान प्रदान के माध्यम से ही यह मुहरें वहाँ पहुँची होंगी। पिगट अल्चिन घोष आदि विद्वानों ने सैन्धव सामग्री के आधार पर तिथि निर्धारण का प्रयास किया था। हडप्पा सस्कृति के आरम्भ व अन्त में लगभग 1000 या उससे कुछ अधिक वर्षों का अन्तराल दिखलाई देता है। घोष महोदय ने विभिन्न विश्लेषणों के आधार पर सैन्धव सभ्यता का उदय 2500 से 2450 ई पूर्व व अन्त १९०० से १६०० ई पूर्व प्रस्तावित किया। इस तिथि का समर्थन लोथल के उत्खननकर्ता एस आर राव ने भी किया। यह तिथि अभी तक अधिक प्रामाणिक मानी जाती है।

सस्कृति के निर्माता ताम्राश्म सस्कृति ऐतिहासिक दृष्टि से जितनी महत्वपूर्ण व्यापक एव विकसित सस्कृति है उतना ही उसके निर्माताओं की पहचान का प्रश्न विवादास्पद है। सैन्धव सभ्यता क पोषक लोग भारतीय मूल के थे अथवा विदेशी मूल के आर्य सस्कृति क ही अग्रज थे अथवा दोनों नितान्त भिन्न सस्कृतियाँ थी आदि प्रश्नों पर जिन विद्वानों ने अपने विचार सतर्क व्यक्त किये उनमें गॉर्डन चाइल्ड अल्चिन फेयरसर्विस ह्वी एव गार्डन ह्वालर मैक पिगट ह्वेल्स साकलिया सुब्बाराव और अमलानन्द घोष आदि की गणना की जा सकता है। प्रारम्भ में सैन्धव पुरावशेषों व सुमेरियन अवशेषों में सादृश्य के आधार पर इस सभ्यता का इण्डो सुमेरियन नाम सुझाया गया था। ह्वालर व गार्डन के अनुसार सैन्धव सभ्यता का विकास मेसोपोटामिया की सभ्यता से प्रेरित और प्रभावित है। ह्वीलर के अनुसार इस सस्कृति क निर्माताओं ने कच्ची ईटों के भवन निर्माण में उपयोग की पद्धति मेसोपोटामिया के लोगों स सीखी थी।

गार्डन के विचार में मेसोपोटामिया स वहाँ की सभ्यता मिश्र पहुँची जहाँ न्यूनाधिक सशोधन के साथ उसे अपनाया गया। इसक पश्चात यह सस्कृति भारत पहुँची। गार्डन के विचार में यह सम्भव नहीं लगता कि मोहनजोदडो सरीखे नगर का निर्माण हडप्पा सस्कृति के ग्रामों में हुआ। अनुमानत मेसोपोटामिया के लोगों ने समुद्री मार्ग से होकर भारत में प्रवेश किया। इसकी आलोचना में कहा जाता है कि यदि सैन्धव सभ्यता के जनक मेसोपोटामियन लोग थे तो दोनों की लिपियों में इतनी भिन्नता क्यों है। सैन्धव लोगों की चित्राक्षर लिपि में 400 से अधिक स्वतत्र अक्षर अथवा चिन्ह हैं जबकि कीलाक्षर लिपि में (क्यूनीफार्मस्क्रिप्ट) 900 चिन्ह हैं। इसके अतिरिक्त सैधवों की नगर योजना व सार्वजनिक स्वच्छता की व्यवस्था मेसोपोटामियन लोगों से ही नहीं वरन् विश्व में सभी पुरातन सभ्यताओं के निर्माताओं की नगर योजना से श्रेयस्कर थी।

फेयरसर्विस के अनुसार चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व बलूचिस्तान में विकसित होने वाली नवीन प्राष्य सस्कृति ईरानी सस्कृति से प्रभावित थी। इस बलूचिस्तानी सस्कृति पर भारतीयकरण वर्तमान था। फेयरसर्विस और साकलिया सरीखे विद्वानों की धारणा में सिन्ध में हडप्पा सभ्यता बलूचिस्तानी सस्कृतियों के भारतीयकरण के फलस्वरूप हुए विकास का चरमोत्कर्ष है। सिन्ध (अमरी और कोटडीजी) एव बलूचिस्तान (नाल और कुल्ली) में कालीबगा की भाति सैन्धव सभ्यता के स्तरों से नीचे पूर्वकालिक सस्कृति के अवशेष प्रकाश में आये हैं। इन अवशेषों में मिट्टी के बरतन विशेषत उल्लेखनीय हैं। अमलानन्द घोष के अनुसार कालीबगा में उत्खनित प्राक् हडप्पीय सोथी सस्कृति को सैन्धव सभ्यता का आधार माना जा सकता है। पुसाल्कर दीक्षितार रामचन्द्रन शकरानन्द आदि विद्वानों के अनुसार सैन्धव एव आर्य दोनों ही सभ्यताओं के निर्माता आर्य थे। मार्शल महोदय ने
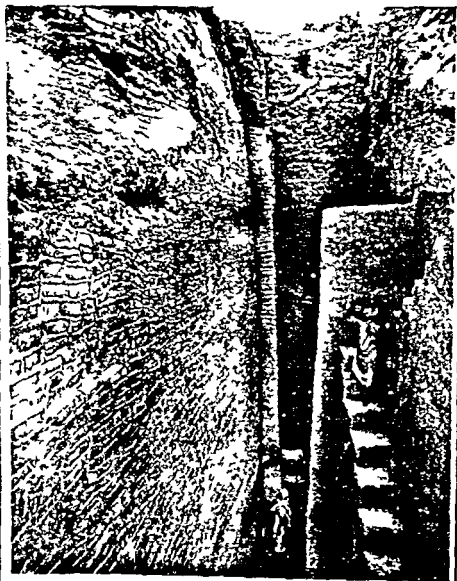
चित्र-15 हडप्पा के दुर्ग प्राचीर का दृश्य

इसका विरोध किया था। दोनों सभ्यताओं में मौलिक अन्तर है। सैन्धव सभ्यता नगर व व्यापार प्रधान था जबकि आर्य सभ्यता मूलत ग्राम एव कृषि प्रधान सभ्यता थी। लोहे और घोडे से सैन्धव अपरिचित थे। दोनों के निर्माता एक नहीं हो सकते। लक्ष्मणस्वरूप नामक विद्वान द्वारा प्रतिपादित यह मत कि सैन्धव सभ्यता आर्य सभ्यता की अनुगामिनी थी तर्क सम्मत नहीं प्रतीत होता।

अन्तत लोथल से उत्खनित गाय एव घोडे की मृणमूर्तियाँ तथा सुरकोटडा (कच्छ) से उपलब्ध घोडे की हड्डियों आदि सामग्री के प्रकाश में कहा जा सकता है कि सैन्धव सभ्यता के निर्माता भारतीय मूल के लोग ही थे। लोथल एव कालीबगा उत्खननों में अण्डाकार या आयताकार अग्निकुण्ड दोनों सस्कृतियों क जन्मदाताओं के साथ साथ रहने की सम्भावना की पुष्टि करते हैं।

वास्तुकला महाश्म सरचनाओं का भारतीय भवन निमाण कला क प्रारम्भिक प्रयासो के प्रतीक क रूप में देखा जाता है। इसके पश्चात सरचनात्मक भवनों के अत्यन्त विकसित एव नियोजित रूप का दर्शन हमें सैन्धव सभ्यता क दो प्रमुख कन्द्रों हडप्पा और मोहनजोदडो में हाता है। सुविकसित एव उत्कृष्ट नगर योजना के लिए ताम्राश्म युगीन सभ्यता विख्यात है। तृतीय सहस्राब्दी ई पूर्व जब विश्व के अनेक देश नगर जीवन से अपरिचित थे सैन्धव लोगों ने भव्य नगरों का निर्माण किया था। इन नगरों में पक्की एव कच्ची ईंटों द्वारा भवनों का योजनाबद्ध निर्माण उनमें पीने के पानी के लिए कुएँ की व्यवस्था स्नान कक्ष पाकशाला नालियों की व्यवस्था के अतिरिक्त सार्वजनिक स्नानागार तथा विविध प्रकार की सडकें आदि उनकी उत्कृष्ट अभिरूचि तथा नगर निर्माण योजना क विकसित ज्ञान की ओर सकेत करती हैं। हडप्पा एव मोहनजोदडो दोनों ही केन्द्रों में कुछ समानताएँ हैं। दोनों की स्थिति मौलिक रूप में एक जैसी हैं। दोनों महत्वपूर्ण नगरों की स्थापना दो भिन्न भिन्न नदियों के किनारे पर हुई थी। सम्भवत दोनों ही स्थल बाढ से प्रभावित होते थे। पुरातात्विक उत्खननों से इसकी पुष्टि होती है। यद्यपि हडप्पा में समय समय पर बाढ आने के उतने स्पष्ट प्रमाण नही हैं जितने मोहनजोदडो में। दोनों ही नगरों के दुर्ग अनुभाग का विस्तार उत्तर स दक्षिण 400 500 गज तथा पूर्व से पश्चिम 200 300 गज था। दोनों नगर लगभग 3 मील की परिधि में विस्तृत थे। दोनों नगरों की बाह्य आकृति समानान्तर चतुर्भुज के सदृश्य था। दोनों ही नगर पूर्वी एव पश्चिमी भागों में विभक्त थे। पूर्व वाले भाग में आम लोग निवास करते थ तथा पश्चिमी दुर्ग अनुभाग में समृद्ध एव प्रतिष्ठित नागरिक राजकीय पदाधिकारी आदि रहते थ।

दुर्ग विधान एव प्राचीर हडप्पा एव मोहनजोदडो के नगरों की सुरक्षात्मक प्राचीर एव दुर्ग याजना की ओर सकेत ह्वीलर एव पिगट ने किया था (चित्र –.4) । वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सैन्धव लोग खाई (मोट) से आवृत दुर्ग विधान से युक्त पुरों (किलबन्द नगरों) में निवास करते थे। हडप्पा सस्कृति के निर्माता धनी व्यापारी और शासक थे जो शान्त जीवन के अनुरागी होने के साथ ही विविध कलाओं के प्रेमी थे। अपनी भौतिक समृद्धि के लिए वे कृषकों एव श्रमिकों क परिश्रम स उत्पन्न सम्पत्ति और पदार्थों पर आधारित थे। सिन्धु घाटी के लोग दुर्ग विधान से परिचित थे। उनके नगर अथवा पुर में परिखा या खाई प्राकार (ऊँची दीवार) वप्र (धुहा या ढेर) द्वार बुर्ज अट्टालक (टावर्स) महापथ (हाई वे) प्रासाद जलाशय आदि वास्तु कला क अनेक अग पाये गये हैं। हडप्पा में 25 फुट चौडा वप्र (कूटी हुई मिट्टी की दावार जिस पर ईंटों की दीवार खडी की जाती थी) मिला था जिसके उपर ईंटों की प्राचीर बनी थी। प्राचीर के बीच बीच में बुर्ज या अट्टालक थे। ऐसे एक बुर्ज के

चित्र–16 हडप्पा से धान कूटने की ओखली

अवशेष मोहनजोदडो से प्रकाश में आ चुके हैं । मुख्य दिशाओं में ऊँचे द्वार थे। सम्भवत इसके चारों ओर एक परिखा थी जिसमें नदी से जल भरा जाता था। ऋग्वेद में उल्लिखित 'पुर' एव कौटिलीय अर्थशास्त्र के दुर्ग विधान से उपर्युक्त दुर्ग का रूप साम्य रखता है। ऋग्वेद में 99 पुरों का उल्लेख आता हैं। इन्द्र को पुरन्दर भी (पुरों का विनाशक) कहा जाता है। हडप्पा नगर की रक्षा प्राचीर के दक्षिणी सिरे पर दुर्ग तक जाने के लिए सीढियां बनाई गई थी (चित्र – 15)।

हडप्पा की भाति मोहनजोदडो में भी एक दुर्ग टीले के ऊपर बनाया गया था। अब सिन्धु नदी इस टीले से पूर्व की ओर 3 मील दूर बहती है । यह टीला कच्ची ईंटों और मिट्टी से निर्मित किया गया है। बाद से इसकी रक्षार्थ इसके किनारे पर 43 फुट चौडा मिट्टी का बाध बनाया गया था। दुर्ग पर किये गये उत्खनन कार्य से उसके नीचे सभ्यता की सात सतहें प्रकाश में आई।

भवन हडप्पा मोहनजोदडो कालीबगा लोथल आदि नगरों के अवशेष इस सभ्यता के वैभवपूर्ण नागरिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करते है । दुर्ग और निचला नगर क्षेत्र प्राय एक समान सभी क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं। भवनों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग सर्वत्र किया गया है। नगर में अभिजात वर्ग के भवन आकार की दृष्टि से साधारण वर्ग के लोगों के लिए निर्मित होने वाले भवनों से बडे थे। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक और राजकीय भवनों का भी निर्माण होता था। मोहनजोदडो और हडप्पा में भवन निर्माणार्थ पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया था। दीवार की चुनाई में मिट्टी चूने व जिप्सम प्लास्टर या गारे का उपयोग किया जाता था। कुछ इमारतें गोदाम लगती हैं यथा लोथल के गोदाम। भवनों में खिडकियाँ कम हैं। नगर योजना की एक उल्लेखनीय विशेषता निश्चित ही स्वच्छता को दी गयी प्राथमिकता है। घरों में गन्दे पानी के निकास के लिए नालियों की व्यवस्था की गई थी। घरों की नालियों का पानी सडक की बडी नालियों में चला जाता था। सडकों के चौराहों पर बने शोषक गर्ठो (सोक पिट) से अनुमान लगाया जाता है कि सैन्धव लोग स्वच्छता को लगभग धार्मिक महत्व देते थे। घरों में स्नान कक्षों का प्रावधान भी सैन्धव लोगों की शुचिता के प्रति सजगता का प्रतीक ही है।

हडप्पा के अनेक भवनों का अस्तित्व ही अब समाप्त हो चुका है। लाहौर-मुल्तान रेलवे लाईन के निर्माण हेतु रोडी ककड की आपूर्ति यहाँ से प्राप्त ईंटों से की गई। इसके अतिरिक्त स्थानीय लोगों ने भी प्रारम्भ में ताम्राश्मयुगीन ईंटों का निर्दयता पूर्वक उपयोग किया था। दुर्ग के उत्तर में उत्खनन में गृहों चबूतरों व अन्नागारों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। यहाँ 56 x 24 फुट लम्बाई चौडाई के श्रमिकों के आवासगृहों की दो पक्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें प्राय दो कमरे होते थे। दीवार की चुनाई मिट्टी के गारे से की गई है किन्तु फर्स को ईंटों को जिप्सम के गारे से जोडा गया है। हडप्पा के इन घरों में मोहनजोदडो की भाति कुएँ नहीं मिले। यद्यपि सार्वजनिक उपयोग के लिए बडे कुओं का निर्माण हडप्पा में भी किया गया था। इन कुओं में ईंटों की जुडाई बडी सफाई से की गई है।

हडप्पा से प्राप्त होने वाले अन्य सरचनात्मक भवनों के अवशेषों में कुछ चबूतरों और धान्यागार का उल्लेख किया जा सकता है । श्रमिकों के आवासों से उत्तर की ओर 18 वृत्ताकार चबूतरों के अवशेष मिले हैं। ह्वीलर के विचार में इनका उपयोग अन्न कूटन के लिए होता था (चित्र –16)। इन चबूतरों में छेद बने हुए हैं जिनका उपयोग ओखलों की भाति किया जाता था। हडप्पा से दुर्ग के उत्तर में एक धान्यागार के अवशेष मिले हैं इसका निर्माण बाढ से सुरक्षा की दृष्टि से 150X200 फुट के क्षेत्र वाले ऊँचे चबूतरे में किया गया था। यहाँ कुल 12 खण्ड अन्न भण्डारण के लिए बने थे जो छ छ की
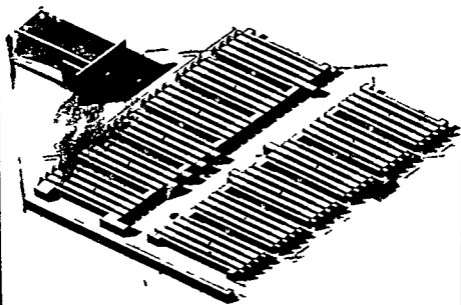
चित्र–17 हड़प्पा से प्राप्त धान्यागार
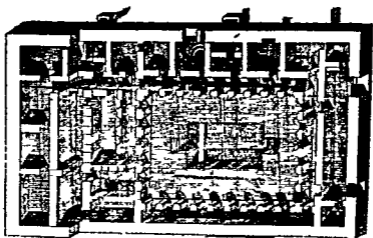
चित्र–18 मोहनजोदड़ो से प्राप्त विशाल जलकुण्ड

दो पंक्तियों में थे। दोनों पंक्तियों के मध्य 23 फुट चौड़ा रास्ता है (चित्र 17) । प्रत्येक भण्डारण खण्ड की लम्बाई चौड़ाई 50 X 20 फुट है। मोहनजोदड़ो से भी ऐसे भण्डारण कक्ष प्राप्त हुए हैं। सम्भवत इन खण्डों में कृषकों से भूमि के लगान के रूप में वसूले गये अन्न का भण्डारण किया जाता था। मुख्य खाद्यान्नों में गेहूँ, जौ अरहर तिल आदि की खेती होती थी। कपास की भी खेती होती थी।

ताम्राश्म युगीन सभ्यता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र निसन्देह मोहनजोदड़ो था। यहाँ की उदात्त नगर योजना सफाई व्यवस्था आदि को देखकर एक अंग्रेज लेखक ने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए लिखा था कि 'उसे ऐसा लगा मानो वह लंकाशायर के किसी आधुनिक नगर के ध्वंसावशेषों से घिरा हो। यहाँ के अवशेषों की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से हड़प्पा के अवशेषों से अच्छी है। विशाल जलकुण्ड यहाँ के उल्लेखनीय वास्तु अवशेषों में गणनीय हैं 180 x 108 फुट क्षेत्र में विस्तृत जलकुण्ड वस्तुत ३९ फुट लम्बा 23 फुट चौड़ा और 8 फुट गहरा है। इस जलकुण्ड में जाने के लिए उत्तर तथा दक्षिण की ओर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। यह सीढ़ियाँ पक्की ईंटों की हैं। इस जलकुण्ड में जल की निकासी की भी व्यवस्था थी। स्नानागार का फर्श पक्की ईंटों का बना है। उसकी दीवारों में जिप्सम का लेप किया गया है। बाहर की दीवारों में चूने का पलास्तर किया गया है। बिटूमन द्वारा जलकुण्ड को जलरोधी बना दिया गया है। यह जलकुण्ड सैन्धव लोगों की शारीरिक स्वच्छता का प्रतीक है। मार्शल ने इसकी सुन्दरता एवं मजबूती की प्रशंसा की है। स्नानागार के तीन ओर बरामदे हैं। पीछे कई कोठे बने हुए हैं। यह विशाल जलकुण्ड सम्भवत सार्वजनिक उपयोग के लिए था। स्नानागार के पास बने हुए कोठे स्नान के लिए अथवा वस्त्र परिवर्तन के लिए प्रयोग में लाये जाते होंगे। इस स्नान कुण्ड की जलापूर्ति किसी पास के कुयें से होती थी (चित्र-18)।

मोहनजोदड़ो में भी हड़प्पा की भांति अनाज के भण्डारण के लिए कोष्ठागार अथवा कोठार बना हुआ था। इसकी पूर्व से पश्चिम की लम्बाई 150 फुट तथा उत्तर से दक्षिण की ओर चौड़ाई 75 फुट थी। यह धान्यागार पक्की ईंटों से निर्मित है। इसमें अन्न भण्डारण के लिए 27 कोठे बने हुए थे। इसमें हवा जाने की समुचित व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था से सैन्धव भवन निर्माताओं की मौलिक सूझ-बूझ का आभास होता है। अन्न संग्रह की यह व्यवस्था नगर के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन के स्वरूप की ओर संकेत करती है।

सम्भवत यहाँ के विशालतम भवनों में 230 x 78 फुट क्षेत्र में विस्तृत भवन है। इसके साथ अनेक कक्ष तथा बरामदे मिलते हैं। यह राजप्रासाद प्रतीत होता है। उत्खननकर्ताओं ने इसे 'महा विद्यालय भवन' कहा था। अर्नेस्ट मैके के अनुसार यह किसी उच्च अधिकारी सम्भवत बड़े पुरोहित का निवास था। यहाँ के अन्य उल्लेखनीय भग्नावशेषों में सभा भवन की गणना की जा सकती है। यह लगभग 90 फुट लम्बा चौड़ा वर्गाकार भवन था। इसमें 20 खम्भों के भी अवशेष मिले हैं। यह 4 पंक्तियों में थे। प्रत्येक पंक्ति में 5 स्तम्भ थे। इसका उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए सभा भवन के रूप में किया जाता होगा। भवनों में स्तम्भों का निर्माण कुछ विद्वानों की धारणा में परवर्ती काल में मौर्यों ने ईरानियों से सीखा था। मोहनजोदड़ो के उक्त स्तम्भ युक्त भवन के अवशेषों के प्रकाश में यह मत निराधार प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में भी सहस्रस्थूण (एक हजार स्तम्भ) शब्द से इस बात की पुष्टि होती है कि भारत में स्तम्भ निर्माण की परम्परा स्वदेशी मूल की है।

मोहनजोदड़ो के दुर्ग के पूर्व में निचले क्षेत्र में उत्खननों से महत्वपूर्ण अवशेष प्रकाश में आये

हैं। यहाँ के अवशेषों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि नगर का निर्माण सुनियोजित प्रणाली से किया गया। नगर में सडकों तथा वीथियों भवनों तथा नालियों आदि की व्यवस्था इस सभ्यता के पोषकों की स्थापत्य के क्षेत्र में मौलिक सरचनात्मक क्षमताओं की ओर सकेत करती है। डेल्स के अनुसार यह नगर सुरक्षा प्राचीर से आवृत था। सम्पूर्ण नगर विभिन्न प्रकार की सडकों से विभक्त था। यह सडकें एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं । प्रमुख सडकें 33 फुट तक चौडी हैं। कुछ सडकें 12 से 9 फुट तक चौडी हैं। इसके अतिरिक्त कम चौडी सडकों के भी प्रमाण मिले हैं। 4 फुट चौडी गलियाँ भी होती थी। सभी सडकें कच्ची थी। सडकों के किनारे नालियों की व्यवस्था थी। नालियों को ईंटों से पाटकर ढका जाता था। घरों की नालियाँ पुन सडकों की मुख्य नाली व्यवस्था से जोडी गई थीं ताकि गन्दा पानी इधर-उधर न फैल सके। नालियों में स्थान-स्थान पर लकडी के अथवा ईंटों के ढक्कन से ढके हुए उथले गड्ढे (सोक-पिट) रखे जाते थे जिससे पानी के साथ बहता हुआ अवरोधक कूडा-कचरा उनमें बैठ जाय। समय-समय पर इसकी सफाई की जाती होगी। बैशम के विचार में सैन्धव नगरों की इस उत्कृष्ट सफाई व्यवस्था का निर्वाह किसी नगर पालिका सरीखी सस्था द्वारा किया जाता होगा। किसी भी अन्य प्राचीन सभ्यता के अन्तर्गत ऐसी सफाई की व्यवस्था के प्रमाण नहीं मिलते। पश्चिमी विद्वानों ने सैन्धव सभ्यता के इस पक्ष की भूरि भूरि प्रशसा की है।

मोहनजोदडो में विभिन्न आकार प्रकार के भवनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के समृद्ध लोग अच्छे तथा आरामदायक घरों में रहते थे। व्यापार एव कृषि के कारण आम समृद्धि का वातावरण रहा होगा। सम्भवत इसी कारण उनके मजदूर भी दो कमरों वाले पक्की ईंटों के मकान में रहते थे। मोहनजोदडो से प्राप्त एक आवासगृह के अवशेषों से ज्ञात होता है कि उसमें अनेक कमरे कुएँ की व्यवस्था स्नान कक्ष नाली की व्यवस्था सीढियों आदि का प्रावधान था। यह दो मजिला मकान रहा होगा जैसा की दीवार पर बनी नाली एव सीढियों के अवशेष से इगित होता है। इस घर का प्रवेश द्वार 5 फुट चौडी एक गली की ओर खुलता था। घरों का निर्माण प्राय एक पक्ति में किया जाता था। एक क्षेत्र में दो-दो कमरे वाले 16 छोटे आकार के आवासगृह दो पक्तियों में मिलते हैं। ऐसा लगता है कि यह श्रमिकों की बस्ती रही होगी। इस प्रकार की बस्ती हडप्पा में भी मिली है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार घरों की माप 27 x 29 फुट थी। बडे घरों की माप इसकी दुगुनी थी। इनका प्रवेश द्वार गलियों की ओर खुलता था। यह पक्तिबद्ध निर्मित होते थे। सडकों की ओर 18 फुट ऊँची दीवार तथा गलियों में 25 फुट तक ऊँची ईंट की दीवार मिली है। घरों के मध्य कभी-कभी 1 फुट का गलियारा भी रखा जाता था। घरों में रोशनी के लिए पत्थर की जाली लगाई जाती थी। स्टेटाइट पत्थर की कुछ जालिया दीवारों में लगी हुई प्राप्त हुई थी। दीवारें पक्की नींव पर बनाई जाती थी। छतें लकडी की धरन देकर पाटीं जाती थी। औसत दरवाजे की चौडाई 3 फुट 4 ईंच तथा ऊँचाई लगभग इसकी दुगुनी होती थी। 27 फुट 10 ईंच चौडे द्वार भी मिले हैं। कमरों में फर्श कच्चे थे। सम्भवत इनमें कूटी हुई मिट्टी का भरान किया जाता था। स्नानकक्ष को पक्की ईंटों से पाट कर बनाया गया है। ईंटों के जोडों को जलरोधक बनाया गया है। घर के गन्दे पानी को बन्द नालियों के माध्यम से सडक की मुख्य नाली व्यवस्था में ले जाने की व्यवस्था की गई है । भवन निर्माण में पत्थर का प्रयोग नहीं किया गया है। सर्वत्र पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया है ।

कालीबगा— पाकिस्तान के सिन्ध और पजाब में स्थित दो प्रमुख सैन्धव केन्द्रों के अतिरिक्त

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थल कालीबगा है। राजस्थान के गगानगर जिले में घग्घर (प्राचीन सरस्वती नदी) के किनारे स्थित इस स्थल से हडप्पा एव मोहनजोदडो व समान ही एक विशाल और समान योजना वाले नगर के अवशेष प्रकाश में आये हैं। उल्लेखनीय है कि बीसवी शती के प्रथमार्द्ध में ऑरल स्टाइन ने पुरानी बहावलपुर रियासत में प्राग् हडप्पन सस्कृति से सम्बद्ध 11 पुरातन स्थलों की खोज की थी। 1953 ई में अमलानन्द घोष ने पुरानी बीकानेर रियासत के अन्तर्गत जिन लगभग दो दर्जन हड्प्पा सस्कृति स्थलों की खोज की थी उनमें कालीबगा एक था। 1961 ई में बी बी लाल एव बी के थापर ने पुरातत्व के विद्यार्थियों के प्रशिक्षणार्थ यहाँ उत्खनन कार्य सम्पन्न किया था।

यहाँ से खुदाई में दो टील प्राप्त हुए हैं। दोनों टील सुरक्षा प्राचीर से घिरे हुए थे। पश्चिम की ओर के लघु टीलों से प्राग् हडप्पा सस्कृति के अवशेष तथा पूर्व की ओर के बडे टीले से हडप्पीय पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वान हडप्पा मोहनजोदडो और कालीबगा तीनों को सैन्धव साम्राज्य की तीन क्षेत्रीय राजधानिया मानते हैं। यहाँ के आवासगृहों एव रक्षा प्राचीर में कच्ची ईंटों का प्रयोग किया गया है। दुर्ग का निर्माण प्राग् सैन्धव अवशेषों पर किया गया था। रक्षा प्राचीर में बुर्जों का प्रावधान था। भवनों के अवशेषों के अतिरिक्त यहाँ से कच्ची ईंटों के ऐसे चबूतरे प्राप्त हुए हैं जिनमें *कुओं और अग्निवेदिकाओं के प्रमाण भी मिलते हैं। मकान एक से अधिक मजिल वाले भी बनते थे।* घरों के साथ कूपों और सीढियों के अस्तित्व के प्रमाण भी मिले हैं। घरों से उत्खनन में तन्दूरनुमा चूल्हे के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। सडकों के किनारे जल शोषक गर्त निर्मित किये जाने के भी सकेत प्राप्त हुए हैं। कालीबगा बस्ती का जीवनकाल स्थूलत 400 500 वर्ष का माना जाता है। प्राग् हडप्पा कालीन कालीबगा की उल्लेखनीय उपलब्धी निसन्देह कृषि कर्म से सम्बन्धित है। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार यहाँ से प्राप्त होने वाले जुते हुए खेत के प्रमाण विश्व में कृषि कर्म सम्बन्धी प्राप्त प्रमाणों का प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ से उत्खनन में प्राप्त होने वाली अन्य उल्लेखनीय वस्तुओं में मूल्यवान पत्थरों (अगेट स्टेटाइट आदि) से निर्मित विविध उपकरण मनके पक्की मिट्टी से बनी खिलौने की गाडी के पहिए, घडे बैल की प्रतिमा सिल-बट्टे ताबे की कुल्हाडी और फल काटने के औजारों का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त लाल काले व सफेद रगों से युक्त विविध प्रकार के चित्रित मिट्टी के बर्तन भी यहाँ से प्रभूत मात्रा में प्राप्त हुए हैं।

लोथल गुजरात के अहमदाबाद जिले में सरगवाला ग्राम के पास स्थित हडप्पा सभ्यता का यह एक अन्य महत्वपूर्ण केन्द्र था। लोथल की ख्याति सौराष्ट्र के ताम्राश्मयुगीन बन्दरगाह के रूप में सर्वाधिक है। वहाँ से 1958 59 ई में अन्य अवशेषों के साथ ही समुद्री जहाजों के द्वारा प्रयुक्त होने वाली गोदी (डॉक यार्ड) के भी अवशेष प्राप्त हुये थे। यह पश्चिमी एशिया के साथ जलमार्ग द्वारा आवागमन करने का प्रमुख द्वार था। लोथल से प्राप्त होने वाले इस पोतपत्तन (बन्दरगाह) से इस बात की पुष्टि होती है कि सैन्धव लोगों का पश्चिमी एशिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध समुद्री मार्ग से स्थापित था। इस गोदी का आकार विषमभुज वर्ग जैसा है जिसके पूर्व पश्चिम की लम्बाई 710 फुट है उत्तर की 124 फुट तथा दक्षिण की 116 फुट।

लोथल नगर लगभग 2 मील के घेरे में बसा हुआ था। यहाँ एस आर राव ने उत्खनन कराया था। सम्भवत प्रारम्भ में यह स्थल भोगवो तथा साबरमती नदियों के सगम पर स्थित था। यहाँ की नगर योजना भी हडप्पा तथा मोहनजोदडो की नगर योजना जैसी ही है। यह नगर सडकों द्वारा अनेक

चित्र—42 मोहनजोदडो से प्राप्त मिट्टी की मूर्ति

चित्र—43 सिर म पखेनुमा आभरण युक्त मिट्टी की खडी प्रतिमा

खण्डों में विभक्त था। नगर की बस्ती को बाढ से सुरक्षित रखने के लिए यहाँ के घरों का निर्माण कच्ची ईंटों से निर्मित एक विशाल चबूतरे के उपर किया गया है। यहाँ से भी रक्षा प्राचीर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहाँ की सडकें बहुत चौडी नहीं हैं, किन्तु 12 फुट तक चौडी सडक के प्रमाण मिले हैं। कच्ची सडकों के किनारे नालियाँ बनी थी। यहाँ से प्राप्त होने वाले मकान बहुत बडे नहीं थे। एक मकान के साथ रसोईघर स्नानगृह तथा पानी के निकास के लिए नालियों के अवशेष मिले हैं। प्राय सभी घरों में पक्की ईंटों के फर्श वाले एक या दो चबूतरे मिले हैं जिनका उपयोग स्नान आदि के लिए होता होगा। भवनों के निर्माण में प्राय कच्ची ईंटें प्रयुक्त होती थी। लोथल से भट्ठे के भी अवशेष मिले हैं। यहाँ के घर उतने अच्छे नहीं थे जितने मोहनजोदडो के। इस नगर में भी अन्य सैन्धव नगरों की भांति बडे भवन भण्डार गृह स्नानागार शौचालय नालियों की व्यवस्था तथा अन्नागार आदि के अवशेष मिले हैं। एच.डी. साकलिया के अनुसार यहाँ से विशाल जलकुण्ड के अवशेष मिले हैं। वस्तुत उनके विचार में लोथल का तथाकथित पोतपत्तन एक जलकुण्ड मात्र था। यहाँ से सैन्धव सभ्यता के प्राय सभी प्रकार के विशिष्ट उपकरण, बर्तन आभूषण बाट-बटखरे आदि प्राप्त होते हैं। एस.आर. राव क अनुसार लोथल में सैन्धवलोग 2400 ई पूर्व आये होंगे। उन लोगों का सौराष्ट्र में आगमन व्यापारिक कारणों से हुआ था।

सैन्धव वास्तुकला के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए पर्सी ब्राउन ने लिखा है कि सम्पूर्ण स्थापत्य रचना सौन्दर्य की दृष्टि से उजाड ही है किन्तु रचनात्मक प्रणाली पदार्थों का परिष्कृत होना मजबूती आदि आश्चर्यजनक है। प्रसिद्ध कलाविद् कुमारस्वामी के अनुसार हडप्पा मूर्तिकला में सौन्दर्य की कमी है। निःसन्देह भवनों के निर्माण में अलकरण अथवा कलात्मक आडम्बर के स्थान पर सादगी उपयोगिता तथा मजबूती पर विशेष ध्यान दिया गया है। पक्की ईंटों का भवन निर्माणार्थ प्रयोग भवनों की सुदृढता में उनकी रूचि का प्रमाण है। साधारणत निर्माणकार्य में प्रयुक्त होने वाली ईंटों की नाप 11 x 5-1/2 x 2-3/4" हैं। सर्वाधिक बडी ईंट 20-1/4 x 8-1/2 x 2 1/4 नाप की है। मोहनजोदडो से ईंट बनाने के भट्ठे के अवशेष मिले हैं। घरों के साथ जलापूर्ति हेतु कुओं की व्यवस्था थी। सैन्धव नगरों में पर्याप्त मात्रा में कुओं के अवशेष मिलते हैं। साधारणतः कुँए 3 फुट चौडे होते थे किन्तु कहीं-कहीं उनकी चौडाई 2 फुट ही है। कुछ विद्वानों के अनुसार इन नगरों में शौचालयों का भी प्रावधान था।

सैन्धव वास्तु के स्मरणीय बिन्दुओं में दुर्ग विधान युक्त नगर निर्माण एक तथा दो मंजिले विविध आकार के भवनों का निर्माण भवनों में कहीं-कहीं आयताकार स्तम्भ टोडेदार मेहराब (कॉरबेल्ड आर्च) सीढियों एव जालीयुक्त वातायनों का निर्माण स्वच्छता की दृष्टि से बन्द नालियों की व्यवस्था स्नानकक्ष कूप एव सभावित शौचालयों का प्रावधान भवन निर्माणार्थ लगभग समान आकार की पक्की ईंटों चूने मिट्टी एव जिप्सम पलस्तर का उपयोग 4-5 फुट चौडी तग गलियों से 33 फुट तक चौडी सडकों का निर्माण भवनों में सौन्दर्य के स्थान पर सादगी उपयोगिता तथा दृढता को प्राथमिकता मुख्य भवनों में राज प्रासाद (महाविद्यालय) सभाभवन अन्न भण्डार गृह विशाल स्नानगृह आदि की गणना की जा सकती है। यहाँ से सुमेर की भांति गोलाकार स्तम्भ दोहरे द्वारमार्ग (रिसेस्ड डोरवेज) तथा विस्तृत मंदिर नहीं मिलते और नहीं नील नदी के किनारे निर्मित विशाल मकबरे।

सैन्धव मुहरें एव लिपि सैन्धव मुहरें अथवा मुद्राएं कला के एक महत्वपूर्ण पक्ष का
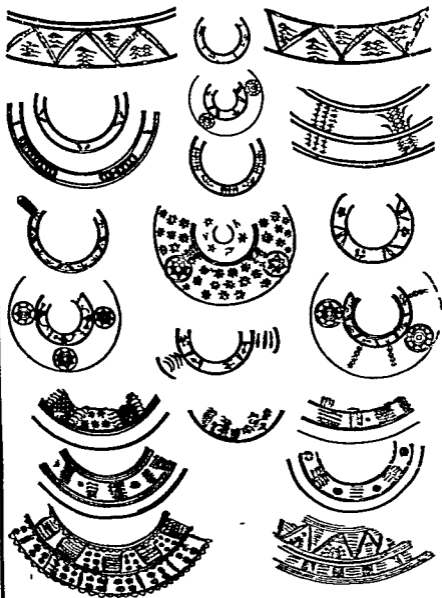
चित्र–44 हड़प्पा की समाधियों से प्राप्त मिट्टी के कलशों पर चित्रित आभूषणों के नमूने

प्रतिनिधित्व करती हैं। सैन्धव नगरों से प्राप्त होने वाली सर्वाधिक रोचक एव महत्वपूर्ण वस्तुओं में 2000 से अधिक सख्या में उपलब्ध कलात्मक मुहरों का विशिष्ट स्थान है। यह मुहरें साधारणत 3/4 से 1 1/4 तक ऊची हैं। आकार में यह मुहरें गोल लम्बोतरी (सिलेण्डर सील) वर्गाकार तथा आयताकार हैं। अधिकाश मुहरें सेलखडी अथवा धीया पत्थर (स्टेटाइट) से बनी हैं। इनके पीछे छेदयुक्त एक उभरा हुआ भाग (परफोरेटेड बॉस) है । सभी मुहरों में छेदयुक्त उभार नहीं मिलता। ह्वीलर को उद्धृत करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि मनकों (बीडस) की तरह इनको बनाने के लिए प्रथम खडे पत्थर को तार बधे हुए धनुष से चीरते थे। इसके बाद तेज धार वाले चाकू से इन्हें चिकनाया जाता था और तदुपरान्त बरमे (ब्यूरिन) और रुखानी (चीजिल) से अपेक्षित आकृति की नक्काशी की जाती थी। सावधानी पूर्वक बनाई जाने वाली यह मुहरें सैन्धव कलाकारों के नैपुण्य का द्योतक हैं। इनमें अकित प्रतिमाएँ आकार में छोटी होते हुये भी प्रभावकारी हैं। यह मुद्राएँ हडप्पा मोहनजोदडो के अतिरिक्त झूकर नाल शाही टुम्प आदि अनेक स्थलों से प्राप्त हुई हैं। मोहनजोदडो से 3 लम्बोतरी मुहरें प्राप्त हुई हैं जो पिगट के विचार में सुमेर की मुहरों जैसी हैं। झूकर से प्राप्त मुहरें पत्थर एव धातु के अतिरिक्त मिट्टी एव काचली मिट्टी (फेयन्स) से बनी हैं। इन्हें भी चिन्हित करने वाली मुद्राएँ (स्टैम्पसील) कहा जाता है । यहाँ से प्राप्त होने वाली ताम्र निर्मित मुहरों में कुछ चौकोर (92 x 92) तथा कुछ आयताकार (1 2 x 5 से 1 5 x 1) हैं। यह मुद्राएँ लिपि आकार व निर्माणकला की दृष्टि से सुमेर व पश्चिमी एशिया की मुहरों से साम्य नहीं रखती। मुहरों को काटने व उन पर श्वेत रग चढाने की प्रक्रिया का आविष्कार सैन्धव लोगों ने ही किया।

इन मुहरों को सैन्धव कला की उत्कृष्ट कृति कहा जा सकता है। इनमें उत्कीर्ण चित्रलिपि अपने आप में सैन्धव लोगों के हस्तकौशल का एक सराहनीय नमूना है। मुद्राओं में नाना प्रकार के पशु यथा व्याघ्र हाथी गैंडा खरगोश हिरन लघु सीगयुक्त नाटा बैल गरूड मगर आदि की सुन्दर आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। मुहरों में खोदकर बनाई गई सर्वाधिक सुन्दर आकृति निसन्देह ककुद्मान वृषभ (हम्प्ड बुल) की है (चित्र -19)। एक अन्य उत्कीर्ण पशु एकशृग है जिसकी पहचान शृङ्गवृष से की जा सकती है (चित्र -20)। पशु के सम्मुख विचित्र स्तम्भ या ध्वज चिन्ह उकेरा गया है। कुछ मुहरों में काल्पनिक पशु आकृतियाँ भी उत्कीर्ण की गई हैं। एक मुहर में तीन मस्तकों वाला एक पशु बना हुआ है (चित्र- 21)। एक अन्य मुहर में तीन व्याघ्रों के शरीर सयुक्त हैं (चित्र -22)। एक अन्य आकृति में पीपल वृक्ष को दो सर्पों की आकृति के मध्य अकित किया गया है (चित्र -23) । एक मुहर में पीपल या अश्वत्थ का अकन है जो भारतीय परम्परा में विश्व ब्रह्माण्ड का प्रतीक माना जाता है । कुछ मुहरों पर मात्र रेखाकृतियाँ हैं जिनमें स्वस्तिक बने हैं (चित्र -34)।

यह बताना कठिन है कि इन मुहरों का ठीक-ठीक क्या उपयोग होता था । मार्शल ताम्र मुहरों को ताबीज समझते थे । एक सुझाव के अनुसार इनका उपयोग देव पूजन में होता था। एक अन्य धारणा में इनका उपयोग व्यक्ति विशेष को नामाकित करने अथवा धन की इकाई के रूप में होता था। स्टुअर्ट पिगट के अनुसार मुद्राओं का प्रयोग आधुनिक काल की भाति सम्पत्ति को चिन्हित अथवा सील करने के लिए होता था । अग्रवाल के अनुसार ताबे की मुहरें आहत मुद्राओं की भाति सिक्के के रूप में प्रचलन में थीं । सिन्धु घाटी में ताम्र मुद्राओं के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार के सिक्के का अस्तित्व में न होना इसकी पुष्टि करता है ।

सैन्धव मुहरों पर उकेरी किये गये चित्रलिपि के 400 अक्षर निर्माताओं की मौलिकता का प्रमाण हैं। नक्काशी कला में (गिलप्टिक आर्ट) मोहनजोदडो के कलाकारों को महारत हासिल थी । ए०एल० बैशम के अनुसार उक्त लिपि में लगभग 270 अक्षर ही थे । यह लिपि विद्वानों के लिए आज भी एक पहेली बनी हुई है । सैन्धव लोगों के अधिकाश लेख मुहरों पर उकेरे गये हैं । उनके कुछ लेख मिट्टी के बर्तनों तथा धातु उपकरणों में भी प्राप्त होते हैं । पिछले 50-60 वर्षों में 2 दर्जन से भी अधिक पुरातत्ववेत्ताओं ने इस लिपि को पढने का भरसक प्रयास किया है किन्तु दुर्भाग्य से यह लिपि अभी तक भी सर्वमान्य तरीके से नहीं पढी जा सकी है । अधिकाश अनुमानों के अनुसार यह दाये से बाए लिखी जाती थी । फिनलैण्ड के आस्को पर्पोला, पी आल्तो सिमोपर्पोला तथा एस० कोस्केन्नेमि और रूस के वनोरोजोव वोल्कोव गुरोव तथा अलेक्सेमेव नामक विद्वानों ने कम्प्यूटर की सहायता से इसका अध्ययन किया । दोनों देशों के विद्वानों के अनुसार इसमें प्राक् द्रविड भाषा के दर्शन होते हैं । तथा यह लिपि दाये से बाये लिखी जाती थी । रूसी विद्वत समुदाय के विचार में उक्त लिपि चीनी लिपि के समान रेखा लिपि थी । इनके मत में सैंधव लोगों को चान्द्रसौर पञ्चाग का ज्ञान था और उनकी लिपि में कृत्तिका, सप्तर्षि वृश्चिक आदि नक्षत्रों के चिन्ह मिलते हैं। भारतीय विद्वानों में श्रीरंगनाथराव का प्रयास इस दिशा में सर्वाधिक उल्लेखनीय है जिन्होंने इसमें प्राक् वैदिक आर्य भाषा के दर्शन किये । उनके अनुसार प्रारम्भ में इसमें 60 मूल चिन्ह थे जो कालान्तर में घट कर 25 ही रह गये । उन्होंने इसके मूल अक्षरों की समता पश्चिमी एशिया की सेमेटिक लिपि के अक्षरों से स्थापित की है । सैन्धव लिपि को पढने की प्रक्रिया से जुडे हुए अन्य विद्वानों में जी आर हण्टर शकरानन्द बी एम बरुआ राखलदास बनर्जी प्राणनाथ जॉन मार्शल फतेहसिह ब्रजबासी लाल फेयरसर्विस फादर हेरास कृष्णराव आदि का नाम उल्लेखनीय है । विद्वानों ने लगभग 3500 सैन्धव लेखों के दो सकलन तैयार किये हैं । यद्यपि विद्वानों को इसे सर्व स्वीकृत तरीके से पढने में सफलता नहीं मिली है किन्तु लिपि की कलात्मकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती है ।

सैन्धव मुहरों की लिपि को बिना सर्वमाह्य तरीके से पढे उनके महत्व का ठीक-ठीक आकलन करना कठिन है । मुद्राओं पर खचित आकृतियों के साथ-साथ प्राय चित्रलिपि में कुछ न कुछ अकित है । यदि इन लेखों को पढ लिया जाय तो ताम्राश्मयुगीन सस्कृति के विविध पक्षों पर हमारे ज्ञान में अभिवृद्धि होने की पर्याप्त सभावना है । सामान्यत यह मुद्राएँ उनके जन-जीवन के विषय में महत्वपूर्ण सूचना देती हैं । पशु एव वनस्पति जगत के साथ उनके परिचय के विषय में मुहरों से जानकारी प्राप्त होती है । उनके धार्मिक विश्वासों पर भी यह मुद्राएँ प्रकाश डालती हैं । एक बहुचर्चित मुहर (चित्र – 24) में एक पुरुष आकृति को पर्यकबन्ध (क्रास लेग्ड) मुद्रा में उकेरा गया है । यह पुरुष ध्यान मुद्रा में अकित है । उसके सिर का आभरण त्रिशूलनुमा है । इस मानवाकृति के चतुर्दिक गैंडा, हाथी व्याघ्र भैंसा नामक पशु खचित है । मार्शल ने इसको ऐतिहासिक शिव का आदिरूप कहा था। इस मुद्रा से शिव की उपासना तथा योग की परम्परा की प्राचीनता पर नया प्रकाश पडता है । सैन्धव मुहरों में उत्कीर्ण डिजाइनों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वे लोग पशुओं की पूजा करते थे। एक अन्य हडप्पा से प्राप्त होने वाली मुहर में बाहें फैलाये हुए एक नग्न स्त्री को उल्टा खचित किया गया है । उसके गर्भ मे एक पौधा निकलता हुआ अकित है । मुहर के दूसरी ओर एक पुरुष हाथों में हसिया नुमा चाकू लिए हुए खचित है और एक नारी धरती में बैठा हाथों को याचना का

मुद्रा में उठाये हुए उकेरी गई है । यह अकन सम्भवत नर बलि की ओर सकेत करता है । शिव देवता की दो अन्य मुहरें भी उत्खनन में प्राप्त हुई हैं । कमर के चतुर्दिक मेखला (सिक्चर) को छोड यह देवता नग्न ही अकित हैं । इसके सिर पर सींगोंवाला आभरण है । एक मुहर में देवता त्रिमुख अकित है । दूसरी में देवता एक मुखी है । दोनों के सिरों में फूल पत्ते उगे हुए अकित है । यह अलकरण उक्त देवता के वनस्पति अथवा प्रजनन देवता होने की ओर इंगित करता है । सैन्धव लोगों द्वारा पशुओं की भी पूजा होती थी इसका पर्याप्त सकेत पशु आकृतियों के मुहरों में उत्कीर्ण किये जाने से मिलता है ।

चित्र शिल्प का ताम्राश्म युगीन स्वरूप —पाषाणिक मानव द्वारा शिलाश्रयों में की गई रैखिक चित्रकारी में हमें मानव के चित्रकला के क्षेत्र में किये गये प्रारभिक प्रयासों के दर्शन होते हैं । यह चित्र मुख्यत शिकारी शिकार और शिकार के आयुधों के अकन तक सीमित थे । चित्रकारी की यह परम्परा सिन्धु घाटी में भी दृष्टिगत होती है । इस युग में प्राकृतिक कन्दराओं के स्थान पर मृत्पात्र विविध प्रकार की आकृतियों और अलकरणों को चित्रित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं । इसे सहज ही मृत्पात्रों की चित्रकला कहा जा सकता है । स्पष्टत पाषाणयुगीन प्राकृतिक कन्दराओं में की गई चित्रकारी के पश्चात् कालक्रम की दृष्टि से सिन्धु घाटी में हडप्पा और मोहनजोदडो नामक दो प्रमुख केन्द्रों में *उत्खनित मिट्टी के बरतनों में की गई चित्रकारी का उल्लेख किया जा सकता है । यह चित्रकारी* मानवोपयोगी वस्तुओं की सज्जार्थ की गई है । सैन्धव युगीन मृद्भाण्डों पर की गई चित्रकारी से सम्बद्ध कुछ मानव आकृतियाँ पाषाणयुगीन मानव की चित्रकारी के समान प्रतीत होती हैं ।

मध्य एशिया भारत तथा चीन में जो नवीन सभ्यता 4000-3000 ईसा पूर्व अस्तित्व में आई उसके लिए पुरातत्त्ववेत्ताओं न मृत्पात्रों की सभ्यता सम्बोधन का प्रयोग उचित समझा है । इस सभ्यता के पोषक लोग पकाई मिट्टी के रगे हुए बरतनों का प्रयोग करते थे । यह सभी लोग अपने बरतनों को भाति–भाति की डिजाइनों से अलकृत करते थे । नाल मोहनजोदडो हडप्पा चान्हूदडो रुपड लोथल आदि भारत के विभिन्न स्थलों से यह चित्रित मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं । यह बरतन–भाँडे विविध प्रकार के थ । इनमें कुछ बरतन दैनिक उपयोग के थे तथा कुछ में शव गाढे जाते थे । सिन्धु घाटी के लोगों के कलानुराग विशेषत चित्रकारी से उनके प्रेम का कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वह अपने दिन–प्रतिदिन काम आने वाले पात्रों को ही नहीं वरन् शव गाढने वाले पात्रों को भी चित्रमय देखना पसद करते थे । शव पात्रों में मयूर का चिन्ह साधारणत बनाया गया है । एक स्थान पर महाकाय बकरे का चित्र है जिसके सिर पर चित्रित बडे सींग त्रिशूलाकृति अलकारों से सुशोभित है । शवपात्रों पर प्रयुक्त अन्य अभिप्रायों में लहरिया रेखाएँ मछली पत्तियाँ पेड–पौधे उडती चिडिया तारे रश्मिमाला युक्त मण्डल आदि उल्लेखनीय है । इन विविध अलकरणों का प्रयोजन सम्भवत द्विविध रहा होगा एक धार्मिक लक्ष्यों की पूर्ति तथा दूसरा मात्र पात्र की सज्जा। मिट्टी के पात्रों में विविध प्रकार की ज्यामितिक आकृतियाँ यथा सरल रेखाओं वृत्तों कोणों वर्गों आदि का बाहुल्य है । इसके अतिरिक्त फूलों पत्तियों पशुओं पक्षियों आदि की आकृतियों का उपयोग भी किया गया है । पत्तियों में हस मयूर मुर्गा कबूतर आदि का पर्याप्त चित्राकन हुआ है । पशुओं में बारहसिधा हिरन, आदि का अकन हुआ है । अलकरण के लिए प्रयुक्त अन्य विषयों में मानव तथा मत्स्य अभिप्रायों का उल्लेख किया जा सकता है । एक पात्र में एक मछुवे को कन्धे पर दो जालों की बहगी (विहगिका) उठाये हुए चित्रित किया गया है (चित्र —41) । श्मशान एच से प्राप्त मिट्टी के एक ठिकरे पर चित्रित
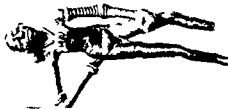
शिकारी कुत्ता हिरन के पीछे पडकर उसे फाड रहा है (चित्र —41) । मोहनजोदडो से कुछ मिट्टी की रगी हुई मूर्तिया भी प्राप्त हुई हैं जिनको देखने से तत्कालीन चित्रकला के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है । सैन्धव लोग अपने बरतनों में लाल पोत देकर काली रेखाओं से चित्र बनाते थे । यहा का कुम्हार मिट्टी के बरतन चाक पर बनाता था । इन बरतनों पर लाल या गेरु मिट्टी की पोत चढाई जाती थी । यहॉं से प्राप्त होने वाले बरतनों में कूँडे तश्तरी तीखी पेंदी के कुल्हड बोतलनुमा अमृतघट गोल लम्बोतरे लोटे बेपेंदी के आबखोर लोटे भगौने (भाग द्रोण) टोंटीदार करवे या झारी तथा एक विशेष प्रकार की गोडेदार तश्तरी जो सम्भवत धूप जलाने या पुष्पार्चन के काम आती थी का उल्लेख किया जा सकता है। सिन्धु घाटी से काफी मात्रा में बहुत ही छोटी आकृति के (1/2 से 1 1/2) पात्र मिले हैं। इनकी ओप और सुन्दरता दर्शनीय है। यह सम्भवत बच्चों के मनोरजन के लिए निर्मित होते थे ।

गुजरात में लोथल से भी चित्रित मृत्पात्र प्राप्त हुए हैं । ऐसा लगता है कि मिट्टी के उत्कृष्ट बरतनों का निर्माण और उन पर चित्रकारी की कला का इस युग में पर्याप्त विकास हो चुका था । यहाँ से प्राप्त खपडे में बना हुआ घोडा और एक कलश पर बने हुए गौरैया तथा हिरन के चित्र इस बात के प्रमाण हैं । इसी तरह एक मिट्टी के बरतन पर साप बतख मोर और ताड वृक्ष आदि के सुन्दर चित्र उस युग के कलाकारों की निपुणता को प्रमाणित करते हैं । रग विधान की दृष्टि से इन चित्रों का पर्याप्त महत्व है । यहाँ से प्राप्त होने वाले बरतन सैन्धव सभ्यता के मृत्पात्रों की तरह सुन्दर हैं । इन पात्रों को अच्छी तरह पकाया गया है। यहाँ से घडे लैम्प चषक ट्रे आदि विविध पात्र प्राप्त हुए हैं । यहाँ की पात्र परम्परा में मिलने वाले चित्रों को दो वर्गों में रखा गया है । प्रथम वर्ग के चित्र हडप्पा व मोहनजोदडो के चित्रों से सादृश्य रखते हैं । इन्हें लोथल के उत्खननकर्ता श्री रगनाथ राव ने साम्राज्यवादी शैली की चित्रण परम्परा कहा है । द्वितीय वर्ग के पात्रों में चित्रित अभिप्राय लोथल या सौराष्ट्र क्षेत्र तक सीमित है । इन्हें प्रान्तीय शैली की चित्रण परम्परा के अन्तर्गत रखा जाता है । यहाँ के कुछ चित्रों को देखने से ऐसा लगता है मानों कलाकार चित्रों के माध्यम से किसी कहानी को स्वर दे रहा है । यहाँ के प्रारंभिक चित्रणों में अण्डार्ध लहरिया शक्करपारा समानान्तर पट्टियाँ आदि सम्मिलित हैं। नये प्रकार के चित्रों में हिरण बारहसिंघा बतख और सर्प के चित्रों का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ से रेखा चित्रों के साथ–साथ ज्यामितीय चित्र भी प्राप्त होते हैं ।

कोट दिजी (सिन्ध में खैरपुर क पास) स प्राक् सैन्धव सस्कृति के उपर सैन्धव सस्कृति क मृद्भाण्ड प्राप्त हुये हैं । यहाँ क मृत्पात्रों की सज्जार्थ प्रयुक्त अभिप्रायों (मोटिफ्स) में अनक रखाए पट्टी मत्स्य शल्क मोर मृग आदि सम्मिलित है । हडप्पा सभ्यता क अन्य केन्द्र रोपड स प्राप्त होने वाले मिट्टी के बरतनों में भी चित्रण के लिए प्रयुक्त अभिप्राय सैन्धव पात्रों के समान ही हैं । पीपल का पत्ता त्रिकोण मत्स्य शल्क (फिश स्केल) और वृत्त का चित्रण यहाँ भी हुआ है । कालीबगा सैन्धव सभ्यता से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण केन्द्र है जहा से चित्रित मृद्भाण्डों के नमूने प्राप्त होते हैं । यहाँ बरतनों के निर्माण में चाक का प्रयोग किया गया है । इन बरतनों का रग लाल अथवा गुलाबी है । इन पात्रों पर काले और सफेद रग से चित्रकारी की गई है। यहाँ के चित्र रैखिक एव ज्यामितीय हैं । यहाँ के मृत्पात्रों में चित्रकारी के लिए प्रयुक्त वर्ण योजना सैन्धव पात्रों से कुछ भिन्न है । जहाँ सैन्धव सस्कृति के पात्र खण्डों पर प्राय लाल पर काले रग से अभिप्रायों का चित्रण किया गया है वहाँ कालीबगा में काले रग तथा यदा कदा श्वेत रग से भी चित्रकारी की गई है । चाहुन्दडो से प्राप्त एक

ठिकरे पर पीली पृष्ठभूमि पर लाल, काले और सफेद रगों से पशु पक्षियों की आकृतियों चित्रित हैं । इस चित्रण परम्परा का सम्बन्ध सम्भवत प्राग हडप्पा कालीन नाल से प्राप्त पीले नीले, लाल हरे तथा सफद रगों से चित्रित पात्रों से प्रतीत होता है । पात्रों में चित्रित आकृतियों में हिरण साकिन या जगली बक्रा (आइबेक्स) बिच्छू, मछली बतख तितली आदि के अतिरिक्त मत्स्य शल्क पेड पौधे, त्रिकोण मूछ के आकार की गणना की जा सकती है । यहाँ से प्राप्त होने वाले पात्रों में गोल तथा चिपटी पेंदी के घडे मटके तश्तरिया कटोरे पेंदी दार तथा सकरे मुह वाले कलश आदि सम्मिलित हैं । यहाँ का कुम्भकार अपनी कला में निष्णात था ।

रोलैण्ड के अनुसार मोहनजादडो मृद्भाण्डों की मृग तथा साकिन सहित कुछ डिजाइनें प्राचीन ईरानी सस्कृति से ली गई हैं जिनका प्रवेश भारत में बलूचिस्तान की पर्वत श्रृङ्खलाओं के मार्ग से हुआ [1] । ईरान व मेसोपोटामिया की समकालिक सभ्यताओं के मृद्भाण्डों से सैन्धव मृद्भाण्डों की भिन्नता उन पुराविदों के लिए प्रश्न चिन्ह खडा करती है जो ताम्राश्म सस्कृति की प्रत्येक उपलब्धि में पश्चिमी एशियाई सम्स्कृतियों का प्रभाव ढूढने के अभ्यस्त हैं । प्राय सग्रह पात्र (स्टोरेज जार) भट्ठों में बनते थे । उनमें लाल रग पोता हुआ मिलता है । इन पर काले रग से जो बेल-बूटे के अलकरण चित्रित है उनका पश्चिमी एशिया के साथ कोइ सम्बन्ध प्रतीत नही होता । लगभग सभी सैन्धव केन्द्रों से इस प्रकार के बरतन प्राप्त होते हैं ।

सन्धव मूर्तिशिल्प — सैन्धव केन्द्रों स उत्खनन में जो विविध प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है उससे उन लोगों की कलात्मक गतिविधि की व्यापक जानकारी उपलब्ध होती है । नाना प्रकार के अगणित मृद्भाण्डों उनमें चित्रित पशु-पक्षी वनस्पति तथा अभिप्रायों हजारों विविध आकार प्रकार तथा पदार्थों से निर्मित उत्कीर्ण एव अनुत्कीर्ण मुहरों आभूषणों मनोरजन उपकरणों से ताम्राश्म युगीन मानव जीवन के विविध पक्षों यथा सामाजिक सास्कृतिक आदि पर प्रकाश पडता है । उक्त उपकरण लोगों की कलात्मक अभिरुचि के साथ-साथ कलाकार की मौलिकता रचनात्मक प्रवृत्ति तथा हस्त कौशल का प्रतिनिधित्व करत हैं । इसके अतिरिक्त सैन्धव कलाकार की रचनात्मक प्रतिभा सुन्दर प्रतिमाओं क निर्माण में भी मुखरित हुई है । मूर्तियों का निर्माण जिन विभिन्न पदार्थों से हुआ है उनमें पत्थर धातु तथा मिट्टी की गणना की जा सकती है । यद्यपि सर्वाधिक मूर्तियों का निर्माण मिट्टी से ही हुआ है तथापि धातु तथा प्रस्तर से प्रतिमा निर्माण की परम्परा का निर्वाह करने वाली कुछ मूर्तियों के नमूने सैन्धव केन्द्रों से प्राप्त हुए हैं।

मानव ने प्रतिमाओं का निर्माण सोद्देश्य किया है। विश्वभर में मूर्तियों के निर्माण के पीछे सम्भवत मनुष्य के दो मूल प्रेरक तत्व रहे हैं। अतीत की स्मृति को विस्मृत होने से बचाना अर्थात् प्रतिमाओं के माध्यम से उसे जीवन्त रखना मूर्ति निर्माण का प्रथम उद्देश्य प्रतीत होता है। प्रतिमा निर्माण को प्रेरित करने वाला दूसरा तत्व मानव की अव्यक्त को अभिव्यक्त करने अमूर्त को मूर्तरूप देने तथा भाव को आकार प्रदान करने की उत्कट अभिलाषा में सन्निहित है। सैन्धव केन्द्रों से प्राप्त होने वाली प्रतिमाएँ इसका अपवाद नही हैं। अतीत के सरक्षण और आकार विहीन को साकार रूप देने की प्रवृत्ति मे ही मानव सभ्यता का विकास प्रेरित और अनुप्राणित हुआ है। पशु जगत से सम्बन्धित

1 रोलैण्ड, बैंजामिन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आव इण्डिया पृ 41

विभिन्न अभिप्रायों का चित्राकन एव शिल्पाकन करके मानव ने सम्भवत अपने आस पास के वन्य प्राणियों की स्मृति तथा उन पर अपनी विजय को चिरस्थाई बनाने का उपक्रम किया है। सामान्यत भारतीय कला की स्थिति धर्म की अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में है। मानव द्वारा निर्मित प्रतिमाएँ उसके अदृश्य सत्ता के सम्बन्ध में भावों का आकार देने की चेष्टा का प्रतिफल है। यद्यपि प्रतिमाएँ एव चित्र दोनों ही मानव के भौतिक जीवन की पूर्ण उपेक्षा नही करते तथापि सैन्धव मूर्तिकला में भी धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध प्रतिमाओं का अभाव नहीं है। ताबे पत्थर एव मिट्टी से निर्मित कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रतिमाओं तथा पशु एव वनस्पति जगत स सम्बद्ध कुछ आकृतियों के चित्राकन खचन एव शिल्पाकन से इस बात की पुष्टि हाती है।

मिट्टी की प्रतिमाएँ सैन्धव केन्द्रा से विभिन्न पदार्थों द्वारा निर्मित मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें मिट्टी से बनी प्रतिमाओं की सख्या सर्वाधिक है। सिन्ध तथा बलूचिस्तान के अनेक स्थलों से लगभग 4000 वर्ष ईसा पूर्व कृषक समुदायों के अस्तित्व क प्रमाण मिले हैं। यहाँ से प्राप्त हाने वाली प्रतिमाएँ मूर्तिनिर्माण कला की प्राचीनता की आर सकेत करती हैं। तृतीय सहस्राब्दी के प्रथमार्द्ध में उत्तरी और दक्षिणी बलूचिस्तान में दो महत्वपूर्ण सकृतियाँ फूली फली थी। भारत म मूर्तिया ढालने की कला का प्रारम्भ उत्तरी बलूचिस्तान के झौब एव दक्षिणी बलूचिस्तान के कुल्ली नामक स्थलों से प्राप्त मिट्टी की मूर्तियों में देखा जाना चाहिए इन दोनों स्थलों से अनेक स्त्रियों और पशुओं की मूर्तिया प्राप्त हुई हैं। कुल्ली से प्रभूत मात्रा में नारी और पशु की लघु प्रतिमाएँ मिली हैं। इन लघु आकार की मूर्तियों के निर्माण के पीछे क्या ध्येय था तथा इनका ठीक-ठीक क्या उपयोग रहा हागा यह बताना कठिन है। नारी की बडी सख्या में मृणमूर्तियों की विभिन्न स्थलों में उपलब्धि को दखते हुए उनको देवी की प्रतिमाएँ मानना असमीचीन नही हागा। सम्भवत छोटे आकार की नारी प्रतिमाएँ घरों में स्थापित देव स्थलों में देवी की मूर्तियों क रूप में प्रयुक्त होती थी। आज के लोकप्रिय हिन्दूधर्म में भी जिसकी जडें प्रागैतिहासिक युग तक विस्तृत हैं मृणमूर्तियों का उपयोग ग्रामीण मन्दिरों में स्थापनार्थ अथवा व्रत क रूप में चढाने के लिए होता है। शाही टुम्प के हडप्पीय स्तर से वृष की 80 लघु प्रतिमाएँ एव एक गाय की मूर्ति प्राप्त हुई थी।[2] कोट ल्जिी से भी मिट्टी से बनी साड की प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। इनक साथ 5 मातृदेवी की प्रतिमाएँ भी (जिनमें से दा भग्न हैं) उपलब्ध हुई हैं।

ऐसा लगता है कि कुल्ली एव हडप्पा सस्कृतियाँ न्यूनाधिक मात्रा में साथ साथ पल्लवित हो रही थीं। सैन्धव कला की विख्यात कास्य निर्मित नृत्यागना के केश विन्यास तथा कुल्ली की लघु मृणमूर्तियों के केश विन्यास में समानता है। दानों स्थलों की मूर्तियों की बनावट में साम्य दिखाई देता है। पशु आकृतियों में वृष के ककुद पर विशष ध्यान केन्द्रित किया गया है। आखें चित्रित व शरीर सींगों सहित धारियों वाला बनाया गया है। शैली की एकरुपता के आधार पर कहा जा सकता है कि यह भारतीय ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित साड का ही प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ से खिलौने भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। नारी प्रतिमाएँ प्राय सादी हैं।

नारी की मूर्तियों में चित्राकन नहीं मिलता। मूर्तिनिर्माण में शरीर के विभिन्न भागों का निर्माण अगूठे तथा अगुलियों से किया गया है। मूल आकृति में अनेक अग अलग स जोडे जाते थे जैसे नाभि

2 साकलिया एच डी द प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटाहिस्ट्री आव इण्डिया एण्ड पाकिस्तान पृ 323

आख बाल आदि । यह प्रतिमाएँ उत्तम प्रकार की लाल रग की पकाई गई मिट्टी से निर्मित की गई है। सभी मिट्टी की प्रतिमाएँ लगभग एक प्रकार की हैं। प्रतिमाओं में जो भी अन्तर स्पष्टत दिखाई देता है वह प्राय सिर की पोषाक अथवा आभूषणों के प्रकारों से सम्बद्ध है। यहाँ की प्रतिमाए सम्भवत किसी आधार पर रखी जाती थी जैसा कि मूर्तियों के मात्र कमर तक पाये जाने से सकेतित है। मूर्तियों की कुछ सामान्य विशेषताओं में चपटी नाक पतले कपोल और आखों के स्थान पर गोल गढे आदि का उल्लेख किया जा सकता है ।

झौब से उपलब्ध होने वाली मूर्तियों में काया के अगों का नैसर्गिक प्रतिनिधित्व कलाकारों की मूर्ति गढन की कला में निपुणता का द्योतक है। झौब और कुल्ली से प्राप्त होने वाली नारी प्रतिमाएँ मातृदेवी का प्रतिनिधित्व करती हैं। यहाँ की कुछ मूर्तियाँ भयावह लगती हैं। इनका मूल स्वरूप नि सन्देह ऐसा नही था। शरीर में अलग से चिपकाये जाने वाले कुछ अगों के लुप्त हो जाने के कारण ही प्रतिमाएँ डरावनी लगती हैं। झौब तथा कुल्ली की मूर्तियाँ न केवल भारतीय मूर्तिशिल्प की प्रारम्भिक स्थिति का ज्ञान कराती है वरन् वह एक विशेष प्रकार की शैली के अस्तित्व का भी प्रतीक है। यद्यपि यह शैली परिष्कृत नहीं है । हडप्पा सस्कृति का झौब एव कुल्ली दोनों ही सस्कृतियों से सम्पर्क था। यहाँ भी बलूचिस्तान के उक्त दो स्थानों की मिट्टी की मूर्तियाँ ढालने की परम्परा का अनुकरण हुआ है। हडप्पा सस्कृति पहाडों से मैदान में छितरी हुई लघु कृषक समुदायों से बडे-बडे सगठित नगर समुदायों में एव कृषि प्रधान आर्थिक ढाचे से व्यापार प्रधान आर्थिक ढाचे तक के परिवर्तन का घोतक है।

एम के सरस्वती के विचार में हडप्पा सस्कृति के अन्तर्गत दो प्रकार की परम्पराएँ मूर्ति निर्माण के क्षेत्र में विकसित हुई— मृणमूर्ति निर्माण की परम्परा और प्रस्तर एव ताम्र मूर्ति निर्माण परम्परा । प्रथम परम्परा सम्भवत साधारण वर्ग से सम्बन्धित थी जिसने झौब और कुल्ली की कृषक सस्कृति का अनुगमन किया । द्वितीय परम्परा हडप्पा सस्कृति के उच्च वर्ग से सम्बन्धित थी । मिट्टी से निर्मित प्रभावशाली एव सुन्दर प्रतिमाओं में मोहनजोदडो से प्राप्त एक नारी की मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है इसके गले में कठा (चौकर) बाहुओ में भुजबन्ध (खादि) तथा छाती पर पाच भाति भाति के आकार वाले हार अकित है। बडा हार कन्धों से झूलता हुआ करधनी को छूता हुआ अकित हैं। मूर्ति के सिरपर पखे नुमा आभरण (ऋग्वेद के ओपश से तुलनीय) है जिसके निचले भाग पर एक फीता बधा हुआ है। हार के दानों ओर उन्नत स्तन हैं। आखों के स्थान पर गोल पुतलिया दर्शाई गई हैं । शरीर पर मुख अलग से चिपकाया हुआ है। इस मृणमूर्ति में मात्र जघाओं से ऊपरी भाग तक का ही अकन है। मूर्ति की बनावट अलकरण आदि के आधार पर यह नि सन्देह देवी की मूर्ति लगती है (चित्र 42) । एक अन्य खडी मुद्रा में लगभग समान अलकरण वाली मूर्ति प्राप्त हुई है। सिर में ऊपर को उठा हुआ चौडा पखेनुमा आभरण अकित है। अगुली रहित हाथ पैर सीधे डन्डे जैसे दिखाए गये हैं (चित्र 43)। यह तथा अन्य इसी प्रकार की प्रतिमाएँ जो भारत के विभिन्न भागों से उपलब्ध होती है मातृदेवी की मूर्तियाँ प्रतीत होती है। मातृदेवी की उपासना की परम्परा सिन्धुघाटी के अतिरिक्त मिश्र मेसोपोटामिया ईरान क्रीट और भूमध्यसागर पर्यन्त अनेक प्राचीन देशों में प्रचलित थी । इसे इश्तर आइसिस इन्निनी अदिति आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। भारतीय साहित्य में उसे देवों की माता अदिति कहा गया है जो आगे चलकर श्रीलक्ष्मी तथा विष्णुपत्नी क रूप में स्थापित हुई[3] । प्राय मातृदेवी की मूर्तिया निर्वस्त्र ही बनाई गई है किन्तु कहीं कहीं कमर के नीचे का भाग वस्त्र से

3 अग्रवाल, वासुदेवशरण भारतीय कला, पृ० 31

आच्छादित है। यहाँ इस बात का उल्लेख अप्रासगिक नहीं होगा कि सैन्धव लोगों ने भारत में मातृदेवी की पूजा की परम्परा प्रारम्भ की जिसका अनुकरण देवी शक्ति तथा उसके अनेकानेक रूपों की पूजा के रूप में बाद में किया गया। यहाँ से प्राप्त पुरुष आकृतियों की विशेषताओं के रूप में पीछे की ओर ढलुआ माथा लम्बी कटावदार आखे लम्बी नाक चिपकाया हुआ मुख भौंडा धड़ आदि का उल्लेख किया जा सकता है।कुछ सींगों वाली मूर्तियाँ एव सींगदार मुखौटे भी साचे में ढले हुए प्राप्त हुए हैं। इन मूर्तियों में तिरछी आखें का अकन इनके विशिष्ट उपयोग की ओर सकेत करता है। मानव आकृतियों केअतिरिक्त यहाँ से बहुत अधिक सख्या में पशु आकृतियाँ मिली हैं। पशु मूर्तियों में कूबड युक्त वृषभ हाथी सुअर गेंडा बन्दर,बकरा भेड कछुआ पक्षी आदि की गणना की जा सकती है।

कूबड युक्त वृषभ का सुन्दर एव प्रभावकारी शिल्पाकन मुहरों तथा मिट्टी की प्रतिमाओं में समानरूप से हुआ है। वृष के अग प्रत्यगों की बनावट से उसकी शक्ति प्रदर्शित होती है। सम्भवत उनकी धार्मिक आस्था एव श्रद्धा से जुडे हुए प्राणियों का सर्वाधिक महत्वपूण प्रतिनिधि वृषभ हा था।

सैन्धव केन्द्रों से प्राप्त होने वाले मिट्टी के बरतनों पर जिन विविध प्रकार के अभिप्रायों का उपयोग पात्रों की सुन्दरता में वृद्धि के लिए बहुलता से किया गया है उनमें ज्यामितीय डिजाइनों का अपना स्थान है। वृत्त समचतुर्भुज डाइमण्ड, फीता (शेवरन) आदि ज्यामितीय अभिप्राय नाल से उपलब्ध होने वाले मृत्पात्रों में प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार के अलकरण अभिप्राय विभिन्न सैन्धव केन्द्रों से भी प्रकाश में आये हैं। त्रिभुज भी पर्याप्त लोकप्रिय अभिप्राय है(चित्र– 44) जिसका उपयोग पात्रों के चित्रण में बहुलता से हुआ है। इनका उपयोग वस्त्र निर्माण में भी होता था। वस्त्र उद्योग सिन्धु घाटी में कुम्भकार के उद्योग की भाति एक अत्यन्त विकसित उद्योग था। सैन्धव लोगों द्वारा वस्त्रों का पश्चिम एशिया को भी निर्यात होता था। वस्त्रों में त्रिफुलिया अलकरण भी प्रयुक्त होता था जैसा कि सेलखडी से निर्मित एक पुरुष प्रतिमा के उर्ध्व वस्त्र पर खचित अलकरण से इगित होता है। इस अलकरण के प्रमाण मिश्र मेसोपोटामिया क्रीत आदि देशों से भी मिले हैं।

सिन्धु घाटी के लोग एक विशेष प्रकार की काचली मिट्टी (फेअन्स) से भी खिलौने तथा मूर्तिया बनाते थे। इस पदार्थ विशेष से निर्मित नमूनों में लिपट कर बैठे हुए बानर बैठी हुई गिलहरी तथा दुबका हुआ मेढा उल्लेखनीय हैं। काचली मिट्टी के निर्माण में सम्भवत स्फटिक पत्थर (क्वार्टज) का चूर्ण तथा कभी–कभी पिसा हुआ काच भी मिलाया जाता था। उक्त मिश्रित चूर्ण को तेज आच में पकाने के पश्चात उसका स्वरूप कुछ कच्चे सीसे जैसा हो जाता था। इसके पश्चात अपेक्षित रग मिलाकर वस्तुओं को तेज आव वाले आवें में रखते थे। इस प्रकार का मिट्टी का उपयोग पश्चिमी एशिया के पुराने स्थलों में भी होता था। हडप्पा के शिल्पियों ने सम्भवत यह कला मेसोपोटामिया या ईलम से सीखी थी [4]। किन्तु सैन्धव लोगों ने इसके उपयोग तथा निर्माण की प्रक्रिया में पर्याप्त सुधार किया। सम्भवत वर्तनों पर काच की पालिश चढाने की विधि सिन्धु घाटी से सर्वप्रथम प्रारम्भ हुई थी। यद्यपि वास्तविक शीशा सर्वप्रथम मिश्र में ही बना।

ताम्र प्रतिमाएँ—हडप्पा सभ्यता के निर्माता धातु से मूर्ति निर्माण करने की प्रक्रिया से परिचित थे। इस दिशा में उनकी प्रगति के प्रतीक स्वरूप नर्तकी महिष तथा मेढे की मूर्तियों का उल्लेख किया

4 पिगट स्टुअर्ट प्रीहिस्टोरिक इण्डिया पृ 195

जा सकता है। पश्चिमी एशिया की अन्य सभी प्राचीन नगरीय सभ्यताओं की भांति हडप्पा सभ्यता औपचारिक रूप में कास्य युगीन सभ्यता थी जिसके अन्तर्गत औजार एव उपकरणों के निर्माण हेतु केवल ताबा और कासा नामक धातुऐं प्रयुक्त होती थी। सम्भवत ताबा राजपूताना से प्राप्त होता था। ताम्र प्राप्ति के अन्य प्राचीन सम्भावित स्रोतों की श्रृखला में फारस का भी उल्लेख किया जा सकता है। हडप्पा के ठठेरे ताबे तथा मिश्रित धातु कासे से उपकरणों का निर्माण करते थे। ताबे में रागा मिला कर कासा बनता था। ताबे व सखिया या हरताल (कॉपर एण्ड आर्सेनिक) से बनी मिश्रित धातु का भी उपयोग होता था। हडप्पा की धातु कला में पिगट के अनुसार ढलाई एव गढाई दोनों ही तकनीकों का उपयोग किया जाता था। ढलाई की प्रक्रिया में धातु को गला कर अपेक्षित आकृति के निर्माणार्थ साचे में डाला जाता था। शुद्ध ताम्र धातु की बन्द साचे में ढलाई का कार्य पर्याप्त कठिन था किन्तु ताबे में टिन व हरताल की अल्प मात्रा (1 प्रतिशत से भी कम) मिलाने स ढलाई अपेक्षया आसानी से की जा सकती थी। इस प्रक्रिया में मोम से अपेक्षित आकृति बनाई जाती थी फिर उसमें मिट्टी की पर्त चढाई जाती थी। इसके पश्चात साचे के निर्माणार्थ उसे इतना गर्म किया जाता था कि मोम पके हुए साचे में एकाकार हो जाय। इसके बाद अपेक्षित आकृति के निर्माण हेतु पिघली हुई धातु साचे में उडेली जाती थी। मोहनजोदडो से प्राप्त नर्तकी की प्रतिमा इसी प्रक्रिया से बनी थी।

मोहनजोदडो से उपलब्ध धातु से बने उपकरणों में लगभग अक्खड मुद्रा में ताम्र से निर्मित एक नृत्यागना की प्रतिमा सर्वाधिक उल्लेखनीय है। मूर्ति के बाये हाथ में कलाई से बाहुमूल तक बगडी अथवा कडे पहने हुए है। राजस्थान की ग्राम्य महिलाओं द्वारा आज भी इस प्रकार के कडों का उपयोग उक्त पुरातन परम्परा की निरन्तरता की ओर सकेत करता है। दाहिना हाथ कटि प्रदेश पर रखा हुआ है। इस हाथ में भी दो-दो कडे एव भुजबन्द पहने हुए हैं । मूर्ति का पैरों का भाग खण्डित है। उसकी भुजाओं और जघाओं का अकन आनुपातिक नहीं है। वह शरीर के अनुपात में कुछ अधिक लम्बी हैं। उसके गले में त्रिफुलिया हार है। बाल घुघराले हैं जिन्हें एक जूडे में बाधा गया है। मूर्ति कुल 4 1/2 ऊँची है । अग्रवाल के अनुसार प्रतिमा में अकित कडों को ऋग्वेद में खादय कहा गया है। नृतु का उदाहरण सम्भवत इसी प्रकार की मूर्ति के लिए आया हुआ जान पडता है। यह मूर्ति अपनी सहज एव स्वाभाविक मुद्रा से दृष्टा का ध्यान अनायास खींचती है (चित्र-45) ।

इस प्रकार की मूर्ति ढालने की परम्परा का अस्तित्व कालान्तर में भी बना रहा। चाल युगीन दक्षिण भारत की नटराज शिव की मूर्ति तथा सुल्तानगज से प्राप्त गौतम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण उक्त परम्परा के अन्तर्गत ही हुआ। सिन्धु घाटी में ताम्र का प्रयाग उपकरणों के निर्माण के लिए प्राय किया जाता था। ताबे के लिए वेदों में अयस शब्द का प्रयोग हुआ है। ताबे से बनी हुई अन्य उल्लेखनीय मूर्तियों में महिष (भैंस) तथा मेढे (भेड) की मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। इन पशु आकृतियों का शिल्पाकन सहज एव स्वाभाविक शैली में किया गया है (चित्र 46 और 47) ।

पाषाण निर्मित मूर्तियॉ — पाषाण से निर्मित प्रतिमाओं की सख्या पर्याप्त कम है। उपलब्ध प्रतिमाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि हडप्पा सभ्यता के अन्तर्गत पत्थर से मूर्तियों के निर्माण की कला का विकास हो चुका था। यदि मूर्तियों की सख्या को आधार माना जाय तो सिन्धु घाटी में धातु से सम्बद्ध मूर्ति का शिल्प के एक वर्ग के रूप में उल्लेख हास्यास्पद होगा। धातु और प्रस्तर की प्रतिमाओं की भले ही अत्यल्प सख्या हो किन्तु उनका उपलब्ध होना इस बात की ओर पर्याप्त सकेत करता है कि लोग इन पदार्थों से मूर्तियों को बनाने की कला जानते थे। पाषाण द्वारा निर्मित विविध आकार प्रकार की मूर्तियों की कुल सख्या 11 बताई जाती है। लगभग सभी प्रस्तर प्रतिमाओं की

आच्छादित है। यहाँ इस बात का उल्लेख अप्रासगिक नहीं होगा कि सैन्धव लोगों ने भारत में मातृदेवी की पूजा की परम्परा प्रारम्भ की जिसका अनुकरण देवी शक्ति तथा उसके अनेकानेक रूपों की पूजा के रूप में बाद में किया गया। यहाँ से प्राप्त पुरुष आकृतियों की विशेषताओं के रूप में पीछे की ओर ढलुआ माथा लम्बी कटावदार आखे लम्बी नाक चिपकाया हुआ मुख भौंडा धड़ आदि का उल्लेख किया जा सकता है।कुछ सींगों वाली मूर्तियाँ एव सींगदार मुखौटे भी साचे में ढले हुए प्राप्त हुए हैं। इन मूर्तियों में तिरछी आखों का अकन इनके विशिष्ट उपयोग की ओर सकेत करता है। मानव आकृतियों केअतिरिक्त यहाँ से बहुत अधिक सख्या में पशु आकृतियाँ मिली हैं। पशु मूर्तियों में कूबड युक्त वृषभ हाथी सुअर गेंडा बन्दर बकरा भेड कछुआ, पक्षी आदि की गणना की जा सकती है।

कूबड युक्त वृषभ का सुन्दर एव प्रभावकारी शिल्पाकन मुहरों तथा मिट्टी की प्रतिमाओं में समानरूप से हुआ है। वृष के अग प्रत्यगों की बनावट से उसकी शक्ति प्रदर्शित होती है। सम्भवत उनकी धार्मिक आस्था एव श्रद्धा से जुडे हुए प्राणियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि वृषभ ही था।

सैन्धव केन्द्रों से प्राप्त होने वाले मिट्टी के बरतनों पर जिन विविध प्रकार के अभिप्रायों का उपयोग पात्रों की सुन्दरता में वृद्धि के लिए बहुलता से किया गया है उनमें ज्यामितीय डिजाइनों का अपना स्थान है। वृत्त समचतुर्भुज डाइमण्ड फीता (शेवरन) आदि ज्यामितीय अभिप्राय नाल से उपलब्ध होने वाले मृत्पात्रों में प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार के अलकरण अभिप्राय विभिन्न सैन्धव केन्द्रों से भी प्रकाश में आये हैं। त्रिभुज भी पर्याप्त लोकप्रिय अभिप्राय है (चित्र– 44) जिसका उपयोग पात्रों के चित्रण में बहुलता से हुआ है। इनका उपयोग वस्त्र निर्माण में भी होता था। वस्त्र उद्योग सिन्धु घाटी में कुम्भकार के उद्योग की भाति एक अत्यन्त विकसित उद्योग था। सैन्धव लोगों द्वारा वस्त्रों का पश्चिम एशिया को भी निर्यात होता था। वस्त्रों में त्रिफुलिया अलकरण भी प्रयुक्त होता था जैसा कि सेलखडी से निर्मित एक पुरुष प्रतिमा के उर्ध्व वस्त्र पर खचित अलकरण से इगित होता है। इस अलकरण के प्रमाण मिश्र मेसोपोटामिया क्रीत आदि देशों से भी मिले हैं।

सिन्धु घाटी के लोग एक विशेष प्रकार की काचली मिट्टी (फिअन्स) से भी खिलौने तथा मूर्तिया बनाते थे। इस पदार्थ विशेष से निर्मित नमूनों में लिपट कर बैठे हुए बानर बैठी हुई गिलहरी तथा दुबका हुआ मेढा उल्लेखनीय हैं। काचली मिट्टी के निर्माण में सम्भवत स्फटिक पत्थर (क्वार्टज) का चूर्ण तथा कभी–कभी पिसा हुआ काच भी मिलाया जाता था। उक्त मिश्रित चूर्ण को तेज आच में पकाने के पश्चात उसका स्वरूप कुछ कच्चे सीसे जैसा हो जाता था। इसके पश्चात अपेक्षित रग मिलाकर वस्तुओं को तेज आच वाले आवें में रखते थे। इस प्रकार का मिट्टी का उपयोग पश्चिमी एशिया के पुराने स्थलों में भी होता था। हडप्पा के शिल्पियों ने सम्भवत यह कला मेसोपोटामिया या ईलम से सीखी थी [4]। किन्तु सैन्धव लोगों ने इसके उपयोग तथा निर्माण की प्रक्रिया में पर्याप्त सुधार किया। सम्भवत बर्तनों पर काच की पालिश चढाने की विधि सिन्धु घाटी से सर्वप्रथम प्रारम्भ हुई थी। यद्यपि वास्तविक शीशा सर्वप्रथम मिश्र में ही बना।

ताम्र प्रतिमाएँ—हडप्पा सभ्यता के निर्माता धातु से मूर्ति निर्माण करने की प्रक्रिया से परिचित थे। इस दिशा में उनकी प्रगति के प्रतीक स्वरूप नर्तकी महिष तथा मेढे की मूर्तियों का उल्लेख किया

4 पिगट, स्टुअर्ट प्रीहिस्टोरिक इण्डिया पृ 195

जा सकता है। पश्चिमी एशिया की अन्य सभी प्राचीन नगरीय सभ्यताओं की भाति हडप्पा सभ्यता औपचारिक रूप में कास्य युगीन सभ्यता थी जिसके अन्तर्गत औजार एव उपकरणों के निर्माण हेतु केवल ताबा और कासा नामक धातुएँ प्रयुक्त होती थी। सम्भवत ताबा राजपूताना से प्राप्त होता था। ताम्र प्राप्ति के अन्य प्राचीन सम्भावित स्रोतों की श्रृखला में फारस का भी उल्लेख किया जा सकता है। हडप्पा के ठठेरे ताबे तथा मिश्रित धातु कासे से उपकरणों का निर्माण करते थे। ताबे में रागा मिला कर कासा बनता था। ताबे व सखिया या हरताल (कॉपर एण्ड आर्सेनिक) से बनी मिश्रित धातु का भी उपयोग होता था। हडप्पा की धातु कला में पिगट के अनुसार ढलाई एव गढाई दोनों ही तकनीकों का उपयोग किया जाता था। ढलाई की प्रक्रिया में धातु को गला कर अपेक्षित आकृति के निर्माणार्थ साचे में डाला जाता था। शुद्ध ताम्र धातु की बन्द साचे में ढलाई का कार्य पर्याप्त कठिन था किन्तु ताबे में टिन व हरताल की अल्प मात्रा (1 प्रतिशत से भी कम) मिलाने से ढलाई अपेक्षया आसानी से की जा सकती थी। इस प्रक्रिया में मोम से अपेक्षित आकृति बनाई जाती थी फिर उसमें मिट्टी की पर्त चढाई जाती थी। इसके पश्चात साचे के निर्माणार्थ उसे इतना गर्म किया जाता था कि मोम पके हुए साचे में एकाकार हो जाय। इसके बाद अपेक्षित आकृति के निर्माण हेतु पिघली हुई धातु साचे में उडेली जाती थी। मोहनजोदडो से प्राप्त नर्तकी की प्रतिमा इसी प्रक्रिया से बनी थी।

मोहनजोजडो से उपलब्ध धातु से बने उपकरणों में लगभग अक्खड मुद्रा में ताम्र् से निर्मित एक नृत्यागना की प्रतिमा सर्वाधिक उल्लेखनीय है। मूर्ति के बाये हाथ में कलाई से बाहूमूल तक बगडी अथवा कडे पहने हुए है। राजस्थान की ग्राम्य महिलाओं द्वारा आज भी इस प्रकार के कडों का उपयोग उक्त पुरातन परम्परा की निरन्तरता की आर सकेत करता है। दाहिना हाथ कटि प्रदेश पर रखा हुआ है। इस हाथ में भी दो–दो कडे एव भुजबन्द पहने हुए हैं । मूर्ति का पैरों का भाग खण्डित है। उसकी भुजाओं और जघाओं का अकन आनुपातिक नहीं है। वह शरीर के अनुपात में कुछ अधिक लम्बी हैं। उसके गले में त्रिपुलिया हार है। बाल घुघराले हैं जिन्हें एक जूडे में बाधा गया है। मूर्ति कुल 4 1/2 ऊँची है । अग्रवाल के अनुसार प्रतिमा में अकित कडों का ऋग्वेद में खादय कहा गया है। नृतु का उदाहरण सम्भवत इसी प्रकार की मूर्ति के लिए आया हुआ जान पडता है। यह मूर्ति अपनी सहज एव स्वाभाविक मुद्रा से दृष्टा का ध्यान अनायास खींचती है (चित्र-45) ।

इस प्रकार की मूर्ति ढालने की परम्परा का अस्तित्व कालान्तर में भी बना रहा। चोल युगीन दक्षिण भारत की नटराज शिव की मूर्ति तथा सुल्तानगज से प्राप्त गौतम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण उक्त परम्परा के अन्तर्गत ही हुआ। सिन्धु घाटी में ताम्र का प्रयोग उपकरणों के निर्माण के लिए प्राय किया जाता था। ताबे के लिए वेदों में अयस शब्द का प्रयोग हुआ है। ताबे से बनी हुई अन्य उल्लेखनीय मूर्तियों में महिष (भैंस) तथा मेढे (भेड) की मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। इन पशु आकृतियों का शिल्पाकन सहज एव स्वाभाविक शैली में किया गया है (चित्र-46 और 47) ।

पाषाण निर्मित मूर्तियाँ — पाषाण से निर्मित प्रतिमाओं की सख्या पर्याप्त कम है। उपलब्ध प्रतिमाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि हडप्पा सभ्यता के अन्तर्गत पत्थर से मूर्तियों के निर्माण की कला का विकास हो चुका था। यदि मूर्तियों की सख्या को आधार माना जाय तो सिन्धु घाटी में धातु से सम्बद्ध मूर्ति का शिल्प के एक वर्ग के रूप में उल्लेख हास्यास्पद होगा। धातु और प्रस्तर की प्रतिमाओं की भले ही अत्यल्प सख्या हो किन्तु उनका उपलब्ध होना इस बात की आर पर्याप्त सकेत करता है कि लोग इन पदार्थों से मूर्तियों को बनाने की कला जानते थे। पाषाण द्वारा निर्मित विविध आकार प्रकार की मूर्तियों की कुल सख्या 11 बताई जाती है। लगभग सभी प्रस्तर प्रतिमाओं की

लम्बाई स्थूलत 5-6" से 16-17 के मध्य है। अनेक मूर्तियाँ आधी अधूरी एव भग्न अवस्था में प्राप्त होती हैं । इन प्रतिमाओं में घोया पत्थर या सेलखडी से निर्मित लगभग 16-1/2 ऊँची पुरुष मूर्ति उल्लेखनीय है जिसके सिरमें पात (रिबन) आखों में पच्चीकारी तथा ठुड्डी में बालों का अकन है द्वितीय घोया पत्थर को 11 ऊँची पुरुष प्रतिमा के अधोभाग में धोती लुगी की तरह बधी है। बाये कन्धे पर उत्तरीय तथा पीठ पर गुथे हुए केशों की चोटी अकित है। अन्य प्रतिमाओं में श्वेत पाषाण का 5 1/2" ऊँचा मस्तक जिसमें सीपीनुमा कान एव एक आख में पच्चीकारी है श्वेत पत्थर का 7 ऊँचा पीछे की ओर बधे हुए जूडे युक्त मस्तक जिसमें आगे बाल पात से बधे मूछें सफाचट सीपी जैसे कान आखों में पच्चीकारी श्वेत पाषाण की प्रतिमा का मस्तक (लगभग 7" ऊँचा) जिसके बाल जूडे में बधे हैं कान सीपीनुमा आखों में पच्चीकारी और ठुड्डी सफाचट श्वेत पत्थर की भग्न मूर्ति जिसमें पहले पालिश थी श्वेत पाषाण की बैठी हुई 8 1/2 ऊँची भग्न मूर्ति जिसमें हाथ घुटन पर टिका है श्वेत पत्थर की 10" ऊँची एक मिश्रित पशुमूर्ति जिसका माथा शुण्डयुक्त हाथी का तथा शेष काया मेढे की है और श्वेत पाषाण की ही 8 1/2 ऊँची एक अन्य पुरुष आकृति (अपूर्ण) जिसके हाथ घुटनों पर सिरके चतुर्दिक पात तथा टागों में तहमद बधी है का उल्लेख किया जा सकता है।

हडप्पा से प्राप्त होने वाली दो पत्थर की प्रतिमाएँ बनावट की शैली शरीर की सुडौलता एव स्वाभाविकता के कारण प्रभावित करती हैं । यह दोनों ही मूर्तिकार के रचना कौशल एव शिल्प क्षमता क उल्लखनीय प्रमाण हैं । दानों ही खण्डित मूर्तियाँ हैं। इनमें से माधवस्वरूप वत्स को जो लाल बालुकाश्म (सैण्ड स्टोन) की मूर्ति मिली थी वह एक युवा पुरुष का धड है (चित्र-48) । मूर्ति की गर्दन और कन्धों में छिद्र बने हुए हैं ताकि उनमें क्रमश सिर एव भुजाओं को अलग स बनाकर यथा स्थान जोडा जा सक। लगभग 4" ऊँचा यह धड पूर्णत नग्न है। मूर्ति का ऊदर भाग कुछ स्थूल है। यह मूर्ति अनायास ही परवर्तकालीन यक्ष प्रतिमाओं की स्मृति ताजा करती है। कुछ विद्वान इसमें तथा कुषाण युगीन मूर्ति शिल्प की शैली में साम्य पाते हैं। वस्तुत दोनों में शैलीगत समानताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं।

धुमैल पाषाण (सेलाइमस्गेन) से निर्मित दूसरी प्रतिमा भी लगभग 4 ऊँची है। इसके भी हाथ पैर और सिर मूल आकृति में अलग से लगाये जाते थे। यह मूर्ति दयाराम साहनी को हडप्पा के उत्खनन में मिली थी। मूर्ति की बनावट शरीर विन्यास स्थूल नितम्ब क्षीण कटि आदि नारी सुलभ अर्गो को ध्यान में रखते हुए अग्रवाल ने इसे नव युवती की मूर्ति माना है। उनकी दृष्टि में उसके अनेक अग नारी सौन्दर्य की ओर इगित करते हैं। यह नृत्य मुद्रा में अकित प्रतिमा है। मार्शल ह्वीलर आदि पुरातत्ववेत्ताओं ने इसे पुरुष आकृति कहा था (चित्र-49) ।

सिन्धु घाटी की सर्वोत्तम प्रतिमाओं में मोहनजोदडो से प्राप्त सलखडी से निर्मित दाढी वाली पुरुष आकृति है। यह आवक्ष (बस्ट) प्रतिमा अनेकश उल्लेखनीय है। इसके दाढी एव सिर के केश अच्छी तरह सवारे गये हैं। सिर क बाल एक फीते से बधे हुए हैं। शरीर विशेष प्रकार के त्रिफुलिया अलकरण युक्त उत्तरीय (चादर) स आच्छादित है। इस मानवाकृति का कपोल छोटा और पीछे की आर ढालू है। गर्दन माटी है और आखें अधमुदी हैं । उत्तरीय में खचित त्रिफुलिया अलकरण का सम्बन्ध मिश्र एव पश्चिमी एशिया के देशों में देव प्रतिमाओं के साथ था। सम्भवत इसी कारण मैके ने इसे पुजारी की मूर्ति कहा था। वस्तुत यह किसी योगी की प्रतिमा लगती है। जिसका ध्यान नाक के सिरे पर केन्द्रित है। सिन्धु घाटी में योग का अस्तित्व पशुपति शिव की मुहरों में उत्कीर्ण आकृतियों से भी प्रमाणित है (चित्र-50) ।

अध्याय — 3

वैदिक युगीन भारतीय कला

आर्यो की पहचान, मूल निवास एव प्राचीनता—बीसवी शती के तृतीय दशक के प्रारम्भ में ताम्राश्मयुगीन सभ्यता की खोज से वैदिक संस्कृति के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव चिरन्तन स्रोत ऋग्वेद की प्राचीनता एव प्रतिष्ठा प्रभावित हुई। सैन्धव सभ्यता के प्रकाशित होने से पूर्व तक भारतीय ज्ञान-विज्ञान धर्म-दर्शन व्यवहार सहिता आदि का मूल ऋग्वेद में ही ढूढने की चेष्टा की जाती थी। अनेक धार्मिक विश्वासों एव मान्यताओं तथा भौतिक संस्कृति की प्राचीनता इस नवीन प्रागितिहासिक सभ्यता में खोजने के साथ ही आर्यों को सैन्धव सभ्यता के विनाश के साथ भी जोडा जाता है। वैदिक युद्ध के देवता इन्द्र को आर्यों की आक्रामक समर वाहिनी का सेनानायक माना जाता है। सैन्धव नगरों का व्यापक विनाश करने के कारण ही उसने पुरन्दर नामक (पुरों का विनाशक) सुविख्यात उपाधि अर्जित की।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के पश्चात के स्तर से उत्खनित संस्कृति को वैदिक आर्यों से सम्बद्ध करने वाला कोई ठोस प्रमाण नहीं है। हडप्पा संस्कृति के उपर पाई जाने वाली भूरे रग के चित्रित मृत्पात्रों की संस्कृति को आर्यों से जोडा जाता है। पुरातात्त्विक उत्खननों में अभी तक यज्ञ से जुडे हुए ऐसे उपकरण आदि प्रकाश में नहीं आये हैं जिन्हें वैदिक आर्यों से सम्बद्ध किया जा सके। यहाँ यह उल्लेख करना अनुपयुक्त नही होगा कि महाभारत के युद्ध से सम्बन्धित सभी उत्खनित स्थलों से भूरे चित्रित मृत्पात्रों की संस्कृति के प्रमाण मिले हैं।

आर्यों की पहचान मूल निवास एव प्राचीनता से सम्बद्ध प्रश्न दीर्घकाल मे विद्वानों के लिए गवेषणा एव वाद-विवाद के ज्वलन्त प्रश्न रहे हैं। अनेक देशी एव विदेशी विद्वानों ने आर्यों के मूल निवास के विषय में विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। अधिकाश पश्चिमी विद्वान आर्यों को विदेशी आक्रान्ता मानते हैं। 16 वी शती के इटालवी व्यापारी फिलिप्पो ससेति ने गोवा प्रवास (1583 1588 ई0) के पश्चात सर्वप्रथम इस बात की ओर सकेत किया था कि संस्कृत एव कुछ प्रमुख यूरोपीय भाषाओं के मध्य कुछ निश्चित सम्बन्ध है। 1786 ई0 में विलियम जोन्स ने यह बताया कि यह सम्बन्ध समान स्रोत से उत्पत्ति के कारण है। उसके विचार में लेटिन ग्रीक जर्मन और संस्कृत भाषाएँ एक ही भाषा परिवार की हैं। इन सभी भाषाओं का मूल उत्पत्ति स्थल एक ही है। सक्षेप में यह मत व्यक्त किया गया कि विविध भाषाओं में साम्य इस बात की ओर सकेत करता है कि इनका बोलने वालों के पूर्वज अतीत में एक ही स्थान पर रहते थ और एक भाषा बोलते थे। इस पुरानी जाति के लिए इण्डो-जर्मन इण्डो-ईरानियन इण्डो-यूरोपियन आर्य आदि अनेक सम्बोधन प्रयुक्त होने लगे। आर्यों की विभिन्न शाखाएँ थीं जो यूरोप और एशिया में अनेक स्थानों में फैली। 16 वी शती ई पूर्व ईराक के क्षेत्र पर आक्रमण करने वाली कस्साईत् जाति आर्यों की जाति थी। मितन्नी एव खत्ती (हित्ताइत) जातियों के राज्यों में जो सन्धि हुई थी उसके साक्षी देवताओं में इन्द्र वरुण मित्र एव नासत्य

का उल्लख बागज़काई क अभिलख में हुआ है। उक्त दानों ही आर्य जातियाँ थीं ।

अनेक विद्वान सैन्धव लोगों व आर्यो में भेद नहीं करत । ऋग्वदिक आर्यों का सैन्धव लागों के पूर्वगामी मानने के साथ ही आर्यों की ही एक शाखा को सैन्धव सभ्यता का निर्माता भी मानते हैं। जान मार्शल ने सैन्धव सस्कृति एव आर्य सस्कृति के मध्य भद करते हुए प्रथम का द्वितीय स पुरातन माना है। उसके द्वारा रेखाक्ति अन्तर सूचक बिन्दुओं में आर्यों द्वारा माहनजोदडों के शिव सम्प्रदाय का अपनाना उल्लेखनीय है। उसके अन्य तर्कों में सिन्धु घाटी क लागों की घोडे क विषय में अनभिज्ञता तथा मूर्तियों का प्रचलन आदि की गणना की जा सकती है। किन्तु मोहनजादडों से प्राप्त घोडे स मिलती-जुलती आकृति वाले पशु को मैके न घोडा ही माना है। उसक अनुसार सैन्धव लोगों को घोडे का ज्ञान था। चाइल्ड क अनुसार माहनजादडों के कहा-कहीं निम्नस्तर स घाडे की काठी (जान) क अवशषों का मिलना तथा सैन्धव कला में घोडे का अकन इस बात की पुष्टि करता प्रतीत हाता है कि सैन्धव लोग घोडे स परिचित थे।

आर्यो के मूल निवास का प्रश्न भी विवादास्पद है। मैक्समूलर आदि अनेक विद्वान आर्यो का मूल निवास मध्य एशिया मानते हैं। बाल गगाधर तिलक उत्तरी ध्रुव को गाइल्स आदि डेन्यूब नदी की घाटी को तथा मायर्स और प्रोफेसर चाइल्ड दक्षिणी रूस का आर्यों का मूल निवास स्थान मानते थे। अनेक भारतीय विद्वानों के अनुसार सप्तसिन्धु प्रदश में आर्यों का मूल निवास था। अविनाशचन्द्र दास इस विचार के प्रमुख समर्थक थे। सिन्धु सरस्वती सतलज (शुतुद्रि) चनाब (असिक्नी) जेहलम (वितस्ता) व्यास (विपाशा) तथा रावी (परुष्णी) नामक सात नदियों से आवृत क्षेत्र ही आर्यो की कर्मभूमि सप्त सिन्धु प्रदेश था । वेदों में इस क्षेत्र की पर्याप्त प्रशसा की गई है। इसी क्षेत्र के भरतवशी राजाओं न कालान्तर में समूच आर्यावर्त पर अपना चक्रवर्ती शासन स्थापित कर लिया था। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इस विषय पर कोई निर्णायक मत व्यक्त करना कठिन है कि आर्यो का मूल निवास स्थल कहाँ था।

वैदिक साहित्य आर्यों की वैभवशाली सभ्यता के विषय में हमारे अध्ययन का प्रमुख आधार है। पुरातत्व से इस दिशा में अभी तक कोई उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त नहीं हो सका है। वैदिक काल की कला का अध्ययन वैदिक ग्रथों में मानव की कलात्मक गतिविधि स सम्बन्धित सदर्भो के आधार पर ही किया जा सकता है । जो कला सम्बन्धी सन्दर्भ यत्र-तत्र साहित्य में उपलब्ध होते हैं उनकी सख्या न केवल बहुत कम है वरन पुरातत्व से उनकी पुष्टि भी नहीं होती। उत्खनन स्थलों में वैदिक युग से सम्बन्धित सामग्री की अनुपलब्धि न अनक विद्वानों को यह कहन के लिए प्रेरित किया कि आर्यों की सभ्यता नगरीय सैन्धव सभ्यता के विपरीत एक ग्रामीण सभ्यता थी । आर्य मुख्यत पशुपालन एव खेती करते थे ग्रामों में रहते थे। उन्होंने अपनी पूर्वगामी देश के मूल निवासियों की अत्यन्त विकसित नगरीय सभ्यता के विनाश में क्रियात्मक भूमिका निभाई। आर्यो ने उनकी उत्कृष्ट नगर योजना का अनुकरण नहीं किया।

वैदिक युगीन शिल्पकलाएँ -- वैदिक युग में विविध शिल्पों का विकास हो चुका था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि कभी-कभी एक परिवार के अनेक सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय अपनात थ जैस पुत्र शिल्पी का पिता वैद्य का तथा माता उपले (कण्डे गोबर के) पाथने का। वैदिक ग्रथों में अनेक धातुओं का प्राय उल्लख इस बात की ओर सकेत करता है कि धातु उद्योग का विकास हो चुका था।

युद्ध के हथियारों तथा खती के विविध उपकरणों के निर्माण में भी विविध धातुओं का उपयोग हाता था। अयस शब्द का वैदिक साहित्य में उल्लेख हुआ है । अयस लाहे और काम में स कोई भी धातु हो सकती है। किन्तु अयस को लाल वर्ण की धातु होने क कारण प्राय ताने का पर्यायवाची माना जाता है। ऋग्वेद में लाहार के लिए सम्भवत कर्मार शब्द प्रयुक्त हुआ है। कर्मार जिस अयस नामक धातु के उपकरणों का निर्माण करता था वह निश्चित ही ताबा था जैसा कि यजुर्वेद के तत्सम्बन्धी प्रसग से इगित होता है। वहाँ हिरण्य (स्वर्ण) सीसे त्रपु (टिन) के साथ अयस और लोह का अलग- अलग धातु क रूप में उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में भी अयस एव लाह का भिन्न-भिन्न धातुओं के रूप में उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि अयस आदि धातुओं का उपकरण बनाने हेतु आग में तपाया जाता था। उक्त कथन की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण के इस कथन से कि अयम को तपान पर वह स्वर्णिम रग का दिखने लगता है से भी होती है। यह बताना कठिन है कि धातु से किन-किन वस्तुओं का निर्माण होता था। वैदिक साहित्य स इस सम्बन्ध में लगभग कोई सहायता नही मिलती है।

ऋग्वेद के एक मत्र में आयसी पुर (अर्थात् अयस से निर्मित नगर) का उल्लेख है। ऋग्वद क एक सदर्भ से एमा लगता है कि ताम्र का उपयाग शल्य क्रिया द्वारा कृत्रिम टाग के निर्माणार्थ भी सम्भवत हाता था। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि अश्विन वैदिक समाज में निष्णात वैद्यों के रूप में प्रतिष्ठित थ। वेद में अश्विनों द्वारा खल की पत्नी विशपला की युद्ध में खाई हुई टाग क स्थान पर जघा आयसी प्रदान किय जाने के उल्लेख स इसका सकेत मिलता है[1] । ऋग्वद में आयस (अयस से निर्मित) हथियार धारण किय जाने का उल्लेख हुआ है[2]। वृत्र घातक वज्र का भी इसके साथ ही उल्लेख हुआ है। सम्भव है वज्र का निर्माण भी किसी धातु से ही हुआ हो।

धातुओं से हथियारों और कृत्रिम अगों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के पात्रों के निर्माण किये जाने की सभावना से इकार नहीं किया जा सकता। वैदिक कालीन रथों में भी धातु के सम्भावित उपयाग की उपेक्षा नही की जा सकती है । खेतों में खडी तैयार फसल काटने के लिए प्रयुक्त होने वाले हसिये का निर्माण ताबे या लोहे से ही होता था। सम्भवत यजुर्वेद में उल्लिखित सुराधानी स्थाली आदि पात्र धातु स ही बने थे। अन्य धातुओं में सुवर्ण हिरण्य तथा निष्क का वेदों में प्राय उल्लेख हुआ है। हिरण्य से वैदिक युग में आभूषण बनते थे। निष्क कुछ विद्वानों के विचार में स्वर्ण निर्मित व्यापार विनिमय की कोई इकाई थी। निष्क को कुछ विद्वान स्वर्ण हार भी मानते हैं । वैदिक समाज में स्वर्णाभूषणों का प्रचलन अवश्य रहा होगा। हो सकता है हिरण्य शब्द वैदिक युग में धन के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ हो। ऋग्वेद में सिन्धु नदी के लिए हिरण्यमयी सम्बोधन उक्त नदी की धनोपार्जन के स्रोत के रूप में स्थिति की ओर ही सकेत करता है। कर्मार (लोहार) द्वारा स्वनिर्मित उपकरणों के बदले (अर्थात् उनके विक्रय से) हिरण्य की इच्छा (अर्थात् धन की इच्छा) से भी इसकी पुष्टि होती है।

वैदिक काल का एक अन्य महत्वपूर्ण शिल्प तक्षा (बढई) का शिल्प था। तक्षा अथवा त्वष्ट्र काष्ठकर्म से सम्बद्ध शिल्पी था। वह लकडी से विभिन्न प्रकार के लोकोपयोगी उपकरण बनाता था। ऋग्वेद में जिन विभिन्न व्यवसायों की सूची का उल्लेख हुआ है उसमें बढई का व्यवसाय सम्मिलित

1 ऋग्वेद 1 116 15

2 वही 8.29 3

है। जिस प्रकार वैदिक समाज में वैद्यकी के अपन ज्ञान के कारण अश्विन विख्यात थे उसी प्रकार रिभु शिल्पों की अपनी विशिष्ट जानकारी के कारण प्रतिष्ठित थे। बढई स्वधिति (वसूला या कुल्हाडी) की सहायता स लक्डी को सुन्दर आकृति में परिवर्तित करता था। भृगु वशियों को ऋग्वेद में प्रतिष्ठा (10 39 14) रथकार के रूप में थी।

यजुर्वेद [3] में लाहार कुम्हार आदि जिन विविध शिल्पकारों का अभिवादन किया गया है उनमें तक्षक और रथकार भा सम्मिलित हैं। बढई अथवा रथकार की सामाजिक प्रतिष्ठा आज के समाज में हवाई जहाज क पाइलट की प्रतिष्ठा स तुलनीय है। युद्ध में विजय स्पष्टत रथ की उत्कृष्टता तथा रथ चालन की कुशल क्षमता पर निर्भर थी। ऋग्वेद के एक मत्र में (8 91 7) रथ के साथ साथ अनस का भी उल्लेख है। अनस क प्रयाग का सदर्भ शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है। यह सम्भवत एक ऐसा स्थूल वाहन था जो अपक्षया उबड-खाबड मार्ग पर भी चलाया जा सकता था। रथ न केवल पर्याप्त परिष्कृत वाहन था वरन उसके निर्माण में अधिक उन्नत शिल्प का यागदान अपेक्षित था। वैदिक साहित्य में रथ क विभिन्न अनुभागों यथा अक्ष (धुरा) चक्र (पहिया) अर (पहिये के डन्डे) आदि का अनेक बार उल्लख हुआ है। वैदिक युगीन वर्धकी रथादि के अतिरिक्त विविध प्रकार की चौकिया तथा आसन्दियाँ भी बनाता था। यजुर्वेद एव अथर्ववेद में उनके उल्लेख से इस बात की पुष्टि होती है। वैदिक साहित्य में नदियों क अतिरिक्त समुद्र तथा नावों द्वारा समुद्र की यात्रा के सन्दर्भ मिलते हैं। ऋग्वेद के एक मत्र में वरुण द्वारा समुद्र के बीच में ले जाई गई नौका का उल्लेख है। वैदिक साहित्य में नौका का अनेकत्र उल्लेख हुआ है। यह नौकाएँ विविध आकार-प्रकार की होती थी। नौकाएँ काठ की बनी होती थीं। इन नौकाओं का निर्माण बढई द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में एकसौ (शतारित्र) चप्पू वाली नाव का उल्लेख हुआ है [4]। इतनी विशाल नौकाए निश्चित ही समुद्री मार्ग स व्यापार के लिए प्रयुक्त होती होंगी।

ऋग्वेद में एक विख्यात पणि की कथा आती है जिसकी स्मृति किसी न किसी रूप में मनुस्मृति एव नीतिमञ्जरी में भी सुरक्षित है। वृबु नामक पणि पेशे स तक्षा था। उसका सभी शिल्पी सम्मान करते थे। वह स्वभाव से दानी था। उसने भरद्वाज ऋषि का बहुत सी सम्पत्ति दान में दी था। उक्त कथा स यह बात ज्ञात होती है कि पणि तक्षा का कार्य भी करत थे। उनके इस अतिरिक्त ज्ञान से समुद्र पर्यन्त व्यापार में उन्हें अवश्य सहायता मिलती हागी।

वैदिक युगीन उद्योगों की श्रृखला में वस्त्रों की बुनाई का उद्याग अन्य उल्लेखनीय उद्योग था। बुनाई की कला से सम्बन्धित अनेक शब्द साहित्य में मिलते हैं यथा ताना (तन्तु) बाना (ओतु) करघा (तन्त्र) वयन (बुनाई) सूची (सुई) कौश (कौशेय या रेशमी) तसर (ढरकी) आदि। वैदिक साहित्य में ऊन और ऊन से बने वस्त्र का उल्लेख हुआ है। गधार के ऊनी वस्त्रों की उस युग में प्रतिष्ठा थी। ऊन कातने का कार्य प्राय स्त्रिया करती थीं। आर्य कपडे सीने की कला से परिचित थे। कपास का सम्भवत वैदिक साहित्य में उल्लेख नहीं है। किन्तु सिन्धु घाटी के लोगों को कपास से वस्त्र निर्माण की प्रक्रिया ज्ञात थी। बुनाई के कार्य में सभी लोग रुचि रखते थे। यह कार्य कलात्मक शिल्प की श्रेणी में रखा जाता था। वैदिक साहित्य में इनके अतिरिक्त अन्य अनेक उद्यागों से सम्बन्धित शब्द मिलते हैं।

---

3 यजुर्वेद 16 27

4 ऋग्वेद 1 116 3-5

अथर्ववेद में हिरन के चमडे (अजिन) का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के चमडे का उपयोग प्राय वैदिक युग के वनों में स्थित आश्रमों में रहने वाले परिव्राजकों एव वानप्रस्थियों द्वारा किया जाता होगा। निश्चित ही कुछ लोग इस उद्देश्य के लिये चर्म जुटाने का कार्य करते होंगे। शतपथ ब्राह्मण में चर्म के वस्त्र को अजिन वास कहा गया है। चर्म से जूते बनाने का कार्य भी किया जाता था। सुअर की खाल से कमाये गये चमडे द्वारा पैर के लिए जूते बनाये जाते थे। इस प्रकार के वराह चर्म से निर्मित जूतों का उपानहों के रूप में शतपथ ब्राह्मण में अनेकत्र उल्लेख मिलता है। आर्यों के कबीलों में परस्पर होते रहने वाले युद्धों में धनुष बाण का मुख्य आयुध क रूप में प्रयोग होता था। यह अनुमान लगाना सर्वथा सगत होगा कि धनुष बाण तथा प्रत्यञ्चा बनाने का भी विकसित उद्योग रहा होगा। प्रत्यञ्चा बनाने वाला ज्याकार तथा कवच बनाने वाला वर्मकार कहलाता था।

वैदिक युगीन वास्तुकला — साधारणत यह माना जाता है कि द्वितीय सहस्राब्दी के प्रारम्भ में ही सैन्धव सभ्यता का पतन हो गया था। पुरातात्विक उत्खननों से भी सैन्धव नगरों के पतन की पुष्टि होती है। शक्तिशाली एव अनुभवी निर्माण शैली वाला सैन्धव सभ्यता अत्यन्त सुनियोजित व विकसित होते हुए भी अपना प्रभाव कालान्तर की स्थापत्य शैली पर नहीं छोड सकी। निश्चित ही एक महान परिवर्तन हुआ जिसने घटना क्रम में भी नयी शुरुवाद आवश्यक बना दी। स्थूलत एक विकसित सभ्यता का अनुगमन करने वाली सभ्यता अपने में अधिक विकास के स्पष्ट लक्षणों को सजोए हुए रहती है। किन्तु सुविकसित एव सुनियोजित सैन्धव सभ्यता के पश्चात विकसित होने वाली आर्य सभ्यता इसका अपवाद प्रतीत होती है। सैन्धव सभ्यता के विपरीत आर्यों की वास्तुकला के पुरातात्विक अवशेषों की अनुपलब्धि से इस बात की पुष्टि होती है। इस प्रकार का असाधारण परिवर्तन विश्व के इतिहास में अज्ञात नहीं है। 13 वीं शती ई० पूर्व के माइसीनी यवनों ने अपन स्थाई निर्माण पद्धति के स्थान पर घास फूस एव मिट्टी के अस्थाई आवास का निर्माण प्रारम्भ किया। वैदिक काल में हमें स्थापत्य के क्षेत्र में सुनियोजित एव प्रौढ शैली का अभाव मिलता है। इस क्षेत्र में हमें गावों का स्वरूप प्रारभिक अवस्था में देखन को मिलता है। ग्रामों की झोपडिया मिट्टी और सरकण्डे की बनती थीं। ऐसा लगता है कि सस्कृति का पुन निर्माण हो रहा था। इस नवीन सस्कृति का जन्म भारत में पश्चिमोत्तर सीमा से प्रवेश करन वाली इण्डो-आर्य जाति से सम्बन्धित है जिसने वैदिक युग का शिलान्यास किया। आर्यो का सैन्धवजनों से कोई सम्बन्ध न था यह बात दोनों सस्कृतियों के निर्माताओं के रहन-सहन तौर-तरीकों और भवन निर्माण कला के क्षेत्र में भिन्नता से स्पष्ट हो जाती है। सैन्धव लोग नगर निवासी एव व्यापारी थे। आर्य कृषक थे आर उनकी आजीविका का प्रमुख आधार कृषि था। पर्सी ब्राउन के विचार में आर्यों के सामान्य मिट्टी लकडी व पत्तियों से बनने वाले इन घरों में ही वास्तव में भारतीय स्थापत्य कला का प्रारम्भ ढूढा जाना चाहिए।

वैदिक सहिताओं से हमें आर्यो की वास्तुकला के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। वेदों में वास्तु एव विविध शिल्पों से सम्बन्धित सूचना यत्र-तत्र बिखरी हुई है। अभी तक वैदिक शिल्पाकृतियों के भौतिक अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। वैदिक साहित्य में वास्तु से सम्बन्धित शब्दों की बहुलता इस बात की ओर सकेत करती है कि गृह निर्माण कला के सभी आधारभूत तत्वों से आर्यजन अच्छी तरह परिचित थे। प्राय उनके आवासगृह काष्ठ बास घास-फूस और परवर्ती काल में ईंट के बनते थे। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की वेदी के निर्माण में ईंटों के व्यापक प्रयोग का उल्लेख मिलता है।

वदी के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली ईंट का प्रतीकात्मक महत्व था। आर्यों के यह घर गोलाकार एव वर्गाकार होते थे। वैदिक साहित्य में उपलब्ध सदर्भों से स्पष्ट है कि वास्तुविद्या के ज्ञाताओं को द्वार छत स्तम्भ नाव आदि अनक ऐतिहासिक युगीन वास्तुकला के तत्वों का ज्ञान था।

अथववद (3 12 3) क शालासूक्त में शालाओं के निर्माण का उल्लेख है। यह शालाएँ (आवास गृह) स्तम्भों घास एव बास की सहायता से निर्मित होती थी। अन्यत्र नवें काण्ड में अनेक पक्षी शालाओं का उल्लेख हुआ है यथा द्विपक्षा चतुष्पक्षा षटपक्षा अष्टपक्षा दसपक्षा [5]। चतुष्पक्षा का चतुर्भूमिक अर्थात् चारमजिली अथवा चार कक्ष वाली शाला यह दोनों अर्थ किये जा सकते हैं। शालाओं क निर्माण पदार्थ (घास फूस बास बल्लिया आदि) को ध्यान में रखते हुए पक्षा का अर्थ भूमि के स्थान पर खण्ड अथवा कक्ष करना अधिक युक्ति सगत प्रतीत होता है। निःसन्देह कहा जा सकता है कि आर्यों की शालाएँ अथवा झोपडे कभी-कभी आठ दस खण्डों वाले विशाल आकार के भी बनते थे।

आर्यों की शालाओं में कभी-कभी गायों को भी रखा जाता था जैसा कि अथववद (3 14 6) *में गायों के स्वागत में आह्वान से सकेतित है। शालाओं के सुदृढ बने रहने के साथ ही उनके गायों* अन्न सन्तति आदि अनेक भौतिक सुख साधनों से भरपूर रहने की भी आर्य जन अपनी प्रार्थनाओं में कामना करते थे। साहित्य में ग्राम एव पुर दानों ही शब्दों का उल्लेख मिलता है। आर्य लाग प्राय गावों में रहते थे। आजकल की भाति कुछ ग्राम दूर दूर बसे होते थे तथा कुछ एक दूसरे क पर्याप्त निकट [6]। बड ग्रामों को महाग्राम [7] कहा जाता था। वैदिक ग्रामों क चारों ओर लकडी की बाड बनाई जाती थी। इस प्रकार की बाड का निर्माण पश्चातकालीन स्तूपों के चतुर्दिक किये जाने की परम्परा चल पडी। स्तूप की बाड को वेदिका या वेष्टिनी भी कहते थे। बौद्ध स्तूपों की वेदिका में बने तोरण (विशाल द्वार)के तिरछे प्रस्तर पादागों (आर्किट्रेव) युक्त डिजाइन तथा वेदिका की सुनिश्चित डिजाइन वैदिक शाला के बाडे एव उसक प्रवेश द्वार के डिजाइन से प्रेरित प्रतीत होता है। आज भी भारत के अनेक ग्रामों में गौशालाओं के चतुर्दिक बने बाडे में वेदिका का वही डिजाइन वैदिक युग की स्मृति दिलाता है। इसमें दो खडे स्तम्भों में गोल छेद किये जाते हैं जिनमें काष्ठ के गोल डन्डे फसाये जाते हैं। गौशाला में प्रवेश की इच्छा रखने वाले लाग तिरछे डन्डों को आवश्यकतानुसार प्रवेश पाने हेतु बाये अथवा दाये खिसका देते हैं। ग्राम आर्यों के जन जीवन की महत्वपूर्ण प्रतिनिधि इकाई थी । ग्रामों का मुखिया ग्रामणी आर्यों की राजनीतिक गतिविधि में ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था। ग्रामों का वेदों में अनेकत्र उल्लेख हुआ है । इन ग्रामों में चोर एव पिशाच का भय बना रहता था। अथर्ववेद में ग्राम में प्रवेश पाये हुए पिशाच स्तेन (चोर) आदि के विनाश के सदर्भ से उसकी पुष्टि होती है। शतपथ ब्राह्मण में ग्रामों उनकी सीमाओं तथा सीमान्त पर स्थित वनों में पशुओं तथा चोर डाकुओं आदि के निवास की बात कही गई है। वैदिक आर्य उक्त अनक स्रोतों से उत्पन्न भय से मुक्ति के लिए अग्नि देवता का आह्वान करते थे। अग्निदेव को ऋग्वेद में ग्रामों का रक्षक एव पुरोहित कहा गया है।

वेदों में अनेकत्र पुरों (नगरों) का उल्लेख हुआ है। इन्द्र देवता को पुरन्दर (पुरों का विनाशक)

---

5 अथर्ववेद 9 3 21

6 शतपथ ब्राह्मण 13 2 4 2

७ वैदिक इण्डेक्स, जिल्द 1 पृ० 244-245

करा जाता है। वेद में इन्द्र द्वारा शुष्ण के पुरों के नाश किये जाने का उल्लेख है[8] । ऋग्वेद में प्रस्तर से बने (अश्मनमयी)[9] नगरों का भी सदर्भ आता है। यह प्रस्तर निर्मित नगर सदर्भ से अनार्यों के प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद में निसदेह एक ऐसे नगर का उल्लेख हुआ है जिसमें आठ चक्र एव नौ द्वार थे। अयोध्या नामक यह पुरी देवताओं की थी। ऋग्वेद में दर्जनों पुरों का जिक्र आया है। वेदों में उल्लिखित पुरों के सदर्भ वस्तुत सिन्धु घाटी के किलेबन्द नगरों की स्मृति दिलाते हैं। पश्चात कालीन सस्कृत साहित्य में पुर शब्द का प्रयोग नगर के अर्थ में हुआ है। कुछ विद्वानों के विचार में पुर शब्द का प्रयोग गॅढ दुर्ग या प्राकार' के लिए भी हुआ है[10] । पुरों की अधिक सख्या उनको घेरने तथा नष्ट किये जाने के सदर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका निर्माण अपेक्षया सरलता से कर लिया जाता था। सम्भवत प्रारम्भ में पुरों का निर्माण मिट्टी से किया जाता था[11] । कुछ विद्वानों का यह विचार है कि वैदिक पुर मूलत बाहरी आक्रमणों से रक्षा के साधन थे। इनके चतुर्दिक खाई होने के साथ ही मिट्टी की प्राचीर भी बनी होती थी। अनेक स्थलों पर किये गये उत्खननों से नगरों की सुरक्षार्थ बनी रक्षा प्राचीरों के अस्तित्व के प्रमाण प्राप्त हुये हैं एरण (मध्य प्रदेश के सागर जिले में) स्थल के उत्खनन में प्राचीर युक्त नगर के अवशेष मिले है। यह अवशेष लगभग 1900 ई० पूर्व के माने जाते हैं । कृष्णदत वाजपयी के अनुसार ताम्राश्म युगीन यह बस्ती 700 इ0 पूव तक कायम रही। नगर को तीन दिशाओं से घेरती हुई रक्षा प्राचीर काली-पीली सख्त मिट्टी से बनाई गई थी। प्राचीनतम रक्षा प्राचीर लगभग 30 मीटर चौडी थी पश्चातकाल में वह लगभग 47 मीटर हो गयी। दीवार की ऊँचाई 6 41 मीटर थी। इस दीवार स साडे सोलह मीटर की दूरी पर परिखा थी जिसमें बीना नदी का जल भरा जाता था। इस खाई की गहराई लगभग साडे पाच मीटर तथा चौडाई 36 60 मीटर थी[12] ।

वेदों में गृह शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। स्पष्टत वहाँ इस शब्द का प्रयोग आवास स्थल अथवा घर के अर्थ में हुआ है। एक मत्र में हर्म्य शब्द भी आया है जिससे कोई बडी इमारत या महल अभिप्रेत है। इनके अतिरिक्त पस्त्या शरण सदन दुरोण आदि शब्द भी आवास गृह के लिये प्रयुक्त हुए हैं । वासुदव शरण अग्रवाल ने वैदिक साहित्य के गहन अनुशीलन के आधार पर वास्तुकला सम्बन्धी विविध शब्दों को एकत्रित किया है। उन्होंने इस सामग्री के आधार पर यह बताने की चेष्टा की है कि आर्यो ने वास्तुकला का पर्याप्त विकास कर लिया था[13] । वैदिक काल के घर अनेक आकार प्रकार के होते थे। घरों के निर्माण में स्तम्भों का प्रयोग किया जाता था। स्तम्भ अथवा स्कम्भ पर घर की छत सम्भवत टिकी रहती थी। घरों में अनेक कमरे हाते थे जैसा कि अथर्ववेद (9 3 7) में उल्लिखित अनेक कक्षों वाली शाला के सदर्भ से सकेतित है । उक्त ग्रथ से ज्ञात हाता है कि घर का (1) एक कमरा भडार गृह के रूप में प्रयुक्त हाता था जिसमें घरेलू जीवन से सम्बन्धित सामग्री के अतिरिक्त यज्ञादि कर्म की सामग्री भी रखी जाती थी। (2) द्वितीय कक्ष अग्निशाला के रूप

8 ऋग्वेद 4 30 13

९ वही, 4 30.20

10 वैदिक इण्डेक्स, जिल्द 1 पृ० 538

११ वैदिक एज (चतुर्थ सस्करण 1965) पृ० 402

12 वाजपेयी वास्तुकला का इतिहास पृ 32-33

13 अग्रवाल भारतीय कला पृ 56-61

में प्रयुक्त होता था। आर्य लोगों की धार्मिक आस्था का महत्वपूर्ण अग अग्नि पूजा था। अग्नि व महत्ता यज्ञ की दृष्टि से पुरोहित क रूप में तथा रक्षात्मक दृष्टि से पर्याप्त थी। आर्य लोग इसी कार अपने घरों में अग्नि को हमेशा प्रज्वलित रखने के लिए एक अलग कक्ष का प्रावधान रखते थे। (3 तृतीय कक्ष पत्नी सदन या जिसे स्त्रियों का प्रथक कक्ष या पश्चातकाल में अन्तःपुर कहा जाता था (4) चतुर्थ कक्ष का घर की बैठक के रूप में प्रयोग होता था। इसी कक्ष को सभा और बाद आस्थानमण्डप भी कहा जाने लगा। राजप्रासादों में यही भाग दरबार अथवा अतिथि स्वागत कक्ष के रूप में प्रयुक्त होने लगा। इसके अतिरिक्त पालतू पशुओं के लिए भी घरों में अलग व्यवस्था हो थी। इन घरों में अनेक प्रकार के पलग एव आसन आदि भी होते थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर व को तल्प पर आरोहण करने के लिए कहा गया है। सम्भवत तल्प शब्द का प्रयोग यहाँ पलग अ में किया गया है।ऋग्वेद में तीन प्रकार की शय्याओं का उल्लेख मिलता है[14]।

वैदिक आर्यों के घर छोटे व बडे दोनों ही प्रकार के होते थे। सहस्रस्थूण तथा सहस्रद्वार[15] शब्दों का प्रयोग जिन घरों के लिए हुआ है वे निसदेह बहुत बड आकार क घर रहे होंगे। सम्भवत महाप्रासादों के सभामण्डपों में हजार स्तम्भों का उपयोग होता था। सहस्रद्वार से तात्पर्य हजार द्वा युक्त भवन स ही है। आर्य लोग विशाल घरों से जिन्हें बृहत मान कहा गया है परिचित थे। इनके अतिरिक्त एक सौ स्तम्भों वाले (शतभुजी) घरों का भी सदर्भ मिलता है। घर प्राय एक दो मजिले ह होते थे। अनक पक्षी घरों का उल्लख वेदों में हुआ है। चतुष्पक्षा अष्टपक्षा और दस पक्षा घरों तात्पर्य निश्चित ही चार आठ एव दस कक्ष वाल अथवा दीवार वाले घरों स है न कि मजिलों वाले घर मे। घास-फूस व लकडी के घरों का अनेक मजिला होना युक्तिसगत नहीं लगता। इस प्रकार के घर का विस्तार खडा न होकर तिरछा होता था। अनेक कक्षों की आवश्यकता एव उपयोगिता को देखते हुए घरों में आठ-दस कमरे होना सभव था।

वैदिक आर्यों के आवास गृहों का निर्माण प्राय लकडी स होता था। प्रजापति का महल लकडी से ही निर्मित हुआ था। मानवीय आवास गृहों में उसी की अनुकृति की जाती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रासाद के पुरावशेष इस बात की पुष्टि करते प्रतीत होते है कि प्रासाद लकडी का बना था। चन्द्रगुप्त सभा के पक्तिबद्ध साल स्तम्भ तथा दुर्ग प्राचीर के स्तम्भों के अवशेष उत्खनन में प्राप्त हो चुके हैं। आर्यों के भवनों की छतें स्तम्भों पर टिकाई जाती थी। स्तम्भ की बुनियाद को धरण कहा जाता था। ऊँचे स्तम्भ सम्भवत सौभाग्य के प्रतीक माने जाते थे। यज्ञ में प्रयुक्त स्तम्भ का यूप कहा जाता था जिसका निर्माण पेड काट कर किया जाता था। यूप व्रस्क या काष्ठ शिल्पी जगलों में विशाल वृक्षों को काट कर अपेक्षित ऊँचाई का यूप तैयार करते थे। स्तम्भ की ऊँचाई वर्ष्मन कहलाती थी। आर्यों क सर्वाधिक लोकप्रिय एव महत्वपूर्ण देवता इन्द्र को सर्वोत्तम स्तम्भ का स्वामी (स्कभीयान) कहा गया है। एक स्थान पर सुदृढ बुनियाद पर खडे किये गये तीन स्तम्भों का उल्लेख है जिस पर दालाकार अथवा तिकोनी छत बाधी जाती थी। वैदिक साहित्य में प्राय उल्लिखित छरदी शब्द का तात्पर्य सम्भवत मकान की छत से था। सर्वप्रथम स्तम्भों को सुदृढ आधार देकर भूमि में गाढा जाता

14 ऋग्वेद 7 55 8 देखिए विद्यालकार प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृ० 249

15 ऋग्वेद में (7 88 5) वरुण को हजार द्वार युक्त कहा गया है।

था। इसके पश्चात स्तम्भों क उपर बासों अथवा लकडी की बल्लियों को बिछाया जाता था तथा उनके उपर चीरे गये बास की खपचियाँ फैला कर रखी जाती थी। बल्लियों और खपचियों को मजबूत रस्सियों से बाधा जाता था ताकि छत का यह ढाचा अपने स्थान पर दृढ बना रहे। इस ढाचे को आयाम कहते थे। आजकल इसे ही ठाट या ठट्टर कहते हैं। इस ढाचे के उपर घास एव पत्तियों की तहें बिछायी जाती थी। छत ढकने के लिए बिछायी गई घास फूस की इन तहों के लिए ही अथर्ववद में बर्हण शब्द प्रयुक्त हुआ है। छत को ढकने के लिए धान तथा गहूँ के सूख पोधों की पयार का भी प्रयोग होता था। आज भी ग्रामों में झोपडियों की छतों को ढकने के लिए इस प्रकार की पयार का प्रयोग होता है। साहित्य में उल्लिखित तृण एव पलद शब्द क्रमश घास-फूस व पयार क लिए प्रयुक्त हुये हैं। अथर्ववेद के नव काण्ड के तृतीय अध्याय स शाला के निर्माण पर प्रकाश पडता है। वहाँ उल्लिखित शाला के निर्माण में काष्ठ के स्तम्भ बल्लियों बासो और तृण का प्रयाग किया गया था। बल्लियों और बासों को यथास्थान बनाय रखने के लिए ग्रथियाँ लगान बास भी खपचियों मे नहन (जाल) बनाय और उस पर तृण की छदि (छप्पर) डालने का उल्लेख इस सूक्त में है। ऐसा लगता है कि वैदिक युगीन शालाएँ प्राय वैसी ही होती थी जैसी आजकल ग्रामों म बनती है। आर्य अपन घरों को रमणीय बनाते थे। इस बात की पुष्टि घर की तुलना या उपमा अथर्ववेद में अलकृत हथिनी स दिये जाने के सदर्भ स भी होती है। घर की छत भी गज पृष्ठ को भाति ढालाकार हाती थी। काष्ठकर्म स बना इन ढोलाकार अथवा गजपृष्ठाकार छतों की अनुकृति कालान्तर में प्रस्तर निर्मित चैत्यों में की गई। अथर्ववेद में घर की सुन्दरता पर बल देन के लिए ही सम्भवत उसकी तुलना नव वधू से की गई है। गृहस्वामी अपनी शाला या गृह को देवी सदृश्य पूजनीय मानता था। उसक लिए ऐसा सोचना स्वाभाविक था क्यों कि उसक सुख सम्पदा एश्वर्य आदि का सम्बन्ध उसके घर से था। वैदिक युगीन मानवाय घरा का विन्यास शतपथ ब्राह्मण (3 6 1 23) के अनुसार उत्तर-दक्षिण दिशा वाला अच्छा माना जाता था। मकानों का मुख उत्तर की ओर रखना शुभ माना जाता था।

वैदिक कला के अध्ययन का प्रमुख स्रोत वैदिक साहित्य है। विविध कलाओं स सम्बन्धित शब्दों का आर्य साहित्य में उल्लेख इस बात की ओर इगित करता है कि आर्यों ने अनेक कलाओं का विकास कर लिया था। साहित्य में अयस लोह हिरण्य सीसे टिन आदि धातुओं का उल्लेख हुआ है। लोहार को कर्मार कहा जाता था। धातुओं स युद्ध एव कृषि से सम्बन्धित उपकरण तैयार किय जाते थे। वास्तु स सम्बन्धित शब्दों में यूप स्थूण द्वार सहस्रद्वार सहस्रस्थूण शतभुजी पुर पस्त्या शरण सदन आदि का उल्लेख किया जा सकता है। आवास गृहों के लिए द्विपक्षा चतुष्पक्षा षटपक्षा अष्टपक्षा आदि शब्दों का प्रयाग उनके विस्तृत हाने का सकेत देता है। अथर्ववेद क शाला सूक्त से आर्यों के गृह निमाण की प्रक्रिया का आभास हाता है। वैदिक घरों का निर्माण सामान्यत काष्ठकर्म से हाता था। स्तम्भों को भूमि में सुदृढ आधार पर गाढा जाता था। इन स्तम्भों पर आडी-तिरछी धरनें बिछाई जाती थीं जिनके उपर बास आदि की खपचिया बाधी जाती थी। इस ढाचे को आयाम कहा जाता था। आजकल इस ठट्टर कहते हैं। इसके उपर घास-फूस की छन बिछाई जाती थी। यह घर अथवा सदन छोटे तथा बड आकार के होते थे। बड घरों में अनेक खण्ड अथवा पक्ष (कमरे) हात थ। यह शालाएँ अथवा घर एक दो मजिल होते होंग। शतपथ ब्राह्मण स ज्ञात होता है कि यज्ञ की वेदी के निर्माण में ईंटों का प्रयोग हाता था। ऋग्वेद क अनुसार वदी वर्गाकार निर्मित होती थी। शतपथ ब्राह्मण में भा

वेदी निर्माण का सदभ मिलता है। पश्चातकाल में वेदी गरुड के आकार की (श्येनचिति) बनने लगी। प्रज्वलित अग्नि को रखे जाने के लिए जो विशिष्ट गर्त खनित होता था उसे चिति कहा जाता था। चिति के निर्माणार्थ ईंटों के प्रयोग का सदर्भ शतपथ ब्राह्मण में आता है। घरों में स्तम्भों का व्यापक रूप से प्रयोग होता था। उल्लेखनीय है कि वैदिक कला के भौतिक अवशेष पुरातात्विक उत्खननों में प्राप्त नही होते।

वदिक साहित्य म कला विषयक अन्य सदर्भ — वैदिक वाडमय आर्यों के जन जीवन के बहुआयामी स्वरूप का दिग्दर्शन कराने वाला साहित्य है। स्थूलत कहा जा सकता है कि आर्य धर्म का विकास न्यूनाधिक मात्रा म साहित्य और कला के साथ–साथ ही हुआ। वैदिक युग में स्थापत्य चित्र एव मूर्ति कला के क्षेत्र में प्रगति का क्रम अनवरूद्ध था। कला के उन सूत्रों का शिलान्यास वैदिक युग में ही हो चुका था जिनके आधार पर एतिहासिक युग में कला ने पर्याप्त विकास किया। जैन और बौद्ध धर्मों क स्तूप वैदिक युगीन विशिष्ट व्यक्तियों के अवशेषों पर निर्मित होने वाले मिट्टी के टीले नुमा समाधियों का ही विकसित रूप थे। इन समाधियों या टीलों पर सम्भवत प्रतिमा युक्त स्तम्भ खडा किया जाता था। आदिम कला ने जिस तरह पश्चातकालीन कला में प्रयुक्त होने वाले अनेक चिन्हों को प्रभावित किया उसी प्रकार वदिक काल के प्रतीकों का प्रयोग परवर्ती काल में विकसित होने वाली कला में प्रभूत मात्रा में किया गया। आर्यों ने विविध प्रकार के देवी–देवताओं का सृजन किया। उनके द्वारा उन्होंने दृष्टि विषयक विश्व क अनेक रूपों को चिन्ह युक्त करने का प्रयत्न किया। *कलाकारों ने इन प्रतिमाओं को पूजा करने के लिए काष्ठ एव प्रस्तर में रूप द दिया।*

आर्य अनेक देवी–देवताओं की उपासना करते थे। आर्यों का सबसे महत्वपूर्ण देवता निसन्देह इन्द्र था जिसकी स्तुति में सर्वाधिक मत्रों की रचना हुई। इन्द्र की उपासना के अतिरिक्त आर्य सविता वरूण मित्र अग्नि रुद्र विष्णु आदि दवताओं की पूजा करते थे। इसके अलावा उनक देव समूह में ऊषा और अदिति नामक देवियाँ भी सम्मिलित थी। वैदिक देवताओं को प्रकृति का भिन्न शक्तियों (वायु जल अग्नि आदि) के मानवीकृत रूप माना गया है। वेदों में उक्त देवताओं का पूजा अर्चना पद्धति उनके मानवीय आकारों की परिकल्पना उनके आयुधों चिन्हों युद्धक एव विनाशक क्षमताओं उपलब्धियों अपक्षित वरदान देने की सामर्थ्य आदि का उल्लख मिलता है। देवताओं क स्वरूप का वेदों में प्राप्त विवरण इस अनुमान को प्रेरित करता है कि दवताओं की प्रतिमाएँ निर्मित होती थी। ऋग्वेद में इन्द्र क मूल्य आकलन सम्बन्धी उल्लेख से देवताओं की प्रतिमाओं के वैदिक काल में अस्तित्व का अनुमान सर्वथा निराधार नही माना जा सकता। वेद के इस कथन में कि *इन्द्र को कौन दस गायों के समान धन से खरीद सकता है*[16] *स्पष्टत इन्द्र की मूर्ति अभिप्रेत है। मैकडनल तथा* श्री वृदावन भट्टाचार्य ने वैदिक युग में मूर्तियों के अस्तित्व वाले मत का समर्थन किया है[17]। उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में मिलने वाले कला विषयक सदर्भों की पुष्टि पुरातात्विक अवशेषों स नही होती। अनेक वैदिक मत्रों में देवताओं एव देवियों के उल्लेखो से ऐसा प्रतीत होता है मानों उनके चित्र निर्मित किय जाते थे। इन्द्र के घोडे की शालभजिकाओं से उपमा दी गई है। अन्यत्र

---

16 ऋग्वेद 4 24 10

17 रायकृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला पृ 19-20

विशाल सुनहरी द्वार देवियों का यज्ञ शालाओं की चौखट पर अंकित अलंकृत नारी आकृतियों के रूप में उल्लेख हुआ है। यज्ञशालाओं के द्वारों पर स्वर्णांकित इन देवी आकृतियों को पाणिनि ने प्रतिकृति कहा है। ऋग्वेद में चर्म पर अग्निदेव का चित्र अंकित किये जाने का भी सदर्भ मिलता है[18]। इन प्रतिकृतियों की पुजारी वर्ग के लिए सर्वाधिक उपयोगिता थी। ऐतिहासिक युग में बनाई जाने वाली प्रतिकृतियों की परम्परा का आधार वैदिक युग ही था। वस्तुत उपरोक्त द्वार देवियों का स्वरूप ठीक-ठीक कैसा था यह अज्ञात है किन्तु परवर्ती काल में उनकी अनवरत परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे अर्द्धचित्र थी। ऋग्वेद के अन्तिम दो मण्डलों में ऋषियों द्वारा उषा देवी और रात्रिदेवी की श्रीयुक्त उज्ज्वल आकृति को देखे जाने का उल्लेख हुआ है। सम्भवत ऋषियों ने उषा और रात्रि के प्रतीक चित्र निर्मित किये थे। ऐसी स्थिति में यह अनुमान लगाना अनुपयुक्त न होगा कि यज्ञशालाओं में अंकित की जाने वाली दविंयों में रात और उषा की प्रमुखता थी। वस्तुत वैदिक साहित्य में कला के प्रतीकात्मक प्रतिमानों के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का एव आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग सुझाया गया है। कला को सृष्टि का पर्याय मानकर ईश्वर की सत्य शिव सुन्दर नामक चिरन्तन विभूतियों का उसमें समावेश किया गया है।

भारतीय सदर्भ में कला को धर्म से अलग करना समीचीन न होगा। अध्यात्म विषयक ग्रथों में कला को एक माध्यम स्वीकार किया गया है। ब्रह्म अथवा ईश्वर सर्वोच्च कलाकार है। उसकी चेष्टा से ही सृष्टि हुई है। विश्व को ब्रह्म की कलात्मक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। अमूर्त ब्रह्म के मूर्त रूप की अनुभूति ही यह सृष्टि है। छान्दोग्य उपनिषद में पृथ्वी अन्तरिक्ष द्यु लोक समुद्र अग्नि सूर्य और विद्युत सभी को कला रूप स्वीकारा गया है। कला के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टि से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण सृष्टि अमूर्त ब्रह्म की एक कृति है अभिव्यक्ति है—उसी प्रकार जैसे कला कृति कलाकार की वृति होती है अभिव्यक्ति होती है।

वैदिक अभिप्राय— भारतीय कला एव धर्म में वैदिक अभिप्रायों का प्रभूत मात्रा में उपयोग किया गया है। पश्चात कालीन चित्रकारों एव मूर्तिकारों ने एक ओर वैदिक अभिप्रायों का प्रयोग अपनी कला साधना में खुलकर किया तथा दूसरी ओर अनेक नये अलकरणों का विकास किया। वैदिक प्रतीक आर्य जीवन और सस्कृति के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें कुछ पशु एव पक्षी जगत कुछ वनस्पति जगत तथा कुछ अन्य देव समूह से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त दर्जनों एसे अभिप्राय है जिनका सम्बन्ध विविध प्रकार के विषयों और वस्तुओं से है। हस श्येन द्विशीर्ष वृषभ गिद्ध नन्दी अनन्त (हजार सिरों वाला शेषनाग) वृषभ धेनु (गाय बैल का जोडा), वराह महिष एरावत (इन्द्र का श्वेत हाथी) आदि पशु एव पक्षी जगत से सम्बन्धित प्रतीक हैं। पद्म कल्पवृक्ष कल्पलता पुण्डरीक (पकज) आदि वनस्पति जगत से सम्बन्धित अभिप्राय है। देव समूह से सम्बद्ध प्रतीकों में श्रीलक्ष्मी रुद्र महादेव यम यक्ष नाग सूर्य चन्द्र वामन-विराट त्रिविक्रम विष्णु अर्धनारीश्वर गणपति अम्बिका पशुपति सप्तमातर मातृका हिरण्यगर्भ नारायण दक्ष असुर राक्षस सप्तर्षि अष्टमूर्ति शिव गन्धर्व अप्सरा रुद्र आदित्य आदि उल्लेखनीय है। विविध विषयों से सम्बन्धित अभिप्रायों में पूर्णकलश त्रिशूल वज्र मण्डल (कुण्डल कर्णाभरण) चक्र यूप स्तम्भ (स्कम्भ) वेदिका सप्तरत्न (चक्रवर्ती के सात रत्नों से तुलनीय) देवज मणि (अथर्ववेद में उल्लिखित माङ्गलिक

18 गैरोला भारतीय चित्रकला, पृ 81 में उद्धृत

रत्न) धर्म (दूध औटाने का बडा घडा) भुजिष्यपात्र (भिक्षा पात्र) चतुर्चमस (तुलनीय बुद्ध को लोक पालों द्वारा दिये गये चार पात्र) मिथुन (नर नारीमय अलकरण) द्यावा-पृथिवी (उत्तान चमू) विश्व क माता-पिता सलिलम (आप समुद्रम) विमान (देवगृह) वातरशना (दिगम्बरता) महानग्नी (काली)[19] आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

वैदिक अभिप्रायों की उपर्युक्त सक्षिप्त सूची स्थूलत इस तथ्य को उजागर करती है कि भारतीय कला में वैदिक अभिप्रायों का बाहुल्य है। उल्लेखनीय है कि विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित कला के विकास में कलाकार ने वैदिक धर्म से लिये गये अलकरणों का उपयोग खुलकर किया है। अनेक नवीन अलकरणों के विकास में भी इनकी सहयोगी भूमिका रही है। बौद्ध एव जैन धर्मो स सम्बन्धित कला में अनेक ऐसे अलकरण प्रयुक्त हुए है जिनका सम्बन्ध वैदिक धर्म स है। उदाहरणार्थ श्री-लक्ष्मी अभिप्राय का प्रयोग सभी सम्प्रदायों मे सम्बन्धित कला में देखा जा सकता है। वस्तुत अभिप्रायों अथवा अलकरणों का प्रयोग विविध सम्प्रदायों स प्रेरित कला के विकास में शोभनार्थ होन के साथ-साथ अनेक अर्थो को अभिव्यक्त करने वाली स्वीकृत भाषा के रूप में हुआ है। आगे कुछ महत्वपूर्ण अभिप्रायों का विवरण दिया जा रहा है।

पद्म—पद्म को भारतीय कला में हा नहीं वरन धर्म दशन में भी महत्वपूण प्रताक क रूप में जाना जाता है। कमल का उल्लेख ऋग्वेद गोपथ ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में हुआ है। साहित्य में प्राप्त होने वाले सदर्भो में कमल के पुष्कर पुण्डरीक पद्मक सहस्रपत्र उत्पल शतपत्र आदि नामों की गणना की जा सकती है। भारतीय कला में प्राय मौर्य युग से लेकर निरन्तर कमल का विविध रूपों में अकन किया गया है। वैदिक परम्परा में जो स्थान हिरण्यगर्भ का था वही सम्भवत भागवत दर्शन में कमल का है। कमल धरित्री की जलराशि के उपर तैरते हुए प्राण या जीवन का प्रतीक है। सूर्योदय के समय कमल अपनी पखडिया खोलता है। सूर्य ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। विष्णु की नाभि के कमल पर ब्रह्मा का विकास हुआ जो सृष्टिकर्ता हैं। भागवत अण्डजा एव पद्मजा नामक दो प्रकार की सृष्टि की ओर सकेत करते हैं। अण्डजा सृष्टि हिरण्यगभ (अग्नि पर निभर) स तथा पद्मजा (जल पर निर्भर) क्षीरशायी विष्णु की नाभि से मानी गयी है।

कल्पवृक्ष — भारताय परम्परा में कल्प वृक्ष की कल्पना एक एस दैवी वृक्ष क रूप में का गई है जो आकाक्षाओं और इच्छाओं की पूर्ति करने की क्षमता सम्पन्न है। समुद्र मथन से उत्पन्न होने वाले चौदह रत्नों में से एक कल्पवृक्ष था। इसकी चार दिशाओं में चार शाखाओं की मान्यता इसके विश्व स्वस्तिक से सम्बन्ध की ओर सकेत करती है। मिथुन (स्त्री पुरुषों के युगल) का जन्म कल्पवृक्ष से माना गया है। भरहुत साची भाजा आदि स्थलों में कल्पवृक्ष के अतिरिक्त कल्प लताओं का अकन भी हुआ है। कल्प वृक्षों का उल्लेख महाकाव्यों पुराणों जातक जैन ग्रथ एव काव्यों में हुआ है।

स्वस्तिक — भारतीय जन-जीवन में सर्वोत्तम माङ्गलिक चिन्ह के रूप में स्वस्तिक[20] की प्रतिष्ठा है। इसे सूर्य से सम्बन्धित प्रतीक माना जाता है। इसकी चार भुजाएँ विश्व मण्डल के चतुर्भुजी रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में पूर्व-दक्षिण-पश्चिम उत्तर इन चार दिशाओं का एक साथ अनेक बार उल्लेख हुआ है। अग्नि इन्द्र वरुण और साम ये चार देवता चार

19 वैदिक धर्म से सम्बद्ध अभिप्राय विषयक विवरण का मुख्य आधार अग्रवाल द्वारा किया गया विवेचन है।

20 सिन्धु घाटी से भी स्वास्तिक अकित मोहरें मिली है देखिए अध्याय 2

दिशाओं के अधिपति थे। पश्चातकाल में लोक परम्परा में चार दिशाओं के चार लोकपाल माने जाने लगे। बौद्ध स्तूपों के चार तोरणों पर उनकी मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं । अनेक लोक देवताओं को स्वस्तिक की चार दिशाओं से जोडा जाने लगा। लोक मान्यता में गन्धर्वों के अधिपति धृतराष्ट्र को पूर्व दिशा कुम्भाण्डों के अधिपति विरूढक को दक्षिण दिशा नागों के अधिपति विरूपाक्ष को पश्चिम दिशा एवं यक्षों के अधिपति वैश्रवण को उत्तर दिशा से सम्बद्ध माना गया है। स्वस्तिक को चतुष्पाद ब्रह्म का भी उपलक्षण कहा जा सकता है। इसे विश्व के प्रजापति चतुर्मुख ब्रह्म का रूप भी माना गया है।

पूर्ण कलश — वैदिक साहित्य में उल्लिखित अन्य महत्वपूर्ण प्रतीक पूर्ण कलश है जो हिन्दू, बौद्ध एवं जैन कला में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है। जैन पाण्डुलिपियों में फूल पत्तियों की मेखला युक्त नेत्रवाली मानवाकृति के रूप में पूर्ण घट की कल्पना की गई है। भारतीय कला में इसका अकन भरहुत साची अमरावती मथुरा नागार्जुनी कोण्ड सारनाथ अनुराधपुर आदि स्थलों में किया गया है। जावा के बोरोबुदूर स्तूप में भी पूर्णघट का अकन हुआ है। पश्चिमी भारत के चैत्यघरों के अनेक भीतरी स्तम्भों पर शीर्षक और अधिष्ठान में पूर्णघट का अकन हुआ है। ऋग्वेद में जिस पूर्ण कलश या भद्र कलश का उल्लेख है वह सोम रस से भरा पात्र है। अथर्ववेद में घृत और अमृत से भरे पूर्ण कुम्भ का उल्लेख है। फूल पत्तियों से सज्जित पूर्ण घट सुख सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। घट में भरा जल जीवन या प्राण का रस है। मानव भी पूर्ण घट है। विराट विश्व भी पूर्णकुम्भ है। ये दोनों पूर्णता के सूचक है। अथर्ववेद में पूर्णकुम्भ नारी का सदर्भ आया है। इस अभिप्राय के मूल में ऐसा माङ्गलिक प्रतीक लिया जाता था जिसमें सौभाग्यवती स्त्री मङ्गलघट लिए शोभा यात्रा में चलती थी। आज भी इसे माङ्गलिक प्रतीक माना जाता है। बौद्ध ग्रथ ललित विस्तर में पूर्ण कुम्भ कन्या का उल्लेख है। महाकाव्यों में भी अष्टकन्याओं का उल्लेख हुआ है।

चक्र — भारतीय कला में प्रयुक्त होने वाला अन्य अभिप्राय सूर्य या काल का प्रतीक चक्र है। इसे कालचक्र कहा जा सकता है । चक्र वह है जिसमें नियमित गति या छन्दोगति होती है। विराट विश्व की स्थिति को ब्रह्मचक्र कहा जाता है। इस चक्र को ब्रह्म की शक्ति पहिए की तरह घुमा रही है। इसे ससारचक्र का भी प्रतीक माना जाता है। विश्व को नियमित करने वाले ऋत के नियम को आगे चलकर धर्मचक्र और सुदर्शन चक्र कहा गया। दोनों को सहस्रार (हजार अरों वाला) कहा गया है। सहस्र से तात्पर्य यहाँ अनन्त से है। चक्र जिस तरह गति सम्पन्न है उसी तरह रथ भी गति सम्पन्न है। रथ की गति निसन्देह उसके चक्रों अर्थात् पहियों पर आधारित है। सारनाथ का अशोकीय स्तम्भ मूलत चक्रस्तम्भ था। उसके शीर्ष पर एक महाचक्र लगा हुआ था। बौद्ध धर्म में उसे धर्मचक्र कहा जाता था। मथुरा की जैनकला में वैसा ही चक्र स्तम्भ अंकित है। ऋग्वेद (1 155 6) में इसे विष्णु का व्रतचक्र कहा गया है। पश्चातकाल में भागवतों ने विष्णु के इस व्रतचक्र को सुदर्शन नाम दिया । सुदर्शन का शब्दार्थ है सुन्दर अथवा सुलभ प्रत्यक्ष दर्शनयुक्त। काल सुदर्शन है क्योंकि काल का प्रत्यक्ष दर्शन सबको सदा हो रहा है।

अर्धनारीश्वर— यह एक महत्वपूर्ण कलाभिप्राय है जो सृष्टि के दो आधारभूत तत्वों के युग्म का प्रतीक है। प्रत्येक नर अर्धभाग में नारी और प्रत्येक नारी अर्धभाग में नर है। अर्धनारीश्वर वस्तुत स्त्री और पुरुष के सम्मिलित गात्र (शरीर) की परिकल्पना का रूप है। स्त्री-पुरुष दोनों हिरण्यगर्भ से उत्पन्न

हुए । इन्हें ही द्यावा-पृथिवी कहा जाता है जो क्रमश विराट विश्व के पिता-माता है। पारवती-परमेश्वर अथवा उमा-महेश्वर सम्बोधनों का प्रयोग इन्हीं के लिए किया गया है। भारतीय मूर्तिशिल्प में आलिङ्गन बद्ध नर-नारी का अकन मिथुन या अर्धनारीश्वर अभिप्राय का ही प्रतिनिधित्व करता है। उक्त अभिप्राय का अकन कुषाण गुप्त तथा गुप्तोत्तर कला में प्रचुर मात्रा में हुआ है।

श्री लक्ष्मी — श्री लक्ष्मी कलाभिप्राय को भारतीय कला में व्यापक रूप से प्रयुक्त होने वाला अभिप्राय माना जा सकता है। इसका अकन साची भरहुत अमरावती मथुरा बोधगया उदयगिरि खण्डगिरि तथा पश्चिमी भारत की अनेकानेक गुफाओं में किया गया है। द्यावा-पृथिवी शिव पार्वती या राधाकृष्ण की तरह विष्णु और लक्ष्मी विश्व के माता-पिता के प्रतीक हैं । विष्णु विश्व के प्रमुख देवता हैं । विष्णु की पत्नी श्री लक्ष्मी समृद्धि एव सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी हैं । वैदिक काल से ही सुख सम्पन्न गृहस्थ की देवी के रूप में स्थापित श्री लक्ष्मी को किसी सम्प्रदाय विशेष तक परिसीमित न मानकर भारतीय जनमानस के गृहस्थ आदर्श की देवी कहना ही उचित है। वह पद्मासन पर विराजमान समुद्र पुत्री कमल-वन में खडी पद्मिनी देवी का रूप है। भारतीय कला में चार हाथी सूडों में कलश उठाये देवी का दिव्य जलों से अभिषेक करते हुए प्राय अकित किये गये हैं । चार हाथी चार दिशाओं के सूचक दिग्गज हैं तथा कलशों में भरा हुआ दिव्य जल अमृत या सोम है। भारतीय कला में प्रयुक्त प्रतीकों के अर्थ निरन्तर विस्तृत होते गये हैं । उनकी नवीन व्याख्याए जुडती गई हैं । श्री के वृक्ष का अभिप्राय ससार रूपी वृक्ष से है जिसे अश्वत्थ कहा गया है। वही पीपल या बोधिवृक्ष के रूप में भी लोकप्रिय हुआ।

कुमार — कुमार को स्कन्द भी कहा जाता है उसे छ माताओं का पुत्र कहा गया है। कला में उसके छ सिर भी दिखाये गये हैं। उसका आयुध शक्ति और वाहन कुक्कुट तथा मयूर है। ब्रह्मा और शिव उसका अभिषेक कराते हैं । इसकी मूर्तियों के पीछे विभिन्न प्रतीकों का सम्मिलित अकन मिलता है। उसे देवताओं का सेनापति अद्भुत वीर अग्नि एव गगा का पुत्र और जीवन तत्व का प्रतीक माना जाता है। कालिदास ने स्कन्द को अग्नि के मुख में शिव का तेज कहा है जो सूर्य से अधिक तेजयुक्त है। स्कन्द और तारकासुर के आख्यान में कुमार विज्ञानात्मक दिव्यतेज और तारकासुर इन्द्रियानुगामी अवर मन का सूचक है। दोनों के सघर्ष में विज्ञान की ही विजय होती है।

नाग — नागों की गणना लोक देवताओं में की जाती है। पाताललोक के अधिपति नागों की देवों के रूप में प्रतिष्ठा हुई। कथाओं में नागों को तम और मृत्यु के प्रतीक स्वरूप तथा देवों को अमृत व सत्य का प्रतीक माना गया है। विष्णु वाहन के रूप में अनन्त शेषनाग की कल्पना वस्तुत महासमुद्र से उत्पन्न नाग के रूप से उत्प्रेरित हुई । कृष्ण बुद्ध एव महावीर के जीवन से भी नाग देवों की कथाएँ सम्बद्ध है। नागों की स्थिति ऐसे लाक दवताओं के रूप में है जिनके भारतीय साहित्य में प्रचुर सदर्भ मिलते हैं ।

यक्ष — यक्ष पूजा की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेदिक काल से प्रचलित यक्ष पूजा की प्रथा लोक धर्म का प्रमुख अग थी। यक्ष को जीवन और विश्व के महान रहस्यमय देव का उपयुक्त प्रतीक माना गया। वह ब्रह्म का ही द्वितीय नाम था। वह एक ऐसे महावृक्ष के समतुल्य है जिसकी शाखाओं पर अनेक देव निवास करते हैं । यक्ष को ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त बौद्ध एव जैन धर्म सम्प्रदायों ने समानत अपनाया। जैन-बौद्ध साहित्य में यक्षायतनों तथा यक्षचेतिय का उल्लेख

आता है । इन्हें वैदिक युग में यक्ष सदन कहते थे । यक्ष पूजा को बाद में बीर पूजा के रूप में प्रतिष्ठा मिली ।

दैवासुरम् — *पुराणों में देवासुर सग्राम के अनेकों सदर्भ प्राप्त होते हैं । यह सत्य और असत्य* प्रकाश और अन्धकार एव अमृत और मृत्यु के मध्य चलने वाले निरन्तर सघर्ष का प्रतीक है । धर्म और कला दोनों में इसका प्रमुख स्थान है । शिव का मदन–दहन देवी का महिषासुर से युद्ध शिव का अन्धकबध स्कन्द एव तारक युद्ध विष्णु का मधुकैटभ वध बुद्ध का मारधर्षण आदि देवासुर सघर्ष के विविध प्रकार हैं । मथुरा कला में चित्रित गरुड–नाग युद्ध भी इसी का अवान्तर भेद है । देवों एव असुरों के विग्रह सम्बन्धी कथाएँ अन्य देशों के गाथा शास्त्र में भी मिलती हैं ।

अम्बिका— शिव की शक्तियों के रूप में सप्त मातृकाओं का अकन कुषाण युगीन मूर्तियों से मिलने लगता है । अदिति हैमवती , उमा और पार्वती उसी के नाम हैं । ऋग्वेद में जिस मातृ–शक्ति[21] को अदिति कहा गया है वही महीमाता अम्बिका है । अनेक मातृकाएँ उसी महीमाता *अदिति की रूप हैं जिनकी सख्या एक तीन सात दस सोलह आदि कही गई है । सात माताओं की* पूजा का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है जहाँ उन्हें सप्तमातर कहा गया है । यह सात आदित्य देवों की माता थी । अदिति ही आगे सवित्री सरस्वती ब्रह्माणी लक्ष्मी पार्वती आदि के रूप में विकसित हुई । प्राचीन सात माताओं का सप्तमातृकाओं के रूप में परिवर्तन हुआ ।

---

21 सैंधव केन्द्रों से प्राप्त होने वाली अगणित नारी प्रतिमाएँ मात्र देवी की उपासना की प्राचीनता की ओर सकेत करती हैं । देखिए अध्याय 2

अध्याय 4

उत्तर वैदिक वाङ्मय में कला

भारतीय साहित्य में कला विषयक सूचना प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। महाकाव्यों के अतिरिक्त जैन एव बौद्ध साहित्य में राज प्रासादों, भवनों, मूर्तियों चित्रों एव चित्रशालाओं के अनेकत्र उल्लेख मिलते हैं। वैदिक युग की भाति ही वैदिकोत्तर युगीन कला के विषय में साहित्य में मिलने वाले व्यापक उल्लेख ही हमारे अध्ययन का प्रमुख आधार हैं । वस्तुत सैन्धव युग के अवसान से मौर्ययुग के प्रादुर्भाव तक विस्तृत अन्तराल को कला के अध्ययन की दृष्टि से निराशाजनक अन्तराल ही कहा जायेगा। इस अवधि में कला के स्वरूप का अनुमान साहित्यिक सदर्भों के आधार पर ही किया जा सकता है। पुरातात्विक अवशेषों से प्राय उनकी पुष्टि नहीं होती है।

उत्तर वैदिक वाङ्मय स ज्ञात होता है कि उस काल में विविध विद्याओं के साथ-साथ धर्म नाटय एव वास्तु शास्त्रों का विकास भी किया गया है। उस युग में अनक शिल्पों ने भी प्रगति का। रथकार स्थपति धनुष्कृत तक्षक कुलाल कीनाश (किसान) रजयितृ (रगरेज) रज्जुसर्ज (रस्सी बनाने वाले) मणिकार ध्मातृ (धातु गलाने वाले) वप्तृ (नाऊ) सरीखे पेशेवर शिल्पी वैदिक युग में ही अस्तित्व में आ गये थे। हस्तिनापुर से ईंट निर्मित प्राचीर के अवशेष प्राप्त हुए थे। ईंट की प्राचीर क यह अवशेष यज्ञ की वेदी के निर्माण से सम्बद्ध ईंटों के वैदिक सदर्भों की अनायास स्मृति दिलाते हैं । तैत्तिरीय सहिता में सात काठक सहिता में नौ तथा मैत्रायणी सहिता में ग्यारह ईंटों के नामों का उल्लेख हुआ है[1] । भगवानपुरा (हरियाना) आदि कुछ भूरे रग के चित्रित मृद्भाण्ड स्थलों को छोड कर (जहाँ से पक्की ईंटों के अवशेष प्राप्त हुए हैं) किसी अन्य स्थल से पक्की ईंटें प्रकाश में नहीं आई हैं । उत्तर वैदिक ग्रथ भी पक्की ईंटों से परिचित नहीं लगते अत वैदिक ग्रथों में उल्लिखित ईंटों को प्राय कच्ची ईंटें ही माना जा सकता है।[2] अतिरजीखेडा में भूरे रग के चित्रित मृद्भाण्ड (पी0जी0 डब्ल्यू) स्तर से कुलाल के आवा (भट्टे) क अवशेष मिले हैं । वैदिक ग्रथों में इस आपाक कहा गया है। वैदिक स्रोतों में ईंट के भट्टे की ओर सकेत करन वाले किसी शब्द का उल्लेख नहीं है। झुन्झुनु जिले के सुनेरी ग्राम से दो भट्टियों के अवशेष प्राप्त हुए थ जिनका प्रयोग लोहे को पिघलाने एव गढ़ने क लिए होता था। कहा जाता है कि खुली भट्टियों के साथ धौंकनी (बिलोज) का भी प्रावधान था[3] । उक्त खोजों का सम्बन्ध लगभग तीन हजार वर्ष पुरानी पी0जी0 डब्ल्यू सस्कृति (चित्रित भूरे मृद्भाण्ड) के साथ जोडा जाता है ।

श्रौतसूत्रों एव बौद्ध जातकों में ग्रामों के पशेवर लोगों में प्रचलित शिल्पों का उल्लेख मिलता है। जातकों में अठारह शिल्पों (अट्ठादस शिल्पों) का उल्लेख मिलता है। उल्लेखनीय है कि इनमें से

---

1 शर्मा जा आर द एक्सकेवेशन्स ऐट कौशाम्बी 1957-59) द डिफेन्सेज एण्ड द श्येन चिति आव द पुरुष मेध यूनिवर्सिटी आव अल्लाहाबाद 1960 पृ० 101

2. शर्मा आर० एस मैटिरियल कल्चर एण्ड सोसियल फार्मेशन्स इन एन्शियेण्ट इण्डिया, मैकमिलन, दिल्ली, 1965 पृ 59

3 द टाइम्स ऑव इण्डिया दिल्ली सस्करण 26 जून 1981

मात्र चार प्रकार के शिल्पियों की अपनी श्रेणियों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है बढई धातुकार चर्मकार और चित्रकार। विनयपिटक में शिल्पों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है— उत्कृष्ट और हीन। धीरे- धीरे इन विविध पेशवर लोगों ने अपने को श्रेणियों के रूप में सगठन बद्ध कर लिया था। पेशों को वृत्ति भी कहते थे। यास्क के अनुसार जो व्यक्ति जानपदी वृत्तियों में से जितनी अधिक जानता था वह उतना ही विशिष्ट समझा जाता था। शिल्पकारी का बुद्धकालीन समाज के जीवन में महत्त्वपूर्ण और आदरणीय स्थान था। बुद्धयुगीन व्यापार एव उद्योग शिल्पकारियों और कृषि द्वारा उत्पादित माल पर निर्भर थे। प्राय लडकी के वर का चयन करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि लडका कोई शिल्प जानता है या नहीं। सुप्रबुद्ध शाक्य भी तब तक अपनी पुत्री भद्रा कात्यायनी को कुमार सिद्धार्थ को देने को तैयार नहीं हुआ था जब तक शिल्पों में भी उन्होंने अपनी दक्षता का पूरा परिचय नही दे दिया। प्रसेनजित् ने तक्षशिला में शिक्षा पाने के साथ ही शिल्पकला का ज्ञान भी प्राप्त किया था। अगुत्तर निकाय से ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध ने विवाह योग्य कन्याओं को उपदेश देते हुए कहा था कि वे जिस घर में जायें उसमें उपलब्ध शिल्प सुविधा का उपयोग करते हुए उसमें उन्हें दक्षता प्राप्त करनी चाहिए। राजा एव प्रजा दोनों ही वर्ग शिल्पियों का आदर करते थे। सामञ्ञफलसुत्त[4] में निम्नलिखित 25 प्रकार के शिल्पों का उल्लेख मिलता है (1) हत्थारोहा (हाथी की सवारी करने वाले) 2 अस्सारोही (घुडसवार) 3) रथिका (रथ चलाने वाले) (4) धनुग्गा (धनुष चलाने वाले) (5 13) चेलका_योधिनों (युद्ध में विभिन्न काम करने वाले लोग) (14) दासकपुत्ता (दास लोग) (15) आलारिका (रसोइया) (16) कप्पका (नाई) (17) नहापका (स्नान कराने वाले) (18) सुदा (हलवाई) (19) मालाकारा (माला बनाने वाले) (20) रजका (धोबी) (21) पेसकारा (जुलाहे रगरेज भी) (22) नलकारा (बेंत व बास की वस्तुएँ बनाने वाले) (23) कुम्भकारा (कुम्भकार) कुम्हार (24) गणका (हिसाब किताब की जाच करन वाले) (25) मुद्दिका (मुनीम)।

सूत्र साहित्य में कला के विषय में उपयोगी सूचना मिलती है। आश्वलायन एव साखायन गृह्यसूत्र दोनों ही तीन-तीन अध्यायों में भवन निर्माण सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन करते हैं। गोभिल तथा खादिर गृह्यसूत्रों में भवन निर्माण के सिद्धान्तों आकार वृत्ताकार या आयताकार द्वारों की स्थिति घर के आस-पास वृक्षों की स्थिति आदि का विस्तृत विवेचन हुआ है। शुल्व सूत्रों में यज्ञ की वेदी के निर्माणार्थ सूक्ष्म नाप-जोख के नियमों का निर्देश है। पी0के0 आचार्य के अनुसार इन्ही वेदियों स पश्चातकालीन मदिर वास्तु का विकास हुआ। चिति अथवा वेदी के अनेक आकारों का उल्लेख तैत्तिरीय सहिता में हुआ है। आपस्तम्ब और बौधायन गृह्यसूत्र में वेदी निर्माण के सिद्धान्त के विविध पक्षों का विवेचन हुआ है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिट्टी पत्थर और काष्ठ से निर्मित बर्तनों का उल्लेख मिलता है। श्रौतसूत्रों में प्रस्तर के सिल-बट्टे कूडे कूँडियाँ आदि गढने वाले सगतराशों की चर्चा है। बौधायन के अनुसार राजा कुम्हारों से यज्ञ में उपयोगार्थ विविध बर्तन बनवाते थे। कुम्हार की वृत्ति समाज के लिए पर्याप्त उपयोगी वृत्ति थी। कुम्हार के लिए कुलाल तथा कुम्भकार सरीखे नवीन शब्दों का प्रयोग होने लगा। तक्षा तथा रथकार के पेशे भी महत्वपूर्ण थे। रथकार की वृत्ति साधारण वर्धकियों से अधिक सम्माननीय वृत्ति थी। जातकों में अनेक शिल्पकारों के मामों का उल्लेख हुआ है। सम्भवत बुद्ध के

4 उपाध्याय भरतसिह बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग सवत 2018 पृ० 524

युग में विभिन्न शिल्पों का स्थानीयकरण हो गया था। शिल्प विशेष से सम्बन्धित लोग विशिष्ट ग्रामों और नगरों की वीथियों में रहते थे। वाराणसी के निकट कुम्भकार गाम में कुम्भकार ही बसे हुए थे। अलीनचित्त जातक के अनुसार बडढकिगाम में बढई लोग रहते थे। एक अन्य जातक में दो कम्मारगाम का उल्लेख मिलता है। मज्झिमनिकाय में श्रावस्ती के निकट बस हुए नलकार गाम का उल्लेख मिलता है। इस ग्राम में अधिकाश बास की टोकरी बनाने वाले लोग रहते थे। विभिन्न शिल्पकारों की वीथियों का भी उल्लेख जातकों में हुआ है— दन्तकार वीथि (हाथी दात का काम करने वाले कारीगरों की गली) रजकवीथि और तन्त विततट्ठान (जुलाहों का स्थान)। वाराणसी से थोडी दूर पर स्थित एक वड्ढकिगाम में बढइयों के एक हजार परिवार रहते थे जिनमें से प्रत्येक पाच सौ बढइयों के उपर एक जेट्ठक होता था।

महासुदस्सन सुत्त (दीघनिकाय) के अनुसार चक्रवर्ती महासुदस्सन के राजप्रासाद की ऊँचाई 3 पुरुष (पोरसा) थी। यह ऊँचाई लगभग 18 फुट के बराबर थी। प्रासाद में प्रयुक्त स्तम्भों की सख्या 84000 बताई गई है। यह राजप्रासाद सोपान सूचियों उष्णीश कोठे स्वर्ण एव रजत के पलगों से सुसज्जित था। उसमें हाथीदात का काम भी था। महाउम्मग्ग जातक में गगा के तट पर स्थित एक नगर एव प्रासाद का उल्लेख है। इस राजप्रासाद में 60 चुल्ल द्वार (छोटे द्वार) एव 80 बडे द्वार थे। इन सभी द्वारों का प्रावधान राज प्रासाद के चतुर्दिक बनी रक्षा प्राचीर में स्थान-स्थान पर किया गया था। यह सभी द्वार प्राय यत्रों की सहायता से खोले एव बन्द किये जाते थे। इस विशाल प्रासाद में यत्रयुक्त एक सौ कमरे थे। दीप रखने के लिए इसमें सौ आले बने हुए थे। तोरण द्वार के दोनों ओर ईटों की बनी दीवारें थी। दीवारों पर सुधाकम्म या चूनेबरी का पलस्तर चढाया गया था। महाउम्मग्ग प्रासाद के मुख्य कक्ष (गर्भ) में चित्रकारों ने बहुत से भित्ति चित्र बनाये थे। नगर के चारों ओर गहरे पानी की एक खाई बनी थी। नगर प्राकार 27 फुट ऊँचा (18 हाथ) था। नगर के मध्य में प्रासाद एव अन्य भवन थे। उक्त प्रासाद के निर्माण में तीन सौ बढइयों ने काम किया था। गगाजी के मार्ग से सामान ढोने के लिए 300 नावें प्रयुक्त हुई थी। प्रासाद के निर्माण में 4 माह का समय लगा था। उक्त प्रासाद के वर्णन में प्रासादीय वास्तु शिल्प के सभी अगो का समावेश हुआ है। उसमें तीन कक्षाएँ थी। तृतीय कक्षा में राजकुल नामक भाग था जिसमें सैकडों सुविभक्त गृहशालाएँ थी। कमरों के स्तम्भों पर कढी हुई शालभजिकाओं का उल्लेख रोचक है। प्रासाद की द्वितीय कक्षा में आस्थान मण्डप था जिसमें चितेरों ने 10 प्रकार के भित्ति चित्र बनाये थे। छत के भीतरी दर्शन को वितान और बाहरी दर्शन को सवरण कहा गया। छत की भीतरी वितान के लिए उल्लोय (उल्लोक) शब्द प्रयुक्त होता था। प्रासाद की प्रथम कक्षा में राजा के हाथियों के लिए स्थान बना हुआ था। उक्त प्रासाद को वासुदेवशरण अग्रवाल ने मौर्यों के पाटलिपुत्र स्थित विख्यात प्रासाद से अभिन्न माना है।

महाकाव्यों में कला — रामायण एव महाभारत में प्राप्त होने वाले कलात्मक सदर्भों से ज्ञात होता है कि उस समय तक वास्तु मूर्ति एव चित्रकला का पर्याप्त विकास हो चुका था। बालकाण्ड के छठे सर्ग के विवरण से अयोध्यावासियों की कला प्रवीणता एव सौन्दर्यानुराग का आभास होता है। भवन निर्माण का कार्य अपने विकास के शिखर पर था। दानवों के स्थपति मय एव विश्वकर्मा जैसे कला के जनक उसी युग की विभूति थे। प्रासाद विमान हर्म्य आदि अनेक प्रकार के भवन निर्मित होते थे। उनमें सप्तभौम अष्टभौम तथा सहस्र स्तम्भ आदि विशिष्ट राजभवन होते थे। रामायण में कला के

अर्थ में शिल्प शब्द का प्रयोग हुआ है। शिल्प शब्द वाद्य नृत्य गीत चित्रशिल्प आदि सभी ललित कलाओं का बोधक है। रामायण में राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर सीता की स्वर्ण प्रतिमा निर्मित किये जाने का उल्लेख है।[5] रथों की शोभार्थ स्वर्ण की मूर्तियों के निर्मित किये जाने के दृष्टान्त को उस काल के लोगों की कलात्मक अभिरुचि एव शिल्प नैपुण्य का द्योतक माना जा सकता है। कीमती धातुओं एव नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से अलकृत रावण के पुष्पक विमान को उस काल के कलाकारों के शिल्प कौशल का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है।

रामायण में चित्रकला सम्बन्धी सदर्भ भी पर्याप्त मिलते हैं। राजभवनों विविध कक्षों की दीवारों एव रथों को चित्रों से अलकृत किये जाने के उल्लेख आदिकाव्य में अनेक स्थलों पर प्राप्त होते है। सीता को खोजते समय हनुमान को लका में चित्रों से सज्जित अनेक क्रीडागृहों के अतिरिक्त एक चित्रशाला को देखने का भी अवसर मिला था। लका नरेश की चित्रशाला अपने युग की विख्यात चित्रशाला थी। रामायण के उत्तरकाण्ड में रावण के पुष्पक विमान के मनोहारी और विस्मित कर देने वाले दृश्य चित्रों का उल्लेख है। उसमें विमान की सज्जार्थ यथा स्थान बेल बूटे भी बन हुए थे। सुन्दरकाण्ड एव लकाकाण्ड में चित्रशिल्प सम्बन्धी विशिष्ट सदर्भ मिलते हैं। चित्रशाला गृहाणि शब्द से बहुसख्यक चित्रशालाओं के अस्तित्व में होने का बोध होता है। राम के राजप्रासाद की दीवारों पर अनुपम चित्र उत्कीर्ण थे[6]। कैकेयी का प्रासाद भी उत्कृष्ट चित्रों से सुसज्जित था। रावण एव बाली के मृत शरीरों को ले जाने के लिए बनी हुई पालकियों को भी विविध चित्रों स अलकृत किया गया था। रामायण में हाथियों के मस्तकों पर और रमणियों के कपोलों पर चित्रकारी किये जाने के विद्यज्जित्र भी सदर्भ मिलते हैं। रावण ने अपने चित्रकार को राम का सिर और उसके धनुष की छद्म आकृति बनाने का आदेश दिया था। उक्त आकृतियों का उपयोग उसने सीता को राम की मृत्यु के विषय में विश्वास दिलाने के लिए किया था। यद्यपि उसे अपने प्रयास में पूर्ण सफलता प्राप्त नही हुई।

महाभारत में भी कलाओं के विषय में न्यूनाधिक सूचना मिलती है। रामायण की अपेक्षा महाभारत में कला विषयक सदर्भ कम मिलते हैं। महाभारत के सभापर्व[7] में उल्लिखित युधिष्ठिर के सभागृह में अनेक स्तम्भ थे। उनमें स्थान स्थान पर सुवर्ण वृक्ष निर्मित किये गये थे। उसके चतुर्दिक एक बडा परकोटा बना हुआ था। द्वार पर हीरा मोती आदि रत्न लगाये गये थे। सभागृह की दीवारों को नाना प्रकार के चित्रों से अलकृत किया गया था। सभा के मध्य एक सरोवर बनाया गया था जिसमें स्वर्ण के कमल लगाये गये थे। स्वर्णकमल की लता के पत्ते इन्द्रनीलमणि के बनाये गये थे। उक्त सरोवर में जाने के निमित्त रत्न जडित सीढियाँ बनी थी। दृष्टा को जलाशय में जमीन का आभास होता था। पास में मणिमय शिलापद होने के कारण पुष्करिणी के किनारे खडे होकर प्रत्येक देखने वाले को ऐसा प्रतीत होता था कि आगे भी मणिमय भूमि है किन्तु आगे बढते ही वह दर्शक पानी में गिर पडता था। युधिष्ठिर के सभागृह के अनेक भाग दर्शक को चकित करने की क्षमता रखते थे। एक स्थल पर स्फटिक की सहायता से विनिर्मित भूमि को देखने से दर्शक के मन में वहाँ जल होने का आभास होता था। एक अन्य स्थान में दीवार पर एक खुले हुए दरवाजे का चित्र बना हुआ था। चित्र वास्तविकता के

---

5 रामायण 2.15.32

६. रामायण 2 15.35

7 सभापर्व अध्याय 3 एव 47

इतना निकट लगता था कि कोइ भी धोख में आकर प्रवेश करने की इच्छा से आगे बढते ही दीवार से टकरा जाता था। दुर्योधन को ऐसे ही किसी स्थल पर भ्रमित होकर आत्म ग्लानि का सामना करना पडा था।

भारत में सत्यवान के विषय में कहा गया है कि बाल्यकाल से ही उसे घोडे का बहुत शौक था। अपने माता पिता के साथ वन में रहते हुए वह मिट्टी के घोडे बनाने के साथ ही दीवार पर घोडे के चित्र भी बनाता था। सम्भवत इसीलिए बचपन में उसका नाम चित्राश्व पडा। महाभारत में वस्तुत कला के किसी भी पक्ष पर गभीरता पूर्वक उल्लेख देखने को नही मिलता।

धर्म निर्पक्ष साहित्य मे कला — महाकाव्यों के अतिरिक्त बौद्ध एव जैन साहित्य में सस्कृत के नाटकों में पुराण ग्रथों में शिल्पों के विषय में अनेकत्र चर्चा देखने को मिलती है। स्मृतियों तथा पुराणों में मदिरों मूर्तियों चित्रों तथा अन्य प्रकार की कलाओं के विकास सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री भरी पडी है। कुछ पुराणों यथा मत्स्य विष्णु धर्मोत्तर में मूर्ति विद्या व चित्रकला पर अत्यन्त उपयोगी अध्याय पाये जाते हैं। प्राचीन भारत की हिन्दू कला के विषय प्रतीक चित्र पुराकथाएँ असख्य देवता राक्षस देव दानव युद्ध देवताओं के वाहन देवियों यक्ष गन्धर्व अपसराएँ स्वर्ग नरक भक्ति उपासना सृष्टि प्रलय अवतार व विश्व की आयु के युग जीव जगत व परमात्मा की सत्ता व महत्ता आदि कितने ही ऐसे विषय है जिन्हें समझने के लिए उपरोक्त साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। अष्टाध्यायी में शिल्प को चारू (ललित) और कारू (उद्योग) दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। उक्त ग्रथ में पशु पक्षी पुष्प वृक्ष पर्वत नदी आदि के साकेतिक लक्षणों की भी चर्चा की गई है और उन्हें अकित करने की विधि का भी उल्लेख मिलता है। भरत के नाटयशास्त्र में कलाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख हुआ है। इस ग्रथ में विभिन्न रगों के मिश्रण भिन्न-भिन्न रगों के प्रभाव एव चित्र में उनके प्रयोग के महत्व का दिग्दर्शन हुआ है।

वात्स्यायन के कामसूत्र में उपलब्ध 64 कलाओं की विस्तृत सूची में आलेख्यम (चित्रकला) तथा वास्तुविद्या (गृह निर्माण कला) का भी परिगणन हुआ है। कालिदास के काव्यों एव नाटकों में भी कला के अनेक सदर्भ मिलते हैं। चित्रकर्म का प्रचलन स्त्री पुरूष दोनों ही वर्गों में था। नागरिकों के घरों एव राजमहलों को चित्रों से अलकृत किया जाता था। रघुवश से ज्ञात होता है कि अयोध्या के राजप्रासादों की भित्तियों पर कभी अनेक प्रकार के मनोहारी चित्र बने हुए थे। कमल वन में भीमकाय हाथियों को चित्रित किया गया था। उनकी हथिनियों को कमल की डडल देती हुई अकित किया गया था। बड–बडे महलों के काष्ठ स्तम्भों पर अत्यन्त आकर्षक स्त्री मूर्तियाँ निर्मित की गई थी। मालविकाग्निमित्र नामक नाटक के अनुसार विदिशा के राजा अग्निमित्र की विख्यात चित्रशाला थी। नाटक से ज्ञात होता है कि वह मालविका के आकर्षक चित्र से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। नायिका के प्रति राजा की आशक्ति की परिणति परिणय में हुई। अभिज्ञानशाकुन्तल से ज्ञात होता है कि राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का मन को छू लेने वाला चित्र बनाया था। चित्रकला के सदर्भ विक्रमोर्वशीय नामक नाटक में भी मिलते हैं। कालिदास के पूर्व भास के नाटकों में भी कला के विषय में महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। वत्सराज उदयन एव उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता स्वप्न वासवदत्त' नामक नाटक के नायक एव नायिका हैं। दोनों मन्त्री योगन्धरायण के सहयोग से प्रेमसूत्र में बध कर भाग निकलने में सफल रहे। अत में वासवदत्ता के माता–पिता ने दोनों का चित्र बनवाकर उनके

विवाह को विधिवत सम्पन्न किया ।

नागानन्द एव रत्नावली नामक हर्ष के नाटकों में भी कला के विषय में सूचना मिलती है । रत्नावली ने अपने प्रेमी वत्स नरेश उदयन का सुन्दर चित्र निर्मित किया था । नागानन्द में अनेक रगों का उल्लेख हुआ है । जीमूतवाहन द्वारा अपनी प्रेयसी मलयवती का चित्र बनाये जाने का उल्लेख भी उक्त नाटक में हुआ है । भवभूति के मालतीमाधव नामक नाटक में नायक एव नायिका द्वारा परस्पर एक दूसरे के चित्र निर्मित किये जाने का उल्लेख मिलता है । उत्तररामचरित में भी चित्रकला के सदर्भ मिलते हैं । विशाखदत्त के विख्यात नाटक मुद्राराक्षस में नन्दराजा के मत्री राक्षस द्वारा रात दिन जागते रह कर चित्र बनाने तथा चाणक्य द्वारा यमराज का चित्र लेकर घर-घर भज गये गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है । निश्चित ही सस्कृत साहित्य क सभी विषयों पर विरचित ग्रथों में न्यूनाधिक मात्रा में कला के सदर्भ मिलते है ।

सस्कृत नाटकों और काव्यों में कला सम्बन्धी प्रशस्त उल्लेख पाये जाते हैं। कालिदास एव बाणभट्ट की साहित्यिक कृतियों से राजप्रासादों मूर्तियों एव चित्रकला के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। मदिरों में सजावट के निमित्त प्रयुक्त कलाकृतियों के कतिपय उल्लेख उपमा के रूप में पाये जाते हैं यथा गगा यमुना की आकृति शालभजिका आदि। कल्हणकृत राजतरगिणी में लगभग प्रत्येक तरग में मदिरों मठों विहारों स्तूपों भवनों एव मूर्तियों के निर्माण के उल्लेख पाये जाते हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य में शिवभागवतों द्वारा पूजी जाने वाली मूर्तियों एव प्रतीकों का उल्लेख हुआ है। अर्थशास्त्र दुर्गों का एव देवियों की मूर्तियों का उल्लेख करता है। वराहमिहिर की बृहत्सहिता में वास्तु शिल्प एव चित्रशिल्प सम्बन्धी सूचना मिलती है। इसमें साधारण भवनों राजप्रसादों आदि के निर्माण सम्बन्धी रोचक वर्णन मिलता है [8] । हर्षचरित एव कादम्बरी में कला के प्रभूत सदर्भ मिलते हैं। दण्डी के दशकुमारचरित दामोदरगुप्त क कुट्टनीमत धनपाल की गद्यकृति तिलकमञ्जरी सोमदेव के कथासरितसागर मम्मट के काव्यप्रकाश तथा श्रीहर्ष के नैषधचरित में विविध कलाओं के सदर्भ मिलते हैं। कादम्बरी में नील पीत लाहित धवल और हरित नामक पाच मूल रगों का उल्लेख हुआ है। इसके साथ ही राज प्रासादों तथा राजभवनों आदि में सुरक्षित चित्रशालाओं के सदर्भ भी मिलते हैं । दण्डी से ज्ञात होता है कि अन्य विषयों के अतिरिक्त राजकुमारों के लिए चित्रकला की शिक्षा प्राप्त करना भी आवश्यक था । दामोदरगुप्त (कश्मीर नरेश जयापीड 779-810 ईसवी के आश्रित कवि) द्वारा विरचित कुट्टनीमत में वेश्याओं को मनोरजन हेतु चित्रकर्म न करने का सुझाव दिया गया है। लेखक का उक्त भाव चित्रशिल्प के प्रति तत्कालीन लोक आस्था का द्योतक है। तिलकमजरी में गधर्वक नामक चित्रकार द्वारा बनाये गये लम्बे चित्रपट का वर्णन मिलता है। उक्त ग्रथ में निपुण चित्रकार चित्रपट तथा प्रतिबिम्ब नामक चित्रकला से सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख मिलता है। इसमें कर्णाटक की राजकुमारी द्वारा निर्मित अन्हिलवाड के कामदेव और त्रैलोक्यमल्ल आदि राजकुमारों के चित्रों का उल्लेख हुआ है । कथासरितसागर की अनेक कथाओं में कला के सदर्भ मिलते हैं । उसकी एक कथा से ज्ञात होता है कि उदयन का कुमार नरवाहनदत्त चित्रकला सगीतकला एव मूर्तिकला में निपुण था। उक्त ग्रथ की एक अन्य कहानी में विदर्भ नरेश के दरबारी चित्रकार रोलदेव तथा प्रतिष्ठान के नरेश पृथ्वीरूप के दरबार में कुमारदत्त नामक चित्रकार का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त भी अनेक

8 शास्त्री अजयमित्र, इडिया ऐज़ सीन इन द बृहत्सहिता आव वराहमिहिर पृ० 372-93.

कहानियों में चित्रों एव चित्रकारों के उल्लेख मिलते हैं । श्री हर्ष के नैषधचरित में अनक विषयों से सम्बन्धित चित्रों की चर्चा मिलती है। जहाँ एक ओर ब्रजभूमि में कृष्ण गोपियों के साथ लीलारत चित्रित किये गये तो दूसरी ओर कुछ चित्रों में ऋषियों का अप्सराओं पर कामासक्त अंकित किया गया है।

पुराणा म कला विषयक उल्लेख— वैदिकोत्तर साहित्य में महाकाव्यों के पश्चात महत्त्व एव उपयोगिता की दृष्टि से पुराण साहित्य का उल्लेखनीय स्थान है। पुराणों में भारतीय कलाओं एव शिल्पों से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री मिलती है। विषय विस्तार की दृष्टि से पुराण साहित्य महत्त्वपूर्ण ह। इसमें धर्म सम्प्रदायों क विकास से सम्बन्धित सामग्री भी प्राप्त हाती है। कला सम्बन्धी उल्लेखों की दृष्टि से अग्नि पुराण स्कन्ध पुराण हरिवंश पुराण मत्स्य पुराण विष्णुधर्मोत्तर पुराण गरुड पुराण एव पद्म पुराण का विशष महत्त्व है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का तृतीय खण्ड कलाओं के अध्ययन के लिए उपयागी सूचना प्रदान करता है। अग्नि पुराण नामक महापुराण प्राचीन भारतीय शिल्प एव कला विषयक सामग्री की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी रचना है। उक्त ग्रथ के एक दर्जन से अधिक अध्यायों में शिल्प के भागों की विस्तरश चर्चा हुई है। इसी ग्रथ के लगभग एक दर्जन अध्याय मात्र मूर्तिकला पर प्रकाश डाल्ते हैं । अग्निपुराण एक हजार ऐस शिल्पों की चर्चा करता है जो जीविकोपार्जन के माध्यम थे। इस ग्रथ का कला विषयक विवेचन अधिक खोजपूर्ण एव वैज्ञानिक है।

स्कन्ध पुराण में वास्तुकला को शिल्प का पर्याय माना गया है। वास्तु एव प्रतिमा निर्माण कला के परस्पर निकट सम्बन्ध की ओर भी पुराण में सकेत किया गया है। वस्तुत स्कन्ध पुराण में मूर्तिकला एव वास्तुकला के अतिरिक्त चित्रकला सम्बन्धी सामग्री भी सकलित है। उक्त पुराण के वैष्णव और माहेश्वर खण्डों में शिल्प विषयक विविध चर्चा मिलती है। वहा नगर निर्माण रथ निर्माण स्थपति निर्देश विवाह मण्डप आदि विषयों का विवेचन किया गया है । इसके अतिरिक्त चित्रकला विषयक चर्चा भी उक्त ग्रथ में हुई है। इस ग्रथ के नागर खण्ड में अनर्तराज द्वारा अपनी विवाह योग्य पुत्री राजकुमारी रत्नावली हेतु सुयोग्य वर खोजने के लिए चित्रकारों को विभिन्न देशों में भेजे जाने का उल्लेख मिलता है। चित्रकारों को योग्य वरों के चित्र बनाकर लाने के निर्देश भी दिय गये थे।

कला विषयक विविध सामग्री की दृष्टि से मत्स्य पुराण की उपादेयता अन्य पुराणों की अपेक्षा कम नहीं है।उसके 9 अध्यायों में कला विषयक सामग्री का विस्तार है । उक्त पुराण के 129 और 130 वें अध्यायों में मय नामक असुर शिल्पी द्वारा विनिर्मित त्रिपुर भवन का सविस्तार वर्णन है। 252 वें अध्याय में शिल्पशास्त्र के प्रवर्तक अठारह आचार्यों की सूची दी गई है। शिल्प के जनक आचार्य थे—भृगु अत्रि वशिष्ठ विश्वकर्मा मय नारद नग्नजित विशालाक्ष पुरन्दर ब्रह्मा कुमार नन्दीश शौनक गर्ग वासुदेव अनिरूद्ध शुक्र तथा बृहस्पति । 255 वें अध्याय में भवन निर्माण के उपयोगी अग के रूप में स्तम्भों का उल्लेख होने के साथ ही प्रलोनक वृत्त वज्र रूचक और द्विवज्र नामक स्तम्भों के पाँच प्रकारों का भी जिक्र मिलता है। सम्भवत यह प्रभेद सौन्दर्य की दृष्टि से किया गया है।[9]

प्राचीन भारतीय कला के स्वरूप विवेचन पर प्रकाश डालने वाले अन्य पुराणों में पद्म पुराण एव

9 गैरोला वही,पृ० 91

गरुड पुराण का परिगणन किया जा सकता है। पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड के अनुसार भगवान शकर के क्रीडा-गृह की दीवार पर मयूरों एव राजहसों के चित्र बने हुए थे। अन्यत्र केरल राज्य के मत्री की पुत्री के पास चित्रों की एक सग्रह-पुस्तिका (एलबम) होने का उल्लेख है। स्थापत्य कला एव मूर्ति विज्ञान पर महत्वपूर्ण सूचना देने वाला एक अन्य स्रोत गरुड पुराण है। इसमें उद्यान-भवन दुर्ग-निवेश भवन निर्माण तथा मूर्ति विज्ञान का (45 से 48 अध्यायों तक) विवेचन हुआ है।

जैन एव बौद्ध ग्रथों मे कला के सदर्भ— प्राचीन भारतीय साहित्य के कलेवर की अभिवृद्धि में जैन एव बौद्ध साहित्य की विशिष्ट भूमिका है। जैन साहित्य प्राकृत के अतिरिक्त सस्कृत एव देश की अन्य अनेक प्रातीय भाषाओं में लिखा गया है। जैन धर्म के अनेक ग्रथ प्राचीन भारतीय कला के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं । इसी प्रकार बौद्ध धर्म से सम्बन्धित व्यापक साहित्य जिसका सृजन मुख्यत पाली एव सस्कृत भाषाओं में हुआ भी कला के अध्ययन में पर्याप्त सहयोगी है।कला एव शिल्प के प्राचीन ग्रथों का अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय जन-जीवन में शिल्प एव कला लोकप्रिय होने के साथ ही सम्माननीय भी थे।

जैन ग्रथों में कला विषयक सदर्भों के अध्ययन स ज्ञात होता है कि शिक्षित लोगों एव सर्वसाधारण का कला के प्रति पर्याप्त अनुराग था । जैन ग्रथों में कामसूत्र की भाति 64 कलाओं (कहीं कहीं 72 भी) का उल्लेख हुआ है। जिनभद्र मुनि की कल्पसूत्र की टीका नामक कृति में 64 कलाओं का उल्लेख है। अनन्तगड दसाओ नामक जैनधर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित ग्रथ से ज्ञात होता है कि नागरिकों द्वारा सध्याकालीन अवकास क समय मनोविनाद हेतु कुछ सस्थाए स्थापित की गई थीं । एक अन्य जैन ग्रथ नायाधम्म कहाओ में चम्पा नगरा में ललित गोष्ठी (ललियाएणाम गोट्ठी) नामक प्रमोद सभा के अस्तित्व में होने का उल्लेख है। उक्त ग्रथ के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल के राजवर्ग की अभिरुचि कलाओं में विशेषत चित्रकला में पर्याप्त थी। इसमें कहा गया है वि महाराज श्रेणिक के महल की दीवारें नाना प्रकार के सुन्दर चित्रों से सुसज्जित थीं। इसके अतिरिक्त उक्त ग्रथ विदेह राज्य क शासक मल्लदिन्न द्वारा आयोजित एक ऐसी चित्रकारों की सभा का उल्लेख करता है जिसन कोकशास्त्र में वर्णित 84 आसनों पर सुन्दर चित्र निर्मित किए थे। चितेरों की उस सभा में एक से एक सिद्धहस्त कलाकार थ। उनमें से एक चित्रकार किसी भी प्राणी के शरीर के मात्र एक अग देखने के पश्चात सम्पूर्ण प्राणी की मूर्ति निर्मित करने की विलक्षण प्रतिभा रखता था। एक दिन उसे विदेह की राजकुमारी मल्ली कुवरी का अगुष्ठ परदे के छिद्र से दिखाई दिया जिसक आधार पर उसने राजकुमारी का पूरी मूर्ति बना डाली। इस कृत्य को कलाकार की धृष्टता समझ कर मल्ल दिन्न ने उसे देश से निष्कासित कर दिया। चित्रकार खिन्न होकर कुरू राज्य के शासक अदिन्न शत्रु के आश्रय में चला गया। कुरू नरेश न केवल विदेह की राजकुमारी की मूर्ति स प्रभावित हुआ वरन उसे प्राप्त करने के लिए उसने विदेह के राज्य पर आक्रमण कर दिया। जैन धर्म का भारतीय कला के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। श्वेताम्बर शाखा के जैनियों के अनेक ग्रथों में चित्रकला सम्बन्धी उपयोगी सूचना सकलित है। चित्रों की विविध श्रेणियों का उल्लेख प्रश्नव्याकरणसूत्र नामक ग्रथ में हुआ है। उक्त ग्रथ में मनुष्यों एव पशु पक्षियों (सचित्त) पर्वत नदी व आकाश (अचित्त) तथा सयुक्त या मिले-जुले (मिश्र) नामक तीन कोटि के चित्रों का जिक्र मिलता है। अश्मक (पत्थर) काष्ठ (लकडी) तथा वस्त्र पर विविध रगों स निर्मित चित्रों के लिए लेपकम्प एक सामूहिक नाम बताया गया है। उम

काल में चित्रों का निर्माण चावल के चूर्ण से भी किया जाता था। धार्मिक एव सामाजिक उत्सवों पर हल्दी एव चावल के चूर्ण से चित्र बनाने का चलन आज भी है। जैन ग्रथ अल्पना चित्रों की परम्परा से पूर्णत परिचित लगते हैं।

मध्यकालीन अनेक जैन कथा कृतियों में चित्र शिल्प के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। 11 वी शताब्दी की सुर सुन्दरी कहा' नामक मागधी प्राकृत कथाकृति में चित्रकारी के सदर्भ मिलते हैं। तरगवती नामक एक अन्य प्राकृत भाषा में विरचित कथाकृति में नायिक तरगवती द्वारा चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित किये जाने का उल्लख है। उसका यह आयोजन अपने रूठे हुए प्रमी का पुन अपनी ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य मे किया गया था। अन्य जैन धर्म सम्बन्धी ग्रथों में भी कला विषयक सामग्री प्राप्त होती है। प्रसिद्ध जैन ग्रथ आचाराग सूत्र से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारियों जैन साधुओं एव बौद्ध भिक्षुणियों के लिए चित्रशालाओं में जाना एव उस स्थान पर ठहरना निषिद्ध था। हेमचन्द्र प्रणीत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भी भित्तिचित्रों से अलकृत चित्रकारों की सभा का उल्लेख है।

भारतीय कला के विकास में बौद्ध धर्म का व्यापक योगदान है। जैन साहित्य की भाति ही बौद्ध ग्रथों में भी कला के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। पालि त्रिपिटक एव जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि उस काल क मनारजन क श्रेष्ठ साधना में चित्रकला का गणना भा का जाती थी। यद्यपि बौद्ध ग्रथों में चित्र शिल्प विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है तथापि बौद्ध युग में उसे राजकीय उपयोग की वस्तु ही समझा जाता था। सम्भवत इसी कारण चित्रशालाओं में बौद्ध एव जैन भिक्षुणियों एव भिक्षुओं के लिए प्रवश वर्जित था। बौद्ध लागों का दृष्टि में कला को विलासिता का प्रताक समझा जाता था। सम्भवत प्राचीन बौद्ध विहारों म पुष्पालकार क अतिरिक्त अन्य विषयों पर चित्रकारी के अभाव का यही कारण था। बौद्धों क कला के प्रति उक्त दृष्टिकोण के बावजूद थेरगाथा महावश तथा जातकों में कला क सम्बन्ध में पयाप्त राचक जानकारी उपलब्ध हाती है। मोतीचन्द्र न पालयुगान कुछ सचित्र बौद्धग्रथों का उल्लेख किया है। 9 वीं से 12वी शती ई0 के मध्य बौद्धचित्र शिल्प के अध्ययन की दृष्टि से महामायूरी गण्डव्यूह अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पञ्चरक्षा आदि चित्रित ग्रथ उपयागी हैं। इन ग्रथों की चित्रकारा समकालान कला की महत्त्वपूर्ण विरासत है। उक्त ग्रथों में बुद्ध क जीवन से सम्बन्धित चित्रों के अतिरिक्त बौद्ध देवी-देवताओं के चित्र भी बनाय गये हैं। इन चित्रों के अकन वेश-विन्यास रग याजना आदि में बौद्ध चित्र शिल्प का निखरा हुआ रूप परिलक्षित होता है। इन चित्रों पर तत्रयान का प्रभाव दिखाई देता है।

महावस और जातकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में चित्रकला का पर्याप्त विकास हा चुका था। उपयुक्त ग्रथों के उल्लेखों से चित्रकारों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के अस्तित्व में होने का सकेत मिलता है। बौद्ध ग्रथों से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में अनेक शासकों ने चित्रशालाओं का निर्माण कराया था। इन चित्र सग्रहालयों के निर्माण में शासकों ने पर्याप्त धन व्यय किया था। इसी प्रकार का एक चित्रागार कोशल नरेश प्रसेनजित ने भी अपने राज्य में निर्मित कराया था। यह दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र था। प्राचीन भारत में कलाकार अपेक्षया अधिक अच्छी स्थिति में थे। उन्हें प्राप्त सुख सुविधा के साधन आज के कलाकार को प्राप्त नही। चित्रकला कलाकार के लिए जीविकोपार्जन का साधन भी थी। उन्हें बडा-बडा जागीरें दी जाती थी। व समाज में सम्माननीय

थे। सुख शांति के वातावरण में दत्तचित्त होकर वे कला साधना करते थे। थेरगाथा नामक ग्रथ बिम्बिसार द्वारा रागुन नरश तिस्स को बुद्ध की जीवनी का चित्रफलक (एलबम)दिये जाने का उल्लेख करता है। इसी प्रकार महावश ज्येष्ठतिष्य द्वारा चित्रकला के प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था किये जाने का उल्लेख करता है।

धम्मपदट्ठकथा के अनुसार राजा बिम्बिसार का महल लकडी का तथा उसके राज्य में रहने वाले जोतिक नामक एक श्रेष्ठी का भवन पत्थर का बना था। इस स्थिति से उत्पन्न ईर्ष्या से वशीभूत अजातशत्रु को यह उद्‌गार व्यक्त करते हुए चित्रित किया गया है अहो ! कितना अन्धा और मूर्ख है मेरा पिता ! गृहपति तो सप्तरत्नमय प्रासाद में रहते हैं और यह राजा होकर लकडी के बने घर में रहता है। सचमुच बौद्धयुग में सेठों की शक्ति और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही न केवल समाज उनका सम्मान करता था वरन राजाओं क साथ भी उनके मित्रतापूर्ण सम्बध रहत थे। कोशल नरेश प्रसनजित श्रावस्ती के मृगार श्रेष्ठी के पुत्र की बारात में बाराती बनकर साकेत के धनजय सेठ के यहा गया था और कई माह तक वहाँ ठहरा था। धनजय नामक सठ का मगध नरश बिम्बिसार ने कोशल नरेश प्रसनजित क अनुरोधपर मगध से साकेत में बसने के लिए प्रेरित किया था।

जातकों म विभिन्न प्रकार के प्रासादों का उल्लेख मिलता ह। निमिजातक में ऐसे विमान समूह का जिक्र मिलता है जो द्वार काष्ठ स्तम्भ कूटागार ध्वज उद्यान तथा पोक्खरिणी युक्त था। कूटागार शाला अथवा कूटागार शब्द स तात्पर्य उस मण्डप स था जिसके उपर स्तूपिका युक्त ऊची छत लगाई जाती थी। मज्झिमनिकाय में प्रासाद क निकलते हुए छज्जों म बने 700 कूटागारों का उल्लेख है। प्रासाद की प्रत्येक मजिल में कूटागार निर्मित किय जाते थे। कूटागार में प्राय जालीयुक्त खिडकी बनाई जाती थी। प्रासाद क सर्वोच्च भाग पर विनिर्मित कूटागार को हर्मिकाहर्म्य कहा जाता था। सम्भवत स्तूप के शिखर पर निर्मित होने वाली हर्मिका के निर्माण को इसी से प्रेरणा मिली। कूटागार की छत ढोलाकार होती थी। भूमि के उपर बने फर्श को जातकों में वरतल या महातल कहा गया है। प्रथम मजिल का उपरितल और सर्वोच्च मजिल को आकाशतल कहा जाता था। निचली मजिल आदि तल बीच की मजिल अर्धतल और तीसरी मजिल को त्रितल कहा जाता था।पालि साहित्य में लोक प्रचलित वास्तु की व्यापक शब्दावली प्रयुक्त हुई है। एसा लगता है कि जन मानस में ये रूप सुरक्षित रह होंग जिनका निर्माण स्थपति और वास्तुविद्या के आचार्य जानते थ।

निःसन्देह बौद्ध वास्तुकला मूर्तिकला मूर्ति विद्या और चित्रकला के अध्ययन एव अनुशीलन में प्राचीन पालि वाडमय विनयपिटक सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक मिलिन्दपन्हों तथा आचार्य बुद्धघोष की कृतियाँ अत्यन्त आवश्यक हैं। महायान सूत्रों शास्त्रों एव तन्त्रों में बौद्ध विहारों चैत्यों स्तूपों मूर्तियों एव चित्रों से सम्बन्धित प्रशसनीय सूचना मिलती है। बौद्धकला क अनुशीलन म बौद्ध धर्म दर्शन का सामान्य ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान बौद्ध साहित्य ही प्रदान करता है। स्तूप की रचना उसका प्रतीकात्मकता एव धार्मिक महत्व का जानने के लिए महापरिनिब्बान सुत्त एव महावस बहुत उपयोगी है। बौद्धगुहा विहारों एव नालन्दा महाविहार के समान विशाल विहार समूहों का विकास बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव एव बोधिसत्व की विविध मूर्तियों उनमें प्रदर्शित विविध प्रतीकों का महत्व अधिगत करन में महायान सूत्र अतीव उपयोगी हैं। महायान बौद्ध कला का यथोचित परिचय प्राप्त करने क लिए महायान सम्प्रदाय की सामान्य विशेषताओं का ज्ञान होना आवश्यक है। अजन्ता की गुफाओं में विद्यमान भित्ति चित्रों का सम्यक परिचय बुद्ध क जीवन की घटनाओं एव जातक कथाओं क

काल में चित्रों का निर्माण चावल के चूर्ण से भी किया जाता था
हल्दी एव चावल के चूर्ण से चित्र बनाने का चलन आज भी है।
पूर्णत परिचित लगते हैं।

मध्यकालान अनेक जैन कथा कृतियों में चित्र शिल्प के
हैं। 11 वी शताब्दी की सुर सुन्दरी कहा नामक मागधी प्राकृत
हैं। तरगवती नामक एक अन्य प्राकृत भाषा में विरचित कथाकृ
प्रदर्शनी आयाजित किये जाने का उल्लेख है। उसका यह आ
अपनी ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से किया गया था। अन्य
विषयक सामग्री प्राप्त होती है। प्रसिद्ध जैन ग्रथ आचाराग सूत्र
साधुओं एव बौद्ध भिक्षुणियों के लिए चित्रशालाओं में जाना ए
हेमचन्द्र प्रणीत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भी भित्तिचित्रों
उल्लेख है।

भारतीय कला के विकास में बौद्ध धर्म का व्यापक यागद
ग्रथों में भी कला के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। पालि त्रिपिटक ए
उस काल के मनोरजन के श्रेष्ठ साधनों में चित्रकला की गणना
चित्र शिल्प विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है तथ
की वस्तु ही समझा जाता था। सम्भवत इसी कारण चित्रशा
भिक्षुओं के लिए प्रवेश वर्जित था। बौद्ध लागों की दृष्टि में व
जाता था। सम्भवत प्राचीन बौद्ध विहारों में पुष्पालकार के अ
अभाव का यही कारण था। बौद्धों के कला के प्रति उक्त दृष्टिक
जातकों में कला के सम्बन्ध में पर्याप्त राचक जानकारी उपलब्ध
सचित्र बौद्धग्रथों का उल्लेख किया है। 9 वीं से 12वी शती ई
की दृष्टि से महामायूरी गण्डव्यूह अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता
इन ग्रथों की चित्रकारी समकालीन कला की महत्त्वपूर्ण विरास
सम्बन्धित चित्रों के अतिरिक्त बौद्ध देवी-देवताओं के चित्र
वेश-विन्यास रग योजना आदि में बौद्ध चित्र शिल्प का निर
चित्रों पर तत्रयान का प्रभाव दिखाई दता है।

महावस और जातकों के अध्ययन से ज्ञात होता है
विकास हो चुका था। उपयुक्त ग्रथों के उल्लेखों से चित्रकारों
होने का सकेत मिलता है। बौद्ध ग्रथों से ज्ञात होता है
चित्रशालाओं का निर्माण कराया था। इन चित्र सग्रहालयों के
किया था। इसी प्रकार का एक चित्रागार कोशल नरेश प्रसेनजि
था। यह दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र था। प्राचीन भारत में क
में थे। उन्हें प्राप्त सुख सुविधा के साधन आज के कलाकार
लिए जीविकोपार्जन का साधन भी थी। उन्हें बडी-बडी जागार

ज्ञान क बिना कठिन है। इसी प्रकार साची भरहुत तथा अमरावती से प्राप्त बौद्ध अध्युच्चित्रों की लावण्यता का रसास्वादन बुद्ध की जीवनी एव अवदान साहित्य स अवगत होने पर ही किया जा सकता है। बौद्ध देवी देवताओं बोधिसत्त्वों प्रज्ञापारमिता एव ध्यानी बुद्धों की मूर्तियों की समीक्षा क लिए मजुश्रीमूलकल्प प्रज्ञापारमितासूत्र बाधिसत्वावदान लता अवलोकितेश्वरगुणकारण्डव्यूह धारणी ग्रथ गुह्यसमाजतत्र हेवज्रतत्र साधनमाला स्वायम्भू पुराण आदि बौद्धग्रथों का सहयोग अपरिहार्य है।

शिल्प ग्रथा म कला — महाकाव्यों धर्मनिर्पेक्ष साहित्य पुराण जैन एव बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन एव मध्यकालान भारत में कुछ ऐसे ग्रथों की रचना भी हुई जिनमें विशपत कलाओं का प्रतिपादन किया गया है। तिब्बती अनुवाद के रूप में उपलब्ध हाने वाला चित्रलक्षण नामक चित्रकला विषयक प्राचीन ग्रथ इसी कोटि की रचना है। इस ग्रथ का वर्तमान में उपलब्ध रूप 600-700 ई० के मध्य का बताया जाता है । इस लक्षण ग्रथ में चित्रविद्या की उत्पत्ति क साथ-साथ चित्रकला क सविधान पर विस्तृत चर्चा मिलती है । उक्त ग्रथ का रचयिता राजा नग्नजित या भयजित को बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण एव महाभारत आदि प्राचीन ग्रथों म ग्रथकार को गधार का राजा बताया गया है। इस दृष्टि से गधार को प्राचीन भारत का एक अग और गाधारराज नग्नजित को भारत का आदिम चित्राचार्य कहा जा सकता है। कला समीक्षकों के विचार में गाधार की मूर्तिकला पर चित्रशिल्प के लक्षणों का जो स्वरूप पाया जाता है वह चित्र लक्षण के विधानों पर आधारित है । गुप्त एव गुप्तोत्तरयुग में सस्कृत भाषा में अनेक ग्रथों की रचना हुयी जिनके विषय वास्तुकला मूर्तिकला मूर्तिविद्या (आइकोनाग्रेफी) तथा चित्रकला एव इन कलाओं म कुशल शिल्पियों के नियम एव प्राविधान है। इस वग के ग्रथों को सामान्यत शिल्पशास्त्र कहा जाता है। भारतीय कला विषयक इस विशिष्ट साहित्य में मानसार युक्तिकल्पतरू समरागणसूत्रधार शिल्परत्न शिवतत्वरत्नाकर काश्यपशिल्पम मयमत प्रतिमा मान लक्षण साधनमाला निष्पन्नयोगावली विष्णुधर्मोत्तर का तृतीय खण्ड मानसोल्लास अथवा अभिलषितार्थचिन्तामणि अपराजितपृच्छा एव ईशानशिवगुरुदवपद्धति आदि ग्रथों की गणना की जा सकती है। यह ग्रथ प्रकाशित भी हो चुके हैं ।

मानसार वास्तुकला के अतिरिक्त चित्रकला की उत्पत्ति एव चित्रकर्म की प्राविधियों पर प्रकाश डालता है। यह एक लक्षण ग्रथ है जिसमें 32 कलाओ की नामावली दी गयी है। मानसार के 18 वें अध्याय में नागर द्राविड तथा वेसर प्रासादों का उल्लेख हुआ है । यह ग्रथ चित्र एव मूर्तिशिल्प म सम्बद्ध कलाकारों क मार्गदर्शन की दृष्टि स भी उपयागी है । मानसार भू देवी सरस्वती तथा गौरी[10] के लक्षणों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना देता है। उक्त शिल्पग्रथ के अनुसार गौरी श्वत वर्ण दो भुजा दो नेत्रवाली आसन पर स्थित करण्डमुकुट तथा केशबन्ध से युक्त हैं ।

भोजकृत समरागणसूत्रधार 11 वी शती का एक महत्त्वपूर्ण शिल्प ग्रथ है जो मदिर वास्तु क साथ साथ चित्रकला पर भी उपयोगी सूचना प्रदान करता है। इसम निम्नलिखित 20 प्रकार क प्रासाद (मदिर विमान) गिनाय गय हैं मरू मन्दर कैलाश विमानछन्द नन्दन समुद्र पद्म गरूड नन्दिवर्द्धन गज (कुन्जर) गृहराज (गुहराज) वृष हम कुम्भ (घट) सर्वताभद्र मृगराज (सिंह) वर्तुल (वृत्त) चतुरस्र (चतुष्काण) षाडशास्र तथा अष्टास्र। ग्रथ क 57 वें एव 59 वें अध्यायों में उक्त 20 प्रकार के मदिरों क सूक्ष्म लक्षणों का विस्तार पाया जाता है। यह सभी नागर प्रासाद कहे गये हैं । मरू मन्दर और कैलास जड पर्वत सदृश्य विशाल मदिर प्राकार है। इनमें छ भूमियाँ हाती हैं । विमान छन्द एव नन्दन भी इसी

10 मिश्र, इन्दुमती प्रतिमा विज्ञान, भोपाल, 1987 द्वितीय सस्करण, पृ० 169 170 तथा 175

वर्ग में आते हैं। यह सभी वर्गाकार विन्यास के मदिर है। अन्य मदिरों को गोलाकार कहा जा सकता है। भोज के उक्त ग्रथ के लेप्यकर्म और 'रम्दृष्टिलक्षण' नामक अध्यायों में चित्रकला पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। इस ग्रथ के चित्र विधान को देखकर सहज ही परमार वशीय शासकों की कलाप्रियता का पता चलता है। चित्रकला के विधानों पर प्रकाश डालने वाले कला विषयक इस लक्षण ग्रथ का रचयिता भोज विविध विषयों का प्रकाण्ड पण्डित होने के अलावा अनेक ग्रथों का लेखक भी था।

अभिलषितार्थचिन्तामणि नामक एक विश्वकोषात्मक ग्रथ की रचना कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य के पुत्र सोमेश्वर न 1131 ई में की थी। यह ग्रथ मानसोल्लास नाम से भी विख्यात है। इस पर नग्नजित के चित्रलक्षण' तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण का प्रभाव है। इसमें विविध कलाओं के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन प्राप्त होता है। अग्निपुराण के दो अध्यायों में प्रासाद लक्षणों का विवरण प्राप्त होता है। भविष्य पुराण में विश्वकर्म का मत उद्धृत करते हुए कहा गया है कि वास्तुशास्त्र रुपी सागर अति विस्तृत है और विश्वकर्म ने तीन हजार विविध आकार प्रकार के प्रासादों का वणन किया था। अपराजितपृच्छा नामक ग्रथ में निम्नलिखित चौदह प्रकार के मन्दिर गिनाये गये हैं नागर द्राविड लतिन वराट विमान मान्धार विमान नागर मिश्रक भूमिज विमान पुष्पक वलभी सिंहालोकन दारज तथा नपुसक।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण (7 वीं शती) के तृतीय खण्ड में एक सौ एक (101) प्रकार के प्रासादों (मदिरों) का उल्लेख है। 87 वें अध्याय में सर्वतोभद्र नामक एक प्रकार के प्रासाद का विवरण मिलता है। 88 वें अध्याय में सामान्य प्रासाद के 100 प्रकार के रुपों का वणन किया गया है। प्रत्येक सामान्य प्रासाद के तीन समान भागों जगती (वसुधा)कटि (दीवार) तथा मजरी (कूट श्रग तल्प वलभी तथा शिखर) का उल्लेख भी मिलता है। एक अन्य शिल्पग्रथ ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' में मदिर वास्तु की तीन प्रमुख शैलियों नागर द्राविड तथा वेसर का उल्लेख मिलता है। यह ग्रथ भी 10 वीं 11 वीं शती ई0 का है। उक्त ग्रथ में कहा गया है कि ब्रह्मा तथा ऋषि परम्परा के पश्चात महान स्थपति मय ने विमान व्याख्या विशेषरुप से 20 मुख्य प्रासादों का वर्णन किया। इस ग्रथ के अनुसार नागर विमान सात्विक है यह वर्गाकार होता है इसका स्थान हिमालय और विन्धय के बीच का भू भाग है। इस ग्रथ में द्रविड विमान को राजस तथा बेसर विमान को तामस कहा गया है। प्रथम को षटभुजी अष्टभुजी गजपृष्ठाकार तथा द्वितीय को वृत्ताकार व वर्गाकार कहा गया है।

शिल्परत्न में भी विमान शिल्प से सम्बन्धित सूचना मिलती है। इसके अनुसार नागर प्रासाद आधार से शिखर तक वर्गाकार होता है द्राविड प्रासाद का शरीर वर्गाकार व गुम्बदीय भाग षटभुजी अथवा अष्टभुजी होता है। कमिकागम में नागर वाराट तथा कालिग मदिरों का उल्लेख है। वाराट मदिरों की सात मजिले उनकी ग्रीवा शिखा एव स्तूपिका का जिक्र भी इसमें हुआ है। कामिकाम के अनुसार नागर मदिर के मुख्य आठ अग है मूल (नींव) मसूरक (आधार पीठ) जघा (भित्ति) कपोत (कार्निस) शिखर (गल) आमलसार कुम्भ तथा शूल।

बृहच्छिल्पशास्त्र नामक मध्यकालीन वास्तुशास्त्र में मदिरों को प्रभेदक दो तालिकाए दी गई हैं प्रथम तालिका में नागर द्राविड मिश्रक लतिना साधार भूमि नागर पुष्पक विमान तथा द्वितीय तालिका में नागर द्राविड विराट भूमि लतिक साधार तथा मिश्रक की गणना की गई है।

अध्याय 5

प्राक्–मौर्य और मौर्य युगीन कला

ऐतिहासिक युगीन कला के स्वरूप की जानकारी स्थूलत साहित्य में बिखरे हुए प्रचुर कला सदर्भों से होती है।[1] उल्लेखनीय है कि इस युग में वास्तुकला क क्षेत्र में पत्थर के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। पटना जिले में राजगिरि (प्राचीन राजगृह) एव चम्पारन जिले में लौरियानन्दनगढ (पाटलिपुत्र से लुम्बिनी जाने वाले मार्ग पर) नामक स्थानों में प्राक्–मौर्य युगीन स्मारक प्राप्त हुये हैं। राजगृह रो गिरिव्रज भी कहा गया है। यह नगर महाभारत में बृहद्रथ वशी नरेशों की राजधानी के रूप में उल्लिखित है । उक्त नगर जैन स्रोतों (विविध तीर्थ कल्प) के अनुसार उदयगिरि रत्नगिरि वैभारगिरि सोनगिरि एव विपुलगिरि नामक पाच पहाडियों से आवृत था। महाभारत के सभापर्व में इन पहाडियों का वैहारगिरि विपुल वराह, वृषभ और चैत्यक नाम से उल्लेख हुआ है। चीनी यात्री श्वान च्वाड ने पाच पहाडियों के घेरे को 25 मील आँका था। जनरल कनिंघम के अनुसार यह घेरा 8.3 मील का था। राजगृह नामक प्राचीन राजनगरा से विशाल प्रस्तर प्राचीर के अवशेष मिले हैं। सम्भवत प्रकृति प्रदत्त सुरक्षा के अतिरिक्त इस नगर की कृत्रिम सुरक्षार्थ मानव द्वारा किये गये प्रयत्नों के रूप में ही उक्त प्राकार का अस्तित्व था।

राजगृह की शिलाघटित महा प्राकार का निर्माण वस्तुत उन स्थलों के रक्षार्थ किया गया था जहा प्राकृतिक सुरक्षा प्रदान करने वाली पहाडियों का अभाव था। इस प्राचीर के निर्माणार्थ प्रयुक्त होने वाले शिलाखण्डों की लम्बाई 3 फुट से 5 फुट तक है। दीवार के निर्माण में कहीं भी गारे या लेप का प्रयोग नहीं किया गया है। प्राकार में प्रयुक्त शिलाखण्ड अनगढ हैं । दीवार की ऊचाई कहीं–कहीं पर 12 फुट है। इस प्राचीर में स्थान स्थान पर प्रवेशार्थ द्वारों का विधान भी रहा होगा। इस बाहरी दीवार के भीतर एक अन्य दीवार भी थी जिसका निर्माण ईटों एव मिट्टी से किया गया था। वैभारगिरि के पूर्वी ढाल पर प्रस्तर निर्मित आयताकार चबूतरा है । इस स्थल को जरासन्ध की बैठक कहा जाता है। राजगृह का महत्वपूर्ण स्थल सप्तपर्णी गुफा है। कनिंघम के विचार में वैभारगिरि की पूर्वी ढाल पर स्थित सोन भण्डार गुहा ही सप्तपर्णी गुहा है। आरेल स्टाइन वैभारगिरि पर स्थित आदिनाथ के जन मदिर के नीचे की ओर बनी गुफाओं को सप्तपर्णी गुहा का स्थल मानते हैं। जॉन मार्शल के विचार में सप्तपर्णी कोई गुफा न होकर एक बडा सभा भवन था।

वैभारगिरि पर गरम पानी का स्रोत है। सम्भवत महाभारत के सभापर्व में तप्तोदकुण्ड के रूप में उसका ही उल्लेख हुआ है। वैभार की पहाडी पर स्थित सोन भण्डार नामक गुहा पहाड में खुदी है। इसके पास एक और गुफा थी । दोनों गुफाओं के सामने एक स्तम्भों पर आधारित मुख मण्डप था। अब स्तम्भों के अवशेषों के रूप में चूलें शेप रह गई हैं । ऐसा लगता है कि मुखमण्डप युक्त गुहा की

1 प्राक्–मौर्य वास्तु के साहित्यिक स्वरूप के लिए देखिए, अग्रवाल, पूर्वोक्त पृ० 76–87

वास्तुशैली लगभग 5 वीं शती ई० पूर्व में ही अस्तित्व में आ चुकी थी। विपुल पहाडी पर अब भी किसी स्तूप के अवशेष हैं। राजगृह के महाप्राकार के बाहर और वैभार विपुल पहाडियों के मध्य की घाटी मे उत्तर की ओर हटकर हर्यंककुल के राजा बिम्बिसार ने नवीन राजगृह की स्थापना की थी। वह पुरातन राजगृह या गिरिव्रज से भिन्न था। नवीन राजगृह के दक्षिण पश्चिम की ओर श्वान च्वाङ् ने एक गजशीर्ष युक्त अशोकीय स्तम्भ तथा ऊंचा स्तूप देखा था।

रत्नगिरि (आधुनिक छत्तगिरि) के दक्षिणी पार्श्व में भी दो गुफाएँ हैं। वहा अनेक लघु बौद्ध स्मारक हैं। सम्भवत यही महात्मा बुद्ध का विख्यात गृद्धकूट नामक निवास था। छत्तगिरि पर चढते समय इटों द्वारा निर्मित दो स्तूपों के अवशेष भी मिलते हैं। चीनी यात्री श्वान च्वाङ के अनुसार मगध नरेश बिम्बिसार महात्मा बुद्ध के दर्शनार्थ जाते समय जिस स्थल पर रथ से उतरे वहीं पर प्रथम स्तूप बनाया गया था। द्वितीय स्तूप उस स्थल पर बनाया गया जहाँ से सम्राट ने अपने साथ आये लोगों को लौट जाने का आदेश दिया था। घाटी के अन्य उल्लेखनीय स्मारक के रूप में मणियार मठ की गणना की जा सकती है। इसकी दीवारें पर्याप्त मोटी हैं। ब्लॉख नामक पाश्चात्य विद्वान के विचार में यह मणिनाग का स्मारक है। मणिनाग प्राचीन राजगृह का कुल देवता था। राजगृह में पाषाण प्राचीरों के मध्य अनेक भवन काष्ठ से निर्मित किये गये थे। चीनी यात्री श्वान च्वाङ् द्वारा उल्लिखित राजगृह के अग्निकाण्ड का उल्लेख यहाँ समीचीन होगा। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उक्त अग्निकाण्ड से राजगृह की काष्ठ निर्मित इमारतों को क्षति पहुँची होगी।[2] मौर्य प्रासाद के प्रकाशित अवशेषों से इस बात की पुष्टि होती है कि लक्डी का भवन निर्माणार्थ व्यापक रूप से प्रयोग मौर्य युग तक भी होता था। बौद्ध साहित्य में महागोविन्द नामक शिल्पी का उल्लेख हुआ है जिसने राजगृह आदि नगरों की निर्माण योजना में भूमिका निभाई होगी।

लौरियानन्दन गढ में स्तूपों का पूर्ववर्ती रूप — लौरियानन्दनगढ से मौर्य सम्राट अशोक के द्वारा निर्मित सिंह शोर्षक युक्त एकाश्मक स्तम्भ मिला है। पाटलिपुत्र से लुम्बिनी जाने वाले मार्ग पर चम्पारन जिले में बेतिया स्थान से 15 मील उत्तर-पश्चिम में स्थित लौरिया नन्दनगढ एक गाव है। इसका नाम लकुट हिन्दी लउड या लौर से बना है। यहाँ से अनेक मिट्टी के पुराने टीले मिले हैं। यह मिट्टी के टीले शव विसर्जन स्थलों पर निर्मित होने वाली समाधियों के रूप में हैं। इन्हें बौद्ध स्तूपों का पूर्ववर्ती रूप माना जा सकता है। यह टीले पाच-पाच की तीन पक्तियों में हैं। टीलों की कुल सख्या 15 है। दो पक्तियाँ उत्तर-दक्षिण दिशा में हैं और तीसरी पूरब से पश्चिम की रेखा में है। प्रथम पक्ति में मिट्टी के पाच थूहे (ढेर) पास-पास बने हुए हैं। टीलों के निर्माण में प्रयुक्त मिट्टी 10 मील दूर बहने वाली गण्डक नदी से लाई गयी होगी। टीलों के पास ईटों से बने किन्हीं स्मारकों के अवशेष है। यहा प्रयुक्त ईंटें लगभग 20-1/2" लम्बी और 4 मोटी हैं।

पुराविद ब्लॉख द्वारा किये गये उत्खनन कार्य के परिणामस्वरूप टीलों के अन्दर से कोयला व जली हुई मानव अस्थिया प्राप्त हुई थीं। वहा से प्राप्त होने वाली अन्य सामग्री में मातृदेवी की आकृतियुक्त स्वर्ण के दो पत्तरों की गणना की जा सकती है। कुछ टीलों में सीधे गडे हुये काष्ठदण्डों के अवशेष मिले हैं। इन्हें चैत्य यूप कहा जाता था। चैत्य यूप का उल्लेख महाभारत के सभापर्व में भी

2. बील, बुद्धिस्ट रेकार्डस आव द वेस्टर्न वर्ल्ड जिल्द 2 पृ० 165

हुआ है। वहा कहा गया है कि 'गरुड पर सवार कृष्ण ऐसे जान पड्ते थे जैसे ऊँचे थूहे (चैत्य) पर खडा यूप हो । ऋग्वेद के पितृमेघ मत्र (10।18।13) से ज्ञात होता है कि मृतक के शरीर के ऊपर मिट्टी के ढेलों का कडा ढेर बनाकर उसके बीच में लकडी का खम्भा (स्थूण) खडा किया करते थे। इस साक्ष के आधार पर लौरियानन्दनगढ के चैत्य और यूपों की वैदिक पहिचान युक्तिसगत प्रतीत होती है। ब्लाख ने इन्हें वैदिक समाधियों की सज्ञा प्रदान की थी।[3] यहाँ से प्राप्त उक्त टीलों में परवर्ती बौद्ध एव जैन स्तूपों का आदि रूप देखने को मिलता है। चिता स्थल पर निर्मित होने वाले टीले को ही जो आरम्भ में मिट्टी का बनता था स्तूप कहा जाता था। स्तूप (पालि थूप) को इसी कारण चैत्य नाम से भी जाना जाता है। बरुआ थूप अथवा तुम्ब को ही स्तूप का प्राचीनतम रूप मानते हैं।[4] इस थूहे जैसी बाह्य सरचना के भीतर शव को बिना दाह किये दफ़नाया जाता था।द्वितीय अवस्था में स्तूप की स्थिति श्मशान (शवागार) की जैसी थी । इस स्थिति में थूहे (ढेर) के भीतर शव की जली हुई अस्थियों को सहेज कर रखा जाता था। तृतीय अवस्था में शवदाह के पश्चात अस्थियों को एक पात्र में एकत्रित करके अन्दर रखा जाता था। शव विसर्जन को इस स्थिति का विवरण आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता है। स्तूप निर्माण की चतुर्थ अवस्था में शवदाह की प्रक्रिया में बची हुई कुछ अस्थियों को ही स्तूप में दफ्नाया जाता था सबको नहीं। इस स्थिति का उल्लेख बौद्ध ग्रथ महापरिनिब्बानसुत में हुआ है। स्तूप अपने क्रमिक विकास को इस अवस्था तक पहुँच कर समाधि से एक स्मारक के रूप में बदल गया। मौर्य युग तक आते-आते स्तूप के विकास का यह क्रम पूर्ण हो गया।

लौरियानन्दनगढ के टीलों के अतिरिक्त कुछ अन्य स्थानों से भी प्राक् मौर्य युगीन स्मारक प्राप्त हुए हैं। कौशाम्बी, राजघाट एरण विदिशा आदि स्थानों पर किये गये पुरातात्विक उत्खननों से प्राक्-मौर्य युग के वास्तु के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई है। पिप्रावा (उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले में) नामक स्थान पर प्राक्-मौर्य युगीन स्तूप के अस्तित्व का पता श्री पेप्पी ने लगाया था।[5] वहाँ से सोने के पत्तर (टुकडे) पर उत्कीर्ण एक नारी प्रतिमा भी प्राप्त हुई थी जिसकी आकृति लौरियानन्दनगढ से उपलब्ध होने वाले सोने के टुकडों पर उत्कीर्ण नारी आकृति से मिलती-जुलती है। वहाँ से उत्खननकर्ताओं को प्राप्त होने वाली अन्य सामग्री में अस्थि-मजूषा की गणना की जा सकती है। जिस पर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख मौर्य युग से पूर्वकाल का माना जाता है।

मौर्य कला नन्द वश के अवसान के पश्चात मगध में मौर्य वश की स्थापना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवश के अन्तिम शासक को अपदस्थ कर 321-22 ई0 पूर्व मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। वह प्रथम महान ऐतिहासिक सम्राट था जिसने बाह्लीक से बगाल तक और हिमालय से कर्नाटक तक विस्तृत भूमण्डल पर शासन किया। वह प्रथम सम्राट था जिसके साम्राज्य की सीमाएँ भारत की परम्परागत सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अफगानिस्तान तक फैली थीं । चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रियदर्शी अशोक पर्यन्त लगभग नौ दशकों तक भारत में मौर्यों के अधीन शाति सुव्यवस्था और समृद्धि का वातावरण था। मौर्य शासन के अधीन सुख समृद्धि ने सस्कृति एव कला के विकास के लिए

---

3. ए यस आइ एनुअल रिपोर्ट, 1906-7

४. बरुआ, बी.एम., भरहुत जिल्द 3 पृ० 11

5. पेप्पी तथा स्मिथ द पिप्रावा स्तूप जर्नल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी 19 8 पृ० 573 तथा आगे ।

सर्वथा अनुकूल वातावरण का सृजन किया। मौर्य युग कला की दृष्टि से मौलिकता नवीनता एव प्रयोगों का युग था। अभिव्यक्ति सुन्दरता सुगढता एव सुदृढता की दृष्टि से भी भारतीय कला के इतिहास में मौर्य युगीन कला का उल्लेखनीय स्थान है। सिकन्दर के आक्रमण का महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत पर पडने वाले पश्चिम के यवन और ईरानी प्रभाव के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिकन्दर के प्रत्यावर्तन के पश्चात यवनों को भारत से खदेडने में सफलता प्राप्त की। यवन आधिपत्य की पुनर्स्थापना के इच्छुक सिकन्दर के सेनापति सेलूकस निकेटर की चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथ पराजय ने वस्तुत एक ओर जहा आक्रान्ता के स्वप्नों को ध्वस्त किया तो दूसरी ओर भारत एव यवन साम्राज्य के मध्य सास्कृतिक सम्पर्क को गहन और तीव्र कर दिया।

मौर्ययुग के विषय में हमारे अध्ययन के स्रोतों की शृगखला में जातकों सूत्रों एव अर्थशास्त्र की गणना की जा सकती है। पाश्चात्य स्रोतों में मेगास्थेनिज की इण्डिका तथा उस पर आधारित यवन एव रोमक लेखकों के वृत्तान्त उल्लेखनीय हैं। इस काल में कुछ राज नगरों का महत्व सास्कृतिक एव आर्थिक दृष्टि से बढ गया था। ऐसे नगरों में पाटलिपुत्र विदिशा उज्जैन अयोध्या एव तक्षशिला का जिक्र किया जा सकता है। मौर्यों की राजनगरी पाटलिपुत्र की वास्तु योजना के सम्बन्ध में यवन दूत मेगास्थेनिज द्वारा दिया गया विवरण तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित दुर्गविधान की रुपरेखा की न्यूनाधिक पुष्टि पुरातात्त्विक अवशेषों से भी होती है।

वास्तुकला — इस युग की वास्तुकला के अन्तर्गत पाटलिपुत्र की स्थापत्य योजना राजप्रासाद गुफाएँ स्तूप अशोकीय स्तम्भ आदि की गणना की जा सकती है। मेगास्थेनिज की इण्डिका में पाटलिपुत्र नगर का महाउम्मग्ग जातक में गगा तट पर बसे नगर का तथा अर्थशास्त्र में उल्लिखित दुर्ग विधान युक्त नगर का विवरण मौर्य वास्तु के स्वरूप का आकलन करने में उपयोगी आधार प्रस्तुत करता है। भारतीय कला का समुचित एव समुन्नत स्वरूप मौर्यकाल में ही दृष्टिगत होता है। शैलीगत प्रभेदों के आधार पर मौर्यकालीन कला को दो खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। राज्याश्रित कला एव मुक्त अथवा लोककला. मौर्यों के प्रासाद और अशोकीय एकाश्मक स्तम्भों की सरचना का प्रथम तथा मथुरा विदिशा शिशुपालगढ वाराणसी पाटलिपुत्र आदि स्थानों से प्राप्त यक्ष यक्षियों की मूर्तियों तथा कुछ मृण्मूर्तियों का सम्बन्ध द्वितीय वर्ग की कला के साथ माना जाता है। कला के क्षेत्र में दो भिन्न भिन्न परम्पराओं का अस्तित्व सैन्धव कलावशेषों में भी दृष्टिगत होता है। एस के सरस्वती के अनुसार हडप्पा सस्कृति के अन्तर्गत दो प्रकार की परम्पराएँ मूर्ति निर्माण के क्षेत्र में विकसित हुयीं मृण्मूर्ति निर्माण की परम्परा तथा प्रस्तर व ताम्रमूर्ति निर्माण परम्परा [6] प्रथम परम्परा सम्भवत साधारणवर्ग से सम्बन्धित थी तथा द्वितीय परम्परा का सम्बन्ध उच्च वर्ग से था। स्टैला क्रमरिश ने मौर्य युग की यक्ष प्रतिमाओं का सम्बन्ध उस लोककला से बताया जो सैन्धव सभ्यता के अवशेषों से सम्बद्ध थी। मौर्य वास्तु की निर्माण सामग्री में काष्ठ एव प्रस्तर दोनों का योग था। इस युग में सरचनात्मक स्तूपों के निर्माण के साथ साथ प्राकृतिक गुफाओं को काटकर शैल गृहों का निर्माण भी किया गया है।

मौर्य-राजनगरी की स्थापत्य योजना—नगरों का निर्माण एक निश्चित पद्धति के अनुसार होता था। शिल्पग्रथों के विवरणों से इसकी पुष्टि होती है। प्रारम्भिक युग के नगर की एक मानक योजना के

6. सरस्वती, एस. के., अ सर्वे आव इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता, 1957 पृ० 8

अनुसार 'वह एक परिखा अथवा परिखाओं से आवृत्त होता था जिसके चारों ओर सुरक्षात्मक प्राकार होती थी। योजना आयताकार प्राय वर्गाकार होती थी। प्रत्येक ओर के मध्य में तोरण (बडे द्वार) बन होते थे। द्वार तक जाने के लिए पुल का प्रयोग किया जाता था। चार मुख्य सडकें द्वारों से होकर नगर के केन्द्र तक जाती थी जो मोहल्लों में विभक्त था। पचाल राज्य की राजधानी [7] अहिच्छत्र के पुरातात्विक उत्खनन से इसी प्रकार की नगर योजना का आभास होता है। इसकी 40 फुट ऊँची दीवार पक्की ईंटों द्वारा बनी थी। अवशेषों से नगर का योजना का चित्र स्पष्ट नहीं उभर सका है। ऐसा प्रतीत होता है कि नगर के मध्य में एक मन्दिर था जिसकी ओर सभी मार्ग उन्मुख थे। साची भरहुत मथुरा आदि से प्राप्त होने वाले अध्युच्चित्रों (रिलीफ) से भी पुरातन नगर की सम्भावित छवि का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। नगर की सुरक्षार्थ बनी खाई का प्रतिनिधित्व उकेरे गये कमलों व जल के अकन द्वारा किया गया है। नगर प्राचीर का शिल्पाकन प्राय ईंट प्राकार के रूप में हुआ है। साची में एक स्थान पर काष्ठ प्राकार का शिल्पाकन हुआ है। प्राचीर का शीर्ष कभी दीवार क रूप में और कभी उष्णीष के रूप में अंकित किया गया है। द्वार के दोनों ओर द्वार-अट्टालक बना हुआ है। कुछ अध्युच्चित्रों में द्वार-अट्टालक इतने चौडे प्रतीत होते हैं कि उनमें से सवारों सहित हाथी घोडे तथा रथ आसानी से गुजर सकें। तोरण शिल्पाकित वास्तु का महत्वपूर्ण विशेषता है। इनका निर्माण एक या अधिक तिरछे पादागो (आर्किट्रेव) को आधार प्रदान करने वाले दो खडे स्तम्भों द्वारा किया जाता था। सम्भवत इनका निर्माण अतिरिक्त सुरक्षा की दृष्टि से नहीं वरन अलकरण के निमित्त किया जाता था।

मौर्येतर युग की कला में शिल्पांकित भवनों के आधार पर कहा जा सकता है कि भवन अनेक मजिले होते थे। सर्वोच्च मजिल की छत गजपृष्ठकार होती थी जिस पर नोकीली स्तूपिया बनाई जाती थीं। ऊपरी मजिलों के सम्मुख जगले या वराम्दे (अलिन्द) बनते थे जो गोल अथवा वर्गाकार स्तम्भों पर अवलम्बित होते थे। उक्त अध्युच्चित्रों में सुरक्षित नगरों के भवनों की बाह्य छवि निसन्देह उनके काष्ठ विनिर्मित होने की ओर सकेत करती है। काष्ठकर्म से जुडी तकनीक का अनुसरण करते हुए प्रस्तर खण्डों में शिल्पाकन किया गया है। काष्ठ से निर्मित होने वाले भवन आकार की दृष्टि से प्राय बडे और प्रभावशाली होते थे। उनकी सुन्दरता एव आलकारिक समृद्धि की पुष्टि प्रारम्भिक कला से सम्बद्ध उकेरी के अतिरिक्त शिलाश्रयों के विस्तृत अभभागों से भी होती है।

मेगास्थेनिज का विवरण — सेल्युकस निकेटर के राजदूत मेगास्थेनिज द्वारा पाटलिपुत्र नगर के विषय में दिया गया विवरण प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित होने के कारण अधिक प्रामाणिक है। उसके अनुसार पालिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) नगर के परकोटे का घेरा 9 मील था और चौडाई 1-1/2 मील। नगर के चतुर्दिक बनी परिखा या खाई 600 फुट चौडी और 45 फुट गहरी थी। नगर के चारों ओर बनी रक्षा प्राचीर में 570 बुर्ज और 64 द्वार बने हैं। बडे नगरों के चारों ओर खाई एव दीवार बनाने की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलन में थी जिसकी पुष्टि मेगास्थेनिज के उक्त विवरण से भी होती है। महाउम्मग्गजातक मिथिला नगर में जलयुक्त जलरहित एव पकिल युक्त इन तीन प्रकार की खाईयों के अस्तित्व में होने की बात करता है[8]।

अर्थशास्त्र में दुर्ग विधान — कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दुर्ग विधान की चर्चा मिलती है। वह

7 द एज आव इम्पीरियल यूनिटी पृ० 484।

8. पाण्डे, सी.बी. मौर्यन आर्ट, दिल्ली 1983 पृ 26

नगर की सुरक्षा के प्रति पर्याप्त सजग प्रतीत होता है। उसकी नगर योजना के अनुसार नगर के चतुर्दिक गहरी खाई, ऊँचे धूल कोट पर (वप्र मड फाउण्डेशन) आधारित ऊँची दीवार दीवार में स्थान-स्थान पर द्वारों का विधान कोष्ठ एव अट्टालक होने चाहिए। दीवार अथवा परकोटे के भीतर चौडी सडक बनती थी। दीवार के ऊपर कगूरे (कपिशीर्षक ब्रैटलमेंटस) की पक्ति का विधान था। नगर के मध्य में राजप्रासाद का निर्दिष्ट स्थान था। दुर्ग विधान की यह योजना भारत में प्राचीनकाल से चली आ रही है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजनगरी की सुरक्षार्थ निर्मित प्राचीर के बाहर तीन खाइयाँ होनी चाहिए। दो खाइयों के मध्य एक दण्ड (लगभग 6 फुट) की दूरी होनी चाहिए। खाइयों की चौडाई क्रमश 14, 12 तथा 10 दण्ड (84 72 तथा 60 फुट) निर्धारित की गई है। उनकी गहराई चौडाई की आधी या तीन चौथाई होती थी। नीचे की ओर सकरी इन खाइयों के किनारों को ईटों या पत्थरों से सुदृढ किया जाता था। मेगास्थेनिज ने भी पाटलिपुत्र में परिखाओं के किनारों पर ईंट लगे होने का जिक्र किया है। कौटिल्य में प्राचीर निर्माण हेतु ईंट या पत्थर के उपयोग की बात कही गई है। प्राचीर की चौडाई 18 से 36 फुट तक होती थी। दीवार की ऊँचाई चौडाई से दुगनी होती थी। दुर्ग विधान युक्त नगर की सुरक्षा प्राचीर में 12 द्वार होते थे जिनमें चार प्रमुख द्वार थे ब्राह्म ऐन्द्र याम्य तथा सेनापत्य[9]।

अर्थशास्त्र रक्षा प्राचीर की सुदृढता को रेखाकित करता है। उत्खनन से पाटलिपुत्र के चतुर्दिक बनी रक्षा प्राकार एक काष्ठ निर्मित प्राचीर प्रमाणित होती है। इस सम्बन्ध में एरियन के उद्धरण के रूप में सुरक्षित मेगास्थेनिज के विवरण का उल्लेख किया जा सकता है। उस विवरण के अनुसार जो नगर नदियों के किनारे या अन्यत्र निचली भूमि पर स्थित होते थे वे लकडी के बनाये जाते थे। ऐसे महत्वपूर्ण स्थानों पर स्थित नगरों में जहाँ बाढ का खतरा कम होता था पुलिन मिट्टी अथवा ईटों से भवन-निर्माण होता था। गगा एव सोन नदियों के सगम पर बसे होने के कारण पाटलिपुत्र नगर को बाढ का खतरा होना स्वाभाविक था। सम्भवत उसकी इस नाजुक भौगोलिक स्थिति के कारण ही वहाँ की रक्षा प्राचीर एव भवनों का निर्माण ईंट एव पत्थर जैसे व्ययसाध्य पदार्थों के स्थान पर लकडी की सहायता से किया गया।

पाटलिपुत्र नगर के उपर्युक्त विवरण का समर्थन कुमराहार और बुलन्दीबाग से उत्खनन में प्राप्त प्रासाद और परकोटे के अवशेषों से भी होता है। बुलन्दीबाग के उत्खननों द्वारा प्रकाशित अवशेष इस बात की पुष्टि करते है कि पाटलिपुत्र की रक्षा प्राकार काष्ठ निर्मित थी। वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसे शाल प्राकार कहना उचित समझा। परकोटे के अवशेष 450 फुट लम्बाई तक प्राप्त हो चुके हैं। रक्षा प्राचीर के अवशेषों के रूप में दो पक्तियों में शाल के लट्ठों की दीवार का उल्लेख किया जा सकता है। प्रत्येक काष्ठ-दण्ड 19 फुट ऊँचा तथा 1 फुट चौडा है। काष्ठ-दण्डों की दोनों दीवारों को 14 फुट के आडे लट्ठों से जोडा गया है। उनके मध्य भाग में कूटी हुई मिट्टी पाटी गई है। इस परकोटे को सच्चे अर्थों में शाल प्राकार कहा जा सकता है।[10]

पाटलिपुत्र का राजप्रासाद — समकालिक यवन राजदूत मेगास्थेनिज के विवरण के अनुसार मौर्य प्रासाद सूसा और एकबताना के राजप्रासादों से अधिक भव्य एव प्रभावशाली था। चीनी यात्री फाहियान ने इसके सौन्दर्य एव भव्यता से मुग्ध होकर इसे मानवेतर प्रयासों का प्रतिफल माना था।

---

9. कलेवद कृष्णदत्त पूर्वोक्त पृ 51

10. अग्रवाल पूर्वोक्त पृ० 118

प्रासाद के चतुर्दिक सुन्दर उद्यान था जिसमें सरोवर बने हुये थे। राजमहल के काष्ठ-स्तम्भों पर स्वर्ण के पत्तर चढे हुये थे। प्रासाद का आन्तरिक कक्ष राजसिंहासन पादपीठों और सोने चादी की वस्तुओं से सज्जित था।[11] मेगास्थेनिज ने जिस मौर्य राजप्रासाद की भव्यता की सराहना की थी तथा फाहियान जिसके अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया था वह दुर्भाग्य से सम्भवत किसी अग्निकाण्ड में नष्ट हो गया। पटना के निकट कुमराहार से उत्खनित काष्ठ निर्मित स्तम्भों मात्र के रूप में अब उसकी स्मृति शेष है। वास्तु शास्त्र मे राजप्रासाद के 3 भागों की ओर सकेत किया गया है। सैनिकों एव हाथी घोडों को रखने के कोष्ठ प्रथम भाग में सभा या आस्थान मण्डप द्वितीय भाग में तथा राजकुल या अन्त पुर तृतीय भाग में रखा जाता था।

कुमराहार से उत्खनित प्रासाद के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवशेषों में चन्द्रगुप्त सभा का नामोल्लेख किया जा सकता है। इसका उल्लेख पतजलि ने भी किया है। यह सभा एक विशाल मण्डप के रूप में थी जिसमें कुल 80 स्तम्भ थे। यह स्तम्भ 10-10 स्तम्भों की 8 पक्तियों में पूरब से पश्चिम की रेखा में प्राप्त हुये। स्तम्भ पूर्णत खण्डित दशा में प्राप्त हुये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अग्नि से उन्हें पर्याप्त क्षति पहुँची। स्तम्भों के साथ अधिष्ठान का कोई अवशेष नहीं होने से ऐसा लगता है कि स्तम्भों को सीधे भूमि में टिकाया गया था। स्तम्भों के दण्ड (शैफ्ट) गोल और चिकने हैं। इन स्तम्भों के ऊपर निर्मित छत लकडी से बनाई गई थी। मण्डप के एक ओर पाये गये मच में लकडे के लट्ठों की जुडाई व काम की स्वच्छता उल्लेखनीय है। स्तम्भों के तीन बडे भाग भी मिले हैं। चतुर्थ स्तम्भ खण्ड 14 फुट 3 इच लम्बा है। इसका ऊर्ध्व भाग टूट गया है। स्तम्भ की कुल अनुमानित ऊँचाई लगभग 21 फुट थी। स्तम्भ की गोलाई और दण्ड अशोकीय स्तम्भ से साम्य रखते हैं। कुछ स्तम्भों में चूलें (सॉकिट) बनी हैं जिनमें धातु की मेख (बोल्ट) की सहायता से छत का भार टिकाया जाता था।

स्तम्भों के उभार एव काष्ठमच — यहाँ से प्राप्त होने वाल बडे स्तम्भों की एक विशेषता यह है कि उनकी सतह से पाच फुट ऊपर चारों दिशाओं में निकले हुये चार उभार हैं। इनमें से तीन उभार स्तम्भ की सतह के साथ एकसार हैं। उनकी सतह खुरदरी है। स्तम्भ का चतुर्थ उभार कुछ अधिक निकला है तथा उसके टूटे होने की ओर सकेत करता है। उसकी गर्दन पर स्तम्भ के शेष भाग के समान ही ओप है।

प्रारम्भिक मौर्य युगीन अन्य वास्तु अवशेषों में मण्डप के दक्षिण की ओर प्राप्त होने वाले काष्ठ मचों का उल्लेख किया जा सकता है। मचों की कुल सख्या सात है। वह 30 फुट लम्बे 5 फुट 4 इच चौडे और 4 फुट 6 इच ऊँचे हैं। अग्रवाल के विचार में यह काष्ठशिल्प के अद्भुत उदाहरण माने गये हैं। इनके लट्ठे एक दूसरे के ऊपर रखे हुये हैं और फलकों से जोडे गये हैं। यह काष्ठ दण्ड अत्यन्त पुरातन होने के बावजूद पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में मिले हैं। उनकी सन्धियों की रेखा बहुत स्वच्छ है। प्रत्येक मच की रचना इतनी सूक्ष्मता और सामजस्य के साथ की गई है कि आज भी काष्ठ शिल्प में वैसा दुर्लभ है।

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि मौर्यों के नगर की योजना तथा उनके राजमहल की योजना

11 ब्राउन पर्सी इण्डियन आर्किटेक्चर (बुधिस्ट एव हिन्दू पीरियड) बम्बई 1983, पृ० 5

महाभारत जातक एव अर्थशास्त्र में वर्णित परम्परा के अनुकूल थी। वैदिक युग के शिल्पी सहस्रस्थूण वाले प्रासाद मण्डप बनाते थे। अनेक पाश्चात्य विद्वान सभा मण्डप पर ईरानी प्रभाव की ओर सकेत करते हैं।[12]

महाभारत के सभापर्व में युधिष्ठिर की सभा के विवरण और मौर्य प्रासाद के विवरण में पाई जाने वाली अनेक समानताओं की ओर अग्रवाल ने ध्यान आकृष्ट किया था। उनके अनुसार निम्न बिन्दुओं में स अतिम को छोड सभी बातें स्थूलत मौर्य प्रासाद की विशेषताओं से मेल खाती हैं।

1 धर्मराज की सभा का आकाश में तैरते हुये विमान के सदृश्य दिखना।

2 सभा में सभासदों के बैठने के लिए अलग अलग आसनों का लगा होना।

3 सभा की रश्मिमय आप जिसके लिए सर्वतेजोमयी आदि विशषण प्रयुक्त हुये हैं।

4 बहुमूल्य अलकरण

5 सरोवरों का प्रावधान तथा

6 गुह्यकों (कुबेर के सेवक और कोष रक्षक) या किंकरों (सेवक) का सभा के भारोत्थान मुद्रा में अकन।

मौय स्तम्भों का अधिष्ठान रहित होना सभा के अनेकों कक्षों में सभासदों के लिए अलग अलग मच की व्यवस्था स्तम्भों की चमक स्वर्णमय स्तम्भ एव सुनहरी बेल का उल्लेख मेगास्थेनिज ने किया है। स्पूनर ने कुमराहार क्षेत्र में कालू ताल तथा चमन ताल की ओर सकेत किया था।

अशोकीय मौर्य कला — मौर्य इतिहास में अशोक का एक महान निर्माता के रूप में स्थान सुरक्षित है। उसने सघाराम (विहार) स्तूप तथा एकाश्मक स्तम्भ निर्मित कराने के साथ ही दो नगर भी बसाये थे। चीनी यात्री फाहियान के अनुसार सम्राट अशोक ने इस सिद्धान्त के आधार पर कि मानव शरीर की अस्थियाँ 84 हजार अणुओं से युक्त हैं आठ स्तूपों को नष्ट करके 84 हजार स्तूपों का निर्माण करना चाहा था। महावश इस कहानी को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हुये कहता है कि अशोक ने भारत भर के 84 हजार चयनित नगरों में 84 हजार स्तूप बनवाये। दिव्यावदान में अशोक द्वारा बुद्ध के अवशेषों वाले सात स्तूपों को खोलने की कथा मिलती है। इस कथा की पुनरावृत्ति फाहियान और बुद्धघोष की सुमगलविलासिनी में हुयी है। कहानी का बुद्धघोषीय सस्करण अत्यन्त रोचक है। उसके अनुसार बुद्ध के अवशेषों की सुरक्षा के लिए चिन्तित महाकस्सप की सलाह पर सर्वप्रथम अजातशत्रु ने नागों द्वारा रक्षित रामग्राम के स्तूप के अतिरिक्त अन्य सभी स्तूपों से बुद्ध के अवशेष निकाले थे। महाकस्सप ने एकत्रित अवशेषों को राजा द्वारा विशेषत इस उद्देश्य के लिए धरती के गर्त में विनिर्मित कक्ष में गाड दिया। अशोक ने उन्हें निकालकर 84 हजार विहारों में बाट दिया। अमरावती में नागों द्वारा रक्षित रामग्राम स्तूप के अशोक द्वारा तोडे जाने सम्बन्धी कथानक का शिल्पकला में एक स्थल पर प्रतिनिधित्व हुआ है।[13] स्तूपों की यह सख्या अतिरजित है।

---

12. अग्रवाल पूर्वोक्त पृ० 119-122

13. शिवराम मूर्ति सी अमरावती स्कल्पचर, पृ 259

अशोक के काल में बौद्ध धर्म की प्रगति के कारण कला के क्षेत्र में नवीन शैली अस्तित्व में आई। प्राय जहाँ भी बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ वहाँ धर्म के अभिव्यक्ति परक प्रतीकों एव रुप विधान का भी साथ साथ प्रवेश हुआ। शिलाओं पर उत्कीर्ण राजाज्ञाओं अनेक स्तूपों एकाश्मक स्तम्भों पवित्र स्थलों के अनेक एकाश्मक अगों तथा गुहा-कक्षों में अशोक के काल की कला शैली का योगदान देखा जा सकता है।

एकाश्मक स्तम्भ — शिलालेखों को उत्कीर्ण करने की प्रेरणा अशोक को अपने विस्तृत साम्राज्य में बौद्धधर्म की स्थापना की स्मृति को स्थाई बनाने की इच्छा स मिली थी। किन्तु यह साधन सम्भवत उसके महान लक्ष्य क अनुकूल नहीं थे। इसी कारण उसने अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में ईंट के स्तूपों का निर्माण कराया। स्तूप ने अपनी सरचना की कमजोर प्रकृति के कारण सम्राट को एकाश्मक स्तम्भों के रूप में स्थाई स्मारकों के निर्माण की प्रेरणा दी होगी। अशोक द्वारा निर्मित पशुशीर्षक युक्त एकाश्मक स्तम्भों का मौर्य वास्तु के विकास की पराकाष्ठा के प्रतिनिधि स्मारक माना जा सकता है। चुनार के पत्थर से बन 30 से 50 फुट तक ऊँचे इन स्तम्भों के दण्डों पर अत्यन्त चमकदार ओप (पालिश) है। सभी स्तम्भों क दण्ड गोलाकार हैं। स्तम्भ दण्ड ताड वृक्ष की भाति नीचे की ओर मोटा तथा उपर की आर पतला है। अशोकीय स्तम्भ के दो मुख्य खण्ड हैं नीचे का दण्ड (लाट यष्टि स्तम्भ शैफ्ट) तथा उपर का शीर्षक जो अपने सभी अगों सहित लगभग 7 फुट ऊँचा और एकाश्मक है। दोनों एकाश्मक खण्डो को ताबे की 2 फुट लम्बी कील द्वारा बिना बज्रलेप के जोडा गया है। रामपुरवा से ऐसा ताबे का अर्गला मिल चुका है।

बौद्धधर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के अतिरिक्त अशोकीय स्तम्भ पर्सी ब्राउन [14] के विचार में मानव द्वारा वृक्ष पूजा के अति प्राचीन एव व्यापक विश्वास की ओर भी सकेत करते हैं। भरहुत वेदिका की नक्काशी (150 ई० पूर्व) वृक्ष पूजा की ओर इगित करती है जहाँ कुछ दृश्यों में स्तम्भों का स्मरण दिलाने वाले लम्बे ताड वृक्षों का अकन हुआ है।

वास्तु एव मूर्तिशिल्प के उत्कृष्ट समन्वय के प्रतीक 6 स्तम्भों को चीनी यात्री फाहियान ने भी देखा था। सातवीं शताब्दी में ह्वान च्वाङ ने अपनी भारत यात्रा के समय 15 स्तम्भों को देखा था। इनमें से कुछ स्तम्भ अभी तक नहीं मिल पाये हैं। अशोक ने इन स्तम्भों को धर्म और सघ के चिरस्थायी स्मारकों के रूप में (विलिपिसीके) स्थापित किया। मौर्य सम्राट ने तथागत (गौतम बुद्ध) के जन्म स्थान लुम्बिनी ग्राम की यात्रा की थी। पाटलिपुत्र लौरियानन्दनगढ लौरिया अरराज बाखिरा या कोल्हुआ स्तम्भ (वैशाली के निकट) और लुम्बिनी के स्तम्भ सम्भवत उसके यात्रा-मार्ग की ओर इगित करते हैं। लुम्बिनी स्तम्भलेख में लिखा है कि वहाँ बुद्ध पैदा हुये थे। एक अन्य स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि सम्राट ने पूर्वबुद्ध कनकमुनि के लघु स्तूप के आकार में अभिवृद्धि की थी। उसने लुम्बिनी में स्तम्भ स्थापित करने के अतिरिक्त एक पत्थर की दीवार भी बनवाई। अशोक ने बुद्ध के सम्बोधि स्थल बोध गया तथा धर्मचक्रप्रवर्तन स्थल सारनाथ में भी स्तम्भ स्थापित करवाये। सम्राट अशोक ने मध्यदेश की सीमाओं पर तथा विभिन्न जनपदों की राजधानियों में स्तम्भ स्थापित किये थे। उसके द्वारा काशी जनपद की राजधानी वाराणसी में (सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन स्थल पर) कोशल जनपद की राजधानी श्रावस्ती में वत्स जनपद की राजधानी कौशाम्बी में मथुरा से प्रतिष्ठान जाने वाले मार्ग पर

14 ब्राउन, पर्सी पूर्वोक्त पृ० 1

यदि जनपद के लिए साची में श्रीकण्ठ जनपद (कुरुक्षेत्र) की राजधानी रोपड में कुरूजनपद की राजधानी मेरठ में तथा पचाल की राजधानी साकाश्य (आधुनिक सकिस्सा फर्रुखावाद , एटा जिला) में स्तम्भों के प्रतिस्थापन मे इसकी पुष्टि होती है ।[15]

उपलब्ध अशोकीय लाट एव उनके प्रमुख अग— भारत के विभिन्न भागों से कुल 14 स्तम्भ प्राप्त हो चुके हैं जिनमे से चार पर लेख नहीं हैं। (1) चार सिंह शीर्षकयुक्त सारनाथ स्तम्भ जिसका पता एफ.ओ ऑर्टिल ने लगाया था। (चित्र- 51) इस भग्न स्तम्भ की अनुमानित ऊँचाई 49 1/2 फुट बताई गयी थी। इसके शीर्षक को भारत के राष्ट्रीय चिन्ह के रूप में स्वीकारे जाने का गौरव प्राप्त है। (2) साची का स्तम्भ भी ऑर्टिल को अनेक खण्डों में प्राप्त हुआ था। इसका शीर्ष एव शीर्षस्थ सिंह स्थानीय समहालय में सुरक्षित हैं। अपने मूल रूप में यह लगभग 42 फुट ऊँचा था। (3) रामपुरवा का सिंह शीर्षक युक्त स्तम्भ मूलत लगभग 45 फुट ऊँचा था। इसके शीर्ष की खोज का श्रेय सरजॉन मार्शल को है। यह स्थल ठीक-ठीक चम्पारन जिले में जानकीगढ से 20 1/2 मील उत्तर पूर्व रामपुरवा ग्राम से आधा मील से भी कम दूरी पर पडता है। (4) रामपुरवा का लेख रहित वृषशीर्षक युक्त स्तम्भ (5) सिंह शीषक युक्त लौरिया नन्दनगढ स्तम्भ चम्पारन जिले के लौरिया ग्राम से आधा मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। इसकी ऊँचाई 32 फुट 9 इच है। इसके चमकदार पालिशयुक्त दण्ड का अनुमानित भार 18 टन बताया गया है। यह अरराज एव बाखिरा के स्तम्भों से पतला और हलका है। इसमें फारसी में महीउद्दीन मोहम्मद औरगजेब पादशाह आलमगीर गाजी नाम उत्कीर्ण है। (6) लौरिया अरराज स्तम्भ उत्तरी बिहार के चम्पारन जिले में लौरिया ग्राम के पास केसरिया से 20 मील उत्तर पश्चिम में स्थित है। लौरिया नाम के दो भिन्न-भिन्न ग्रामों में भेद करने हेतु कनिंघम ने पास के अरराज के शिवमन्दिर को इस स्तम्भ के साथ जोड दिया। धरती की उपरी सतह पर दिखाई देने वाले इस चमकदार एकाश्मक दण्ड का अनुमानित भार 34 टन तथा ऊँचाई 36 फुट 6 इच बताई जाती है। यह स्तम्भ शीर्ष रहित है। स्मिथ एव चन्दा के विचार में इसके शीर्ष पर गरुड था। आस-पास से शीर्षस्थ पशु अथवा चक्र के कोई अवशेष नहीं मिले हैं।

(7) इलाहाबाद स्तम्भ जो पहले कौशाम्बी में था और वहा से अकबर द्वारा प्रयाग दुर्ग में लाया गया। हल्त्ज के अनुसार इस स्तम्भ का इतिहास उतार चढाव युक्त है। कनिंघम के अनुसार इस स्तम्भ के शीर्ष पर कभी सिंह की मूर्ति स्थापित थी जो शताब्दियों पूर्व जहाँगीर के शासनकाल से भी पहले लुप्त हो चुकी थी। 1605 ई में मुगल बादशाह द्वारा स्तम्भ के पुनर्स्थापना के समय इसके शीर्ष पर गोला व शकु आरूढ थे। अन्य अशोकीय स्तम्भों की भांति इस की शोभा बढाने वाली पद्माकृति (पद्मकोश) अब उपलब्ध नहीं है। कुछ समय पश्चात स्तम्भ एक बार और नीचे गिर गया था जिसे 1834 ई में कप्तान स्मिथ ने पुन स्थापित कराया। इस स्तम्भ का महत्व उसमें उत्कीर्ण अनेक अभिलेखों के कारण और भी बढ गया है। इसमें दिल्ली-टोपरा स्तम्भ की प्रथम 6 आज्ञाएँ, रानी की आज्ञा तथाकथित कोशाम्बी आज्ञा समुद्रगुप्त की प्रशस्ति राजा बीरबल का अभिलेख तथा जहागीर का अभिलेख उत्कीर्ण हैं। (8) कौशाम्बी का स्तम्भ जो बिना लेख का किन्तु मौर्य युगीन विख्यात ओपयुक्त है। (9) लुम्बिनी स्तम्भ आधुनिक नेपाल के रूम्मिनदेई स्थान पर डा. फुहरर को 1896 ई में

15. अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ० 122

उक्त सूची में विविध स्थलों से पश्चात काल में प्राप्त अशाकीय स्तम्भ के खण्डों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। इनमें (1) पन्ना की सदर गली से उपलब्ध होने वाला वृषशीर्षक्युक्त स्तम्भ खण्ड (2) आरा के मसाढ गाव से प्राप्त सिंह शीर्षक जो पटना सग्रहालय में सुरक्षित है (3) पटना सग्रहालय में सुरक्षित चार वृषों के सघाटयुक्त स्तम्भ शीर्षक तथा (4) बस्ती से अमरनाथ को प्राप्त होने वाला भग्न अशोकीय शार्षक उल्लेखनीय है।

अशोकीय स्तम्भ के कुल 6 भाग हैं (1) भूगर्भस्थ बिना तराशा हुआ बुनियादी पत्थर जिसक ऊपर स्तम्भ यष्टि को खडा किया गया है (2) एकाश्मक स्तम्भ यष्टि (3) पूर्णघट अथवा अवाङमुखी पद्मकोष (इन्वर्टेड लोटस) जिसे मार्शल ने घटाकृति कहा है (4) गोल चौकी (अबेकस) जिसमें कहीं कहीं पशु एव चक्र की आकृतिया खचित हैं यथा सारनाथ स्तम्भ में, (5) हाथी वृष, अश्व एव सिंह में से किसी एक पशु की मूर्ति युक्त शीर्षक। सारनाथ स्तम्भ के शीर्ष में चार सिंहों की पीठ से पीठ सटाये बैठी प्रतिमाएँ मिलती हैं। (6, महाचक्र अथवा धर्मचक्र। सारनाथ के उक्त स्तम्भ में सिंहाकृतियों के ऊपर एक धर्म चक्र था जिसके टुकडे प्राप्त हुये थे।

प्राक्-अशोकीय स्तम्भ एव अशोकीय स्तम्भों का तिथिक्रम -- राधा कुमुद मुकर्जी सरीख विद्वान ने सभी मौर्य युगीन स्तम्भों के निर्माण का श्रेय अशोक को नहीं दिया है।[16] उन्होंने कुछ स्तम्भों के प्राक्-अशोकीय होने के पक्ष में अपना विचार व्यक्त किया है। कनिंघम द्वारा तक्षशिला एव लटिया (गाजीपुर के निकट उ० प्र०) में देखे गये लेख रहित दो स्तम्भ और कनिंघम द्वारा ही सकिसा भिलसा साची और उदयगिरि में देखे गये स्तम्भ शीर्षों को उन्होंने प्राक्-अशोकीय माना था। इसके अतिरिक्त गुप्त अभिलेख युक्त भितरी स्तम्भ को भी वह मौर्य स्तम्भ मानते थे। अपने मत के समर्थन में वह श्वान च्वाङ द्वारा कुछ स्तम्भों को स्पष्टत अशोकीय न कहना अशोक द्वारा कुछ स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण न करना तथा प्रथम लघुशिलालेख (रूपनाथ सस्करण) में अशोक क इस कथन का कि उसक साम्राज्य में जहाँ प्रस्तर स्तम्भ उपलब्ध हैं उनमें यह आज्ञा उत्कीर्ण की जाय उल्लेख करते हैं। निःसन्देह मुकर्जी का उक्त विचार अकाट्य प्रमाणों पर आधारित नहीं है। वस्तुत स्तम्भ निर्माण का विचार निर्णय आदि अशोक के मस्तिष्क की उपज है।

अशोकीय एकाश्मक स्तम्भों की निर्माण शैली का अध्ययन उनके तिथि क्रम निर्धारण की दिशा में उपयोगी सोपान है। उसके अनेक गुहालेखों शिलालेखों तथा स्तम्भ लेखों पर उसका शासन वर्ष उत्कीर्ण मिलता है। बराबर पर्वत माला जो अशोक के काल में खलतिक खाखेल के काल में गोरथगिरि और अनन्तवर्मा मौखरी के काल में प्रवरगिरि नाम से ज्ञात थी के प्रथम एव द्वितीय गुहालेख मौर्य सम्राट अशाक के 12 वें शासन वर्ष क हैं। यही तिथि प्रथम से चतुर्थ शिलालेखों (गिरनार सस्करण) की है। बराबर पर्वतमाला का तृतीय गुहालेख 19 वें शासनवर्ष का है। लुम्बिनी स्तम्भ लेख सम्राट के 20 वें शासन वर्ष का है। यही तिथि निगलीवा स्तम्भ की है। प्रथम से छठे स्तम्भ लेख (दिल्ली टोपरा सस्करण) को सम्राट के 26वें शासन वर्ष में उत्कीर्ण किया गया। सिंह शीर्षक युक्त रामपुरवा स्तम्भ के उत्कीर्ण किये जाने की भी यही तिथि है। लौरियानन्दनगढ का स्तम्भ लेख तथा सातवा स्तम्भ लेख (दिल्ली टोपरा सस्करण) दोनों ही 27 वें शासन वर्ष के हैं। सारनाथ स्तम्भ लेख अशोक के शासन के 28 वें वर्ष से पहले का नहीं हो सकता। अधिकाश विद्वानों की धारणा में यह

16 पाण्डे सी० बी पूर्वोक्त पृ 56-60

सम्राट के शासन के अन्तिम वर्षों में उत्कीर्ण किया गया होगा।

निहार रंजन राय ने स्तम्भ की बनावट व शैली के आधार पर यह बताने की चेष्टा की है कि बसाढ़-बाखिरा स्तम्भ अपने लघु आकार अधिक भार वर्गाकार चौकी तथा अनुपात एवं सौन्दर्य की कमी के कारण स्तम्भ स्थापना के प्रारम्भिक चरण की ओर संकेत करता है। इसके पश्चात अकुशल कारीगरी की ओर संकेत करने वाले गोल मटोल हाथी की मूर्ति युक्ति संकिसा स्तम्भ का उल्लेख किया जा सकता है। अब चौकी का स्वरूप वर्गाकार न होकर गोलाकार हो गया है। इसके साथ ही वृष शीर्षक युक्त रामपुरवा स्तम्भ को रखा जा सकता है। तिथि क्रम की दृष्टि से इसे सिंह शीर्षक युक्त रामपुरवा व लौरिया नन्दनगढ स्तम्भों से बहुत अलग नहीं किया जा सकता। विकास के अन्तिम चरण के प्रतिनिधि के रूप में सारनाथ तथा साची स्तम्भों की गणना की जा सकती है। इन दोनों ही स्थलों पर चार सिंह उकडू बैठे हुए कभी स्तम्भों के शीर्षों की शोभा बढाते थे।

सारनाथ सिंह शीर्षक का अर्थ — निःसन्देह सारनाथ से प्राप्त होने वाला यह विख्यात शीर्ष अशोकीय कला का बेजोड नमूना है। इसको गढने में शिल्पी ने धर्मचक्र चार सिंहों के शरीर सौष्ठव गोल चौकी में उत्कीर्ण चार पशु (अश्व वृष सिंह एवं गज) एवं चार धर्म चक्र तथा पद्मकोश आदि शीर्ष के विविध भागों के सन्तुलन एवं सौन्दर्य के मध्य तालमेल बैठाकर अपने कला नैपुण्य का परिचय दिया है। मार्शल के विचार में यह भारत में पाई जाने वाली सर्वश्रेष्ठ शिल्पकृति है। आकृतियों की सुडौलता एवं सुन्दरता कला की सुदीर्घ परम्परा एवं अभ्यास की परिचायक है। यद्यपि साची स्तम्भ शीर्ष में भी सारनाथ की भाति चार सिंह पीठ से पीठ सटाये उत्कीर्ण है किन्तु उनका शिल्पांकन अपेक्षया उतना प्रभावशाली नहीं है जितना सारनाथ का। इसमें स्तम्भ यष्टि के उपर अवाङमुख पद्मकोश उसके ऊपर गोल चौकी जिसमें हाथी वृष घोडा व सिंह के अतिरिक्त चार चक्रों का भी अंकन हुआ है।

अशोकीय स्तम्भ शीर्षकों का प्रतीकवाद मौर्यकला के अध्येता विद्वानों के लिए लगभग एक शताब्दी से रोचक विवाद का विषय रहा है। आनन्द कुमारस्वामी राजेन्द्र लाल मित्र व वासुदेव शरण अग्रवाल ने भारतीय प्रतीकात्मकता पर बल दिया है। कुछ अन्य विद्वान स्तम्भ शीर्षों पर विदेशी प्रभाव का सुझाव देते है।

ब्लाख के अनुसार गोलचौकी में उत्कीर्ण चार पशु इन्द्र शिव सूर्य और दुर्गा नामक देवी देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। शिल्पी का लक्ष्य उन्हें बुद्ध और धर्म के अधीन बताना था। फुशे ने उक्त पशुओं को बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है। वृष जन्म का हाथी गर्भाधान का अश्व अभिनिष्क्रमण का और सिंह स्वय बुद्ध का जिन्हें बौद्ध साहित्य में शाक्य सिंह कहा गया है प्रतीक है। दयाराम साहनी नामक पुराविद के विचार में ये पशु बौद्ध अनोतत्त सरोवर के चार द्वारों से सम्बन्धित पशु थे। स्मिथ के अनुसार चौकी के चारों पशुओं का शिल्पांकन चार दिशाओं के संरक्षक के रूप में हुआ है। लंका की परम्परा के अनुसार सिंह उत्तर गज पूर्व वृष पश्चिम तथा अश्व दक्षिण दिशा का संरक्षक है जिनसे क्रमश वैश्रवण (कुबेर) धृतराष्ट्र नागराज विरूपाक्ष और विरूढ सरीखे अर्द्धदेवों का सम्बन्ध बताया जाता है।

अग्रवाल के अनुसार सम्पूर्ण शीर्ष के विचार को सम्राट अशोक की मौलिक कल्पना ही माना

आजीविकों के उपयोग के लिए बनाया गया था। यह वस्तुत 44 फुट लम्बा 19 फुट चौडा तथा 10 फुट ऊँचा विशाल कक्ष है।

दशरथ मौर्य के काल म उत्कीर्ण दो अन्य गुफाओं के भी आजीविकों को दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। वदथिक गुफा में उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण दशरथ के काल में हुआ था। दूसरी गुफा वहियक अथवा वहिजक कहलाती है। इसका रूप भी एक कक्ष सदृश्य है जो 16 फुट 9 इच लम्बा 11 फुट 3 इच चौडा तथा 10 फुट ऊँचा है।

गया स पूर्व की ओर लगभग 25 मील दूर तथा राजगृह से 13 मील दक्षिण में स्थित सीतामढी गुफा भी इसी वर्ग में रखी जाती है। यह भी एक आयताकार योजना का कक्ष है जिसकी लम्बाई 15 फुट 9 इच चौडाई 11 फुट 3 इच तथा ऊँचाई 6 फुट 7 इच है।

उपर्युक्त गुहा चैत्य मौर्य युगीन लगभग पचास वर्षों की वास्तु विषयक गतिविधि के परिचायक हैं। इनमें से कुछ (कम से कम बराबर की सुदामा और लोमस गुहाएँ) इस बात की ओर सकेत करती हैं कि आयताकार मण्डप तथा भीतरी छोर पर अर्द्ध वृत्त कक्ष वाले चैत्य गृह की याजना को अशोक के समय म विकसित किया गया।

निहाररजन राय के अनुसार पश्चातकालीन चैत्य वास्तु का इतिहास स्थूलत सुदामा और लोमस ऋषि की बुनियादी योजना क विकास एव उत्थान का ही इतिहास है।[18]

अशाक कालीन अन्य कला कृतियाँ— मौर्य सम्राट अशोक एक महान निर्माता था। उसके काल की कलात्मक गतिविधि विशाल एकाश्मक स्तम्भों उनके शीर्षों में उत्कीर्ण विविध पशुमूर्तियां तथा बराबर की गुफाओं क उत्कीर्ण किये जाने तक सीमित नहीं थी। उसन इनके अतिरिक्त अनेक स्तूपों के निर्माण का दायित्व निर्वाह किया। वह स्वय कनकमुनि बुद्ध के स्तूप को दुगना करने (निगलीवा स्तम्भ लेख) की बात कहता है। उसके लुम्बिनी अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने वहाँ पत्थर की दीवार बनवायी थी। अहरौरा लघुशिला लेख (वाराणसी से 25 मील दूर) सम्राट द्वारा बुद्ध के अवशेषों पर स्तूप निर्मित कराने का उल्लेख करता है। उस परम्परा 84 हजार स्तूपों के निर्माण का श्रेय देती है। यह सख्या निःसन्देह बहुत ही अतिरजित है। किन्तु यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि उसने अनेक स्तूप बनवाये थे। सारनाथ साची तथा भरहुत के स्तूपों के आकार एव स्वरूप परिवर्तन का कार्य भी उसके काल में सम्पन्न हुआ। सारनाथ की अशोकीय चमक युक्त एकाश्मक वेदिका साची सग्रहालय में सुरक्षित हर्मिका के छत्र खण्ड धौली (उडीसा) नामक स्थान पर शिलाकृत हाथी कालसी में चट्टान को काटकर बनाया गया विशाल हाथी आदि उसके काल की अय कलाकृतियाँ हैं। चौखण्डी धमक एव धर्मराजिक स्तूप (वाराणसी के आस पास) उसी के काल में बने।

मार्यकला क भारततर मूल की समस्या— स्थूलत पुरातात्विक दृष्टि से ताम्राश्म युगीन कलावशेषों से मौर्ययुग क आगमन तक का सुदीर्घ अन्तराल एक उल्लखनीय ऐतिहासिक तथ्य है। इसस अनेक पाश्चात्य विद्वानों को मौर्यकालीन सुघटित एव परिष्कृत कला के मूल को भारतेतर देशों की कला में ढूढने की प्रेरणा मिली। अशोकीय स्तम्भों से पूर्व कही भी भारत में एकाश्मक स्तम्भ पशु

18 राय निहाररजन मौर्य एण्ड शुग आर्ट, पृ० 58-59 सी०बी० पाण्डे द्वारा पूर्वोक्त ग्रथ के पृ० 37 में उद्धृत

शीर्षक तथा उच्चकोटि की आप के भौतिक उदाहरण प्रात नही हुए। चमकदार पालिश तो मौर्यों से पूर्व ही नहीं पश्चात काल में भी नही मिलती। एसी पृष्ठभूमि में यह प्रश्न उठना नितान्त स्वाभाविक है कि मौर्य युग में विशेषत अशोकाय कला में दृष्टिगत होने वाले विकास एव परिष्करण का मूल स्रोत क्या था ? पिछले तृतीय एव चतुर्थ अध्यायों में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि भारतीय साहित्य में सहस्रस्थूण राजप्रासाद पुर द्वार प्राकार परिखा सथागार चैत्य स्तूप वेदिका देवायतन आदि अनेक कला विषयक सन्दर्भ मिलत हैं। इस बात में सन्देह व्यक्त किया गया है कि भारत की परम्परागत कला ने मौर्य कला के ही विशेषत कुछ परिपक्व नमूनों के निमाण को प्ररित किया। पर्सी गार्डिनर के अनुसार अशोकीय कला परिपक्व कला है कुछ पक्षों में तो समकालिक यवन कला से भी अधिक परिपक्व है। मौर्य कला के मूल स्रात देशी थे अथवा विदेशी यह प्रश्न भारतीय कला के अध्येता विद्वानों के मध्य मत मतान्तर को प्रेरित करता रहा है।

सर जॉन मार्शल ने परखम की सम्मुखता युक्त (यूनीफेसियल) यक्ष मूर्ति तथा चतुर्मुख दर्शन युक्त सारनाथ स्तम्भ शीर्ष की पशुआकृतियों के मध्य दृष्टिगत होने वाले अन्तर की ओर ध्यान केन्द्रित किया। उसने इस अन्तर की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मौर्य कला का आदर्श ईरान की हखामनी कला थी जिसने बाह्लीक यवनों के माध्यम से भारत में प्रवेश किया। उसने सेना क मत का अनुसरण करते हुए यह अभिमत व्यक्त किया कि अशोकीय अभिलेख ईरानी सम्राटों के अभिलेखों की अनुकृति पर लिखवाये गये। तथा कथित घटाकृति युक्त शीर्षकों का विकास फारस में हुआ। पर्सिपोलिस तथा नव्श ए रुस्तम सरीखे फारसी नगरों में प्राप्त होने वाले ईरानी स्तम्भों की ही नकल पर मौर्य युग में चिक्ने एकाश्मक स्तम्भ निर्मित किये गये। पाटलिपुत्र का विख्यात मौर्य राजप्रासाद भी पर्सिपोलिस और सूसा के राजप्रासादों के अनुकरण पर विनिर्मित हुआ। अशोक के स्तम्भों पर पाई जाने वाली उच्चकोटी की चमकदार पॉलिश का रहस्य भी मार्य शिल्पियों ने ईरानी शिल्पियों स सीखा। मार्शल के विचार में बाह्लीक प्रदेश से होकर ही ईरानी प्रभाव ने भारत में प्रवेश किया। उसके अनुसार सारनाथ सिंह शीर्षक युक्त स्तम्भ भारतीय विचार निर्माण एव अभिव्यक्ति इन तीनों दृष्टियों से भारतीय न होकर ईरानी है।[19]

पर्सी ब्राउन एव बेंजामिन रोलैण्ड ने भी मार्शल की भाति मौर्य कला की विदेशी उत्पत्ति क विचार का समर्थन किया है। पर्सी ब्राउन के अनुसार सम्राट अशोक ने ईरानी शासकों के भवनों वहा की मूर्तियों तथा बेहिस्तुन सरीख अभिलेखों से प्रेरित होकर अपनी प्रगतिशील योजनाओं को विदेशी अनुभवी कलाकारों की सहायता से क्रियान्वित किया।[20] बेन्जामिन रोलैण्ड भी मौर्य कला पर पश्चिम एशियाई एव हेलेनिक प्रभाव की चर्चा करता है। उसके अनुसार प्रस्तर पर राजाज्ञा उत्कीर्ण करने का विचार भी ईरान से उधार लिया गया है।[21]

अशाकीय मौर्य कला के ईरानी मूल विषयक मार्शल के विचार का अनेक पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानों ने विरोध किया है। ऐसे पश्चिमी विद्वानों मे विन्सेन्ट स्मिथ तथा हैविल का नाम लिया जा सकता है। स्मिथ के अनुसार वास्तु एव मूर्तिशिल्प के लिए प्रस्तर का अनायास ही अगीकरण

19 अग्रवाल पूर्वोक्त पृ० 140-41

२० ब्राउन पर्सी पूर्वोक्त तृतीय सस्करण, 1983 पृ० 8

21 रोलैण्ड बेंजामिन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आव इण्डिया तृतीय सस्करण, 1967 पृ० 65

काफी मात्रा में विदेशी सम्भवत ईरानी उदाहरण का परिणाम था। आगे वह कहता है कि अशोकीय मूर्ति शिल्प एव वास्तु के रूप–विधान लकडी के आदि रूपों (प्राटोटाइप्स) से ही उत्पन्न हुए। वह सम्राट अशोक की व्यक्तिगत पहल मौलिकता विशाल डिजाइन निर्माण करने की क्षमता आदि का प्रशसक है।[22]

हैवेल के विचार में अशोकीय स्तम्भ का परिकल्पित अथवा मान लिया गया पर्सी पोलिटन घटा शीर्ष भारतीय कमल शीर्ष का ही त्रुटिपूर्ण पाठ है। निसन्देह हैवेल को भी मार्शल का मत स्वीकार नहीं था। आनन्द केंटिश कुमारस्वामी का विचार भी कुछ ऐसा ही है। उसके अनुसार अशाकीय स्तम्भों के कमल शीर्ष अथवा घटा शीर्ष को ईरानी आकार की प्रतिकृति मानना असम्भव है। उनके मत में दोनों प्रकारों में इतनी अधिक समानता नहीं है कि कमल शीर्ष को पर्सीपोलिटन कहा जा सके।[23] वह दोनों की सजातीय उत्पत्ति की ओर भी सकेत करता है। उसके विचार में दोनों ही रूपों को (मौर्य एव ईरानी) ऐसी समानान्तर व्युत्पत्ति का जिसका मूल स्रोत पश्चिमी एशिया के पुरातन रूप हों माना जाना चाहिए। कॉडरिंगटन ने भी अशाकीय स्तम्भ शीर्षों एव ईरानी घटाकृति के मध्य अन्तर को रेखाकित किया था। राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार भारतीय स्तम्भ स्मारकीय (मोनुमेन्टल) हैं जबकि पर्सीपोलिस के स्तम्भ इमारती अथवा वास्तुगत (स्ट्रक्चरल) हैं।

मौर्यकला की शुद्ध भारतीय उत्पत्ति वाले मत के प्रबलतम समर्थक निसन्देह वासुदेवशरण अग्रवाल थे। उन्होंने वैदिक एव वैदिकोत्तर साहित्य के कला विषयक व्यापक सदर्भो के अध्ययन के आधार पर मार्शल के मत के प्रत्येक बिन्दु का तर्क सम्मत खण्डन किया है। वह अपने विचार के समर्थन में यदा–कदा पुरातात्विक सामग्री का भी उपयोग करते हैं। उनके विचार में चन्द्रगुप्त सभा तथा उसकी स्थापत्य योजना स्तम्भ निर्माण पशु शीर्षक चमकीली पॉलिश (ओप) आदि सभी भारतीय परम्परा के थे। यवन लेखकों के विवरण के अनुसार मौर्य प्रासाद सूसा और एकबताना के राज प्रासादों से अधिक भव्य एव प्रभावशाली था। यदि इस निर्माण कार्य में ईरानी कलाकारों का यागदान था तो ईरान के प्रासाद निश्चित ही मौर्य प्रासाद से श्रेष्ठ होते। ऐसी स्थिति में मौर्य प्रासाद के विदेशियों द्वारा निर्मित किये जाने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती। अग्रवाल के अनुसार बराबर पहाडी की सुदामा एव लोमस ऋषि गुफाओं को उत्कीर्ण करने वाल कलाकार पूर्ववर्ती काष्ठ शिल्प में निष्णात थे। भारतीय शिल्पी गजपृष्ठाकार छतें आयताकार मण्डप गोल गर्भगृह कमानी दार गोलम्बर लम्बी धरन द्वार तोरण तथा चमकदार पालिश आदि में भी सिद्धहस्त था।

अशोकीय स्तम्भ के विविध अवयवों के सम्बन्ध में भी अग्रवाल का मत विदेशी प्रभाव का खण्डन करता है। उनकी धारणा में स्तम्भ के पाच अगों (धर्मचक्र पीठ सटाये चार सिंह चार चक्र और चार पशुओं की आकृति युक्त गोल चौकी पद्मपत्र युक्त पूर्णघट तथा स्तम्भ यष्टि) का जन्म भी भारत में हुआ। धर्मचक्र की कल्पना ब्रह्माण्ड चक्र ब्रह्मचक्र आदि नामों से वैदिक युग में हो चुकी थी। चक्रवर्ती सम्राट का धर्मचक्र विश्व के काल चक्र का ही द्योतक है। बौद्ध ग्रथ दीघनिकाय के चक्कवत्ती सीहनाद सुत्त और महासुदस्सन सुत्त में चक्र का उल्लेख हुआ है। चार सिंह चक्रवर्ती सम्राट की

22 स्मिथ अ हिस्ट्री आव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सालोन, द्वितीय सस्करण बम्बई 1969 पृ० 16

23 कुमारस्वामी हिस्ट्री आव इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट प्रथम भारतीय सस्करण, दिल्ली 1972 पृ० 17 पाद टिप्पणी 6

शक्ति के प्रतीक हैं । गोल चौकी के चार महाआजानेय पशु तथा चार चक्र अशोक के साम्राज्य की विविध प्रजा एव उसकी एकता के द्योतक है ।[24] पशु आकृतियों की परम्परा भारतीय कला और साहित्य में अत्यन्त प्राचीन है। चार पशुओं को उत्कीर्ण करने की पुरातन परम्परा सिन्धु घाटी की मोहर से प्रमाणित होती है। स्तम्भ यष्टि के उपर तथा चौकी के नीचे रखा हुआ पद्मकोश अथवा पूर्णघट पश्चिमी विद्वानों के लिए ईरानी घटे से अभिन्न था। घट के कठ की मेखला और नीचे की चौकी घटे की आकृति से मेल नही खाती। घट के मुख से बाहर की ओर लहराती पखुडियों का घटे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। भारतीय कला में जहाँ भी घटों का अकन हुआ है उनमें कही भी ऐसे कमल पत्र नही है। भारतीय साहित्य में पूर्ण कलश अथवा कुम्भ का अनेकत्र उल्लेख हुआ है। अशोकीय स्तम्भ का यष्टि नामक भाग भी भारतीय मूल का ही है। वैदिक युग में काष्ठ के यूप बनाये जाते थे। यज्ञ मण्डप में उन्हें यूप तथा विवाह मण्डप में स्थूण या स्कम्भ कहा जाता था। यह विश्व का आधार एव देवताओं का निवास था।

ईरानी और मोर्य कला म अन्तर — मौर्य स्तम्भों तथा ईराना स्तम्भों के मध्य कुछ ध्यान देने योग्य अन्तर हैं (1) पर्सीपोलिस के प्रासाद स्तम्भों पर उत्कीर्ण शीर्षक है जबकि चन्द्रगुप्त सभा के वास्तुगत स्तम्भों पर यह नहीं है। (2) ईरानी स्तम्भों के निचले भाग में तथाकथित घटाकृति है इसके विपरीत मौर्य स्तम्भों के शीर्ष पर वही आकृति स्थापित है। मौर्य स्तम्भों के नीच कोई अधिष्ठान या चौकी नहीं है जबवि ईरानी स्तम्भ चौकी पर खडे हैं। (3) ईरानी स्तम्भ प्राय खारेदार (फ्लूटेड) हैं किन्तु मौर्य स्तम्भ सपाट है। (4) भारतीय स्तम्भ एकाश्मक लम्बी यष्टि के रूप में हैं जबकि ईरानी स्तम्भ कई खण्डों को जोडकर बनाये गये हैं । (5) ईरानी स्तम्भ प्राय इमारती हैं अर्थात् भवनों के साथ ही मिलते हैं। इसके विपरीत अशोकीय स्तम्भों का स्वतत्र अस्तित्व है। (6) ईरानी स्तम्भों के अलकरण भी मौर्य स्तम्भों के अलकरण से भिन्न प्रकार के हैं । (7) अशोकीय स्तम्भों की ओप के सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि मौर्य पूर्व युगीन पत्थर निर्मित कलाकृतियों में यह थी या नहीं क्योंकि दुर्भाग्य से ऐसे नमूने अनुपलब्ध है। उच्चकोटि की चमक पैदा करने के प्राचीन साहित्य में अवश्य उल्लेख मिलते हैं। इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब श्रौत सूत्र का उल्लेख किया जा सकता है। भारत में प्राप्त होने वाले चमकदार मृद्‌भाण्डों से इस बात का सकेत मिलता है कि भारतीय ओप के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं थे। इन मिट्टी के वर्तनों में गेरुए या लाल रग की पोत वाले बर्तन भूरे रग के बर्तन जिन पर काली रेखाओं के चित्र हैं तथा उत्तरी काली ओप युक्त वर्तनों को सम्मिलित किया जाता है। बृहत कल्पसूत्र भाष्य में ओप युक्त बर्तनों का उल्लेख हुआ है। पिप्रावा स्तूप की स्फटिक मजूषा नगों से बने मनक पाटलिपुत्र से मिले दो यक्ष दीदारगज की यक्षी तथा लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त तीर्थंकर की कबन्ध प्रतिमा से स्पष्ट है कि ओप का रहस्य मौर्य राज शिल्पियों तक सीमित नही था।

लोक कला का मौर्य युगीन स्वरूप — मौर्य युगीन कला के एक महत्वपूर्ण पक्ष का प्रतिनिधित्व प्रस्तर निर्मित उन विशाल काय प्रतिमाओं द्वारा होता है जो भारत के विभिन्न भूभागों से प्राप्त होती हैं तथा जिनकी अपनी निजी शैली है। इन प्रतिमाओं को आकार प्रकार तथा शैलीगत विशिष्टताओं के कारण राज्याश्रित कला के साथ वर्गीकृत करना कठिन है। इन मूर्तियों को लोककला

---

24 चार पशुओं की विविध व्याख्या इस अध्याय के प्रारंभिक पृष्ठों में की जा चुकी है ।

के अन्तर्गत रखा जाता है जिसका सम्बन्ध स्टेला क्रमरिश के अनुसार सैन्धव सभ्यता क अवशेषों से था। यह प्रतिमाएँ उडीसा पाटलिपुत्र वाराणसी मथुरा अहिच्छत्रा विदिशा कुरुक्षेत्र आदि देश क विस्तृत भू भागों से प्राप्त हुई। इन्हें यक्ष-यक्षी नामक लाक देवी दवताओं की मूर्तियों के रूप में पहचाना जा चुका है। शक्ति एव शौर्य की प्रतीक यह प्रतिमाएँ प्राय खडी मुद्रा में निर्मित की गई हैं। महाकाय एव भारी भरकम यह मूर्तियाँ अपनी दैवी विशेषताओं का प्रदर्शित करती हैं । सम्मुख दर्शन की विशपता युक्त यह मूर्तियाँ निम्न स्थलों स प्राप्त हुई हैं (1) मथुरा जनपद के परखम ग्राम से प्राप्त लेख युक्त यक्ष प्रतिमा जिस पर सम्भवत मणिभद्र लिखा है (2) मथुरा जनपद के झीग का नगरा ग्राम से मिली यक्ष की मूर्ति (3) मथुरा जनपद के ही बरोदा ग्राम से प्राप्त यक्ष (4) भरतपुर जनपद क नोह ग्राम से प्राप्त यक्ष या जारू (5) भोपाल क निकट बेसनगर से प्राप्त यक्षी जो भारतीय सग्रहालय कलकत्ता में सुरक्षित है (6) बसनगर से ही प्राप्त यक्षी जिसका स्थानीय नाम तेलिन है (7) विदिशा या भिलसा से प्राप्त यक्ष मूर्ति (8) ग्वालियर जनपद में प्राचीन पद्मावती (वर्तमान पवाया) स प्राप्त लेख युक्त यक्ष जो ग्वालियर सग्रहालय में सुरक्षित है (9) पटना में दीदारगज स प्राप्त मौर्य शैली की ओप युक्त यक्षी (चित्र 53) (10) पटना से प्राप्त मौर्य ओप युक्त यक्ष मूर्ति जिस पर एक लेख भी है (11) पटना से ही मिली एक अन्य लेख युक्त यक्ष मूर्ति जो भारतीय सग्रहालय में है (12) वाराणसी के राजघाट से प्राप्त त्रिमुख यक्ष जो भारत कला भवन में सुरक्षित है (13) उडीसा के शिशुपालगढ से प्राप्त कई यक्ष मूर्तियाँ (14) अहिच्छत्रा के फल्गु विहार से प्राप्त कुषाण कालीन यक्ष मूर्ति (15) कुरुक्षेत्र में आमीन से प्राप्त यक्ष प्रतिमा (16) सापारा (शूर्पारक) स प्राप्त यक्ष मूर्ति जो अब राष्ट्रीय सग्रहालय मे है ।

जॉन मार्शल आर० पी० चन्दा स्टेला क्रमरिश आनन्द कुमारस्वामी तथा वासदेव शरण अग्रवाल के अनुसार उक्त यक्ष मूर्तिया मौर्य युगीन हैं । निहाररजन राय तथा एस० क० सरस्वती उपर्युक्त यक्ष प्रतिमाओं को मौर्य कालिक नही मानते। निहाररजन राय के अनुसार पटना यक्षों की मौर्य कालीन चमक जिस पर मुख्यत यक्ष मूर्तियों के मौर्य युगीन होने का तर्क आधारित है वस्तुत प्रतिमाओं के ऊर्ध्व भाग पर ही अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। यह स्थिति उसके विचार में मौर्य कालीन राज्याश्रित कला की हासोन्मुखता की द्योतक है। जहाँ तक मूर्तियों की शैली का प्रश्न है उनकी स्थूल काया भारी स्वरूप आदि मथुरा के अपरिष्कृत बाधिसत्व के समान दिखाई देता है।[25] सरस्वती क विचार में यक्ष-यक्षी प्रतिमाओं में तकनीक शैली और सौन्दर्यगत अभिव्यक्ति को लेकर पाये जाने वाले अन्तर को देखते हुए उन्हें एक ही युग में वह भी मौर्य काल में नहीं रखा जा सकता।

उक्त प्रतिमाओं की पहचान के सम्बन्ध में जायसवाल कुमार स्वामी तथा रामप्रसाद चन्दा ने अपने विचार व्यक्त किये थे। काशी प्रसाद जायसवाल ने परखम (मथुरा) की प्रतिमा को कुणिक अजातशत्रु की मूर्ति कहा था। पाटलिपुत्र से प्राप्त प्रतिमाओं को सम्राट नन्द और पुत्र महानन्दी की मूर्ति कहा था। प्रारम्भ में कुमारस्वामी का झुकाव भी जायसवाल के मत की ओर था किन्तु बाद में उन्होंने अपने विचार बदल दिये। राम प्रसाद चन्दा ने सर्वप्रथम इन्हें यक्ष नामक लोक देवों की प्रतिमा बताया। कुमारस्वामा ने भी इस मत का समर्थन किया। उनके अनुसार हाल में हुई आलोचना के कारण

25 द एज आव द नन्दज एण्ड मौर्यज पृ० 378-79

चित्र–53 पटना के दीदारगज से प्राप्त चवरधारी यक्षी

जायसवाल के मत को मानना असम्भव है और यही कहना होगा कि परखम यक्ष की मूर्ति ई0 पूर्व 3 शती की है।[26] मूर्तियों पर खुदे हुये लेखों और स्थानीय किंवदन्तियों के आधार पर ऐसा लगता है कि ये भारी भरकम प्रतिमाएँ यक्ष-यक्षियों की थी।

यक्ष नामक लोक देवों की पूजा का चलन भारत के विस्तृत भू भाग में था। इन द्वितीय श्रेणी के देवताओं के साथ भारतीय जन मानस का परिचय पर्याप्त पुराना प्रतीत होता है । कश्मीर से तमिल देश तक तथा आसाम से सौराष्ट्र तक यक्ष पूजा का आज भी चलन है। आजकल यक्ष पूजा वीर पूजा के रूप में प्रचलित है। ऋग्वेद से लेकर परवर्ती साहित्य में अनेकत्र यक्ष का उल्लेख हुआ है। रामायण एवं महाभारत में इनकी चर्चा हुई है। अथर्ववेद में यक्ष भवन अपराजिता पुरी तथा शांति पर्व में यक्ष सदन को अवध्यपुर कहा गया है। बुद्ध ने यक्षपूजा को तिरच्छान विद्या या मिछा जीव विद्या कहा है । पाणिनि के एक सूत्र में सेवल सुपरि और विशाल नामक तीन यक्षों के नाम आये हैं । साहित्य में अनेक यक्षायतनों का उल्लेख हुआ है-- चम्पा में पूर्णभद्र का चैत्य राजगृह में जरा या हारीती का यक्षायतन मिथिला में मणिभद्र का चैत्य। नागों और यक्षों के प्रति विश्वास बहुत लोकप्रिय है। महाभारत में यक्ष को पर्वतोपम और महाकाय कहा गया है जो इन देवों की उक्त प्रतिमाओं की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। यक्ष को महाबल भी कहा गया है। लोक कला से सम्बद्ध इन यक्ष प्रतिमाओं ने शुंग कुषाण और गुप्त कालीन मूर्ति शिल्प को पर्याप्त प्रभावित किया।

लोककला की प्रतिनिधि उक्त यक्ष प्रतिमाओं की अपनी कुछ शैलीगत विशेषताए है (1) वे भीमकाय हैं और उनकी मास पशियों की दृढता एव बल उनकी आकृति से स्वत झलकता है। (2) सिर पर पगडी कन्धों एव भुजाओं पर उत्तरीय जिसका बन्धन छाती पर भी दिखाया जाता है निम्न भाग में धोती पैरों तक लटकती है और मेखला से बधी है। (3) आभूषओं के अन्तर्गत छाती पर त्रिकोना हार भुजाओं पर अगद कानों के भारी कुण्डल तथा गले में भारी कठा (ग्रैवयक टॉर्क) उल्लेखनीय है । (4) *प्रतिमाओं में कुछ को स्थूल एव घटोदर अंकित किया गया है जैसे परखम और पवाया की मूर्तियों में ।* (5) मूर्तिया पृथक रूप में खडी हैं । उनके दर्शन का प्रभाव समुखीन है।

यक्षों के अनेक नाम थे उनमें से मणिभद्र पूर्णभद्र दीर्घभद्र यक्षभद्र स्वभद्र पचवीर कहलाये। सम्भवत भागवतधर्म के पच वृष्णिवीरों का विकास इन्ही से हुआ। सकर्षण वासुदेव प्रद्युम्न अनिरूद्ध और साम्ब वैष्णव धर्म के पच व्यूह के आधार थे।

---

26 कुमार स्वामी पूर्वोक्त पृ० 17 But in view of more recent criticism it is impossible to adhere to Jayaswal's views and it is necesssary to revert to the opinion that the statue represents a Yaksa and must date from the third centruy B C

अध्याय 6

शुंग–सातवाहन युग

मौर्य वश के पतनोपरान्त भारत में जिस वश की सत्ता स्थापित हुई वह इतिहास में शुग वश के नाम मे विख्यात हुआ। मौर्य शासक बृहद्रथ के शासन का अन्त करके उसके सेनापति पुष्यमित्र शुग ने मगध साम्राज्य के एक बडे भू भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। वह एक शक्तिशाली सम्राट था। उमे उत्तरी भारत से यवनों को खदडने में सफलता प्राप्त हुई। अष्टाध्यायी के विख्यात भाष्यकार पतजलि शुग युग की विभूति माने जाते हैं। शुग सम्राट को कलियुग में अश्वमेघ यज्ञ की पुन स्थापना करने वाला भी कहा जाता है। बौद्ध ग्रथों में उसे बौद्धों का उत्पीडक कहा गया है।कहा जाता है कि उसके काल में दो अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न हुये थे। उमका शासन काल सस्कृत भाषा साहित्य के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के पुनरूत्थान का काल माना जाता है। सम्भवत शुग वश के शासक काशीपुत्र भागभद्र के काल में तक्षशिला के यवन राज अन्तलिकित द्वारा भेजा गया हेलियोदोर नामक राजदूत विदिशा गया। वहाँ उसने गरूड ध्वज स्तम्भ स्थापित किया था। लगभग 73 ई0 पूर्व दशार्ण (विदिशा) क्षेत्र में शुग शासन समाप्त हो गया। देवभूति शुग के शासन की समाप्ति पर उसके मत्री वसुदेव न कण्व वश की स्थापना की। शुगों एव कण्वों की ह्रासोन्मुखी शक्ति को दक्षिणी अन्ध्र सातवाहनों की नवोदित सत्ता से गहरा आघात पहुँचा।

शुग–सातवाहन युग कला की दृष्टि से रचनात्मक युग था। इस युग में सरचनात्मक वास्तु एव गुहा वास्तु के साथ मूर्ति शिल्प का भी विकास हुआ। भरहुत साची एव बोधगया के विख्यात बौद्ध स्तूपों का पुन सस्कार किया गया। इन स्मारकों में अनेक नये अवयव जोडे गये। विदिशा मथुरा कौशाम्बी सारनाथ अहिच्छत्रा आदि स्थानों में वैदिक जैन एव बौद्ध तीनों ही धर्मों की समान रूप से प्रगति हुई। उक्त स्थलों में वास्तु एव मूर्ति शिल्प सम्बन्धी कृतियों का निर्माण हुआ। शुग–सातवाहन शासकों के उदार एव व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही विविध सम्प्रदायों से सम्बन्धित कला का समान रूप से विकास इस युग में हुआ। सातवाहन राजाओं के काल में दक्षिणी एव पश्चिमी भारत में कला का पर्याप्त विकास हुआ। सातवाहन युगीन सरचनात्मक वास्तु की प्रगति के प्रतीक स्मारकों में आन्ध्र प्रदेश के अमरावती घटशाल आदि स्थानों में निर्मित स्तूपों की गणना की जा सकती है। सातवाहनों के पश्चात वेंगी क्षेत्र के अधिष्ठाता इक्ष्वाकुओं के काल मे नागार्जुनी कोंड जगय्यपट्ट आदि स्थलों में स्तूपों का निर्माण किया गया। इसी समय यवनों शकों तथा कुषाणों न पश्चिमोत्तर भारत का एक बडा भाग अपने अधिकार में कर लिया। कुषाणों के काल में कला की पर्याप्त प्रगति हुयी।

शुग–सातवाहन युग में कला के क्षेत्र में जिन स्मारकों का निर्माण भारत के दक्षिणी एव पश्चिमी भागों में हुआ वह प्रधानत बौद्ध धर्म स सम्बन्धित है। यह युग गुहावास्तु क विकास एव विस्तार की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। कार्ले भाजा नासिक पीतलखोरा अजन्ता आदि स्थलों में बडी सख्या में शिलाश्रयों एव मूर्तियों का निर्माण हुआ।

स्तूप की उत्पत्ति एव प्राचीनता — भारतीय वास्तुकला का एक महत्वपूर्ण पक्ष निःसन्देह स्तूप नामक ठोस वास्तु सरचना है। प्राचीन नागरिक भवन लगभग पूर्णत नष्ट हो चुके हैं। अत प्राचीन

भारतीय वास्तु की कहानी स्थूलत मन्दिरा एव समाधियों तथा उनका अलकृत करने वाले शिल्प से पुनर्निमित की जानी चाहिए। स्तूप सम्बद्ध वेदिका तोरण विहार चैत्य ममत प्रारम्भिक वास्तु सरचनाएँ हैं । स्तूप साधारणत बौद्ध धर्म से सम्बन्धित समाधि या स्मारक माना जाता है। अनेक विद्वानो की धारणा में स्तूप का अस्तित्व बुद्ध पूर्व युग में था। ऋग्वद में अग्नि शिखा को स्तूप कहा गया है। स्तूप की तुलना वृक्ष स भी की गयी है। वेद में हिरण्यस्तूप नामक अगिरस पुत्र का उल्लख हुआ है। हिरण्यस्तूप शब्द का शाब्दिक अर्थ था साने का ढेर। वदिक परम्परा में सूर्य की कल्पना एक सुवर्णमय स्तूप के रूप में की गई है। सूर्य को अग्नि का महान स्तूप कहा गया है। उस ही ब्रह्म की ज्याति कहा जाता है। बुद्ध पूर्व युग में ही महापुरुष का सम्बन्ध स्तूप क साथ स्थापित हा जाता है। ऋग्वेद के पितृमेध[1] मत्र से ज्ञात होता है कि मृतक के शरीर क उपर मिट्टी क ढेलों का कडा ढेर बनाकर उसके बीच में लक्डी का खम्भा (स्थूण) खडा किया करते थे।

पिछले अध्याय में इस बात की ओर सकत किया जा चुका है कि लौरियानन्दन गढ से प्राप्त मिट्टी क टीर्लो का रूप शव विसर्जन स्थलों पर निर्मित होने वाली समाधियों का था। इन्हें बौद्ध स्तूपों का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। स्तूप को पालि भाषा में थूप या थूभ कहा जाता है। जातकों में थूप या थूपिका शब्द का प्रयोग किसी ऊच टीले या स्मारक के लिए किया गया है। बौद्ध निकाय ग्रथों में थूप शब्द का प्राय प्रयोग हुआ है। थूप का अर्थ है ढेर इक्ट्ठा करना ढेर लगाना। सम्भवत मिट्टी क ढर या टील के लिए स्तूप शब्द का प्रयाग किया जाने लगा। आश्वलायन गृहसूत्र में अस्थि कुभ (अर्न) में अस्थि या राख को रखकर पृथ्वा में गाड देने एव उम पर ऊँचा टीला बनाय जाने का विवरण आया है। शतपथ ब्राह्मण क अनुसार चारों वर्णो क लिए विभिन्न आकार का शव टीला बनाना चाहिये। यजुर्वेद में समाधि को परिधि द्वारा घेरे जाने का उल्लख आता है। शव की पवित्र भूमि को ससार के अपवित्र वातावरण से अलग रखने के लिए ही परिधि का निर्माण किया जाता था। परिधि ही कालान्तर में वेदिका में बदल गई[2] । चिता स्थल पर निर्मित होने वाले टीले को ही जो आरम्भ में मिट्टी का बनता था स्तूप कहा जाता था। स्तूप के पर्यायवाची के रूप में चैत्य शब्द का प्रयोग इसी कारण प्रचलित हो गया।

वैदिक साहित्य में उपलब्ध चैत्य एव स्तूप मम्बन्धी सन्दर्भों के आधार पर चिता पर निर्मित होने वाले मिट्टी के थूहे (ढेर) के रूप में स्तूप का बुद्ध पूर्व युग मं अस्तित्व नकारा नही जा सक्ता। चिता पर या मृतक के अवशषों पर एकत्रित मिट्टी का ढेर और उस पर काष्ठ दण्ड का रोपण यही ऐतिहासिक स्तूप का प्रारम्भिक स्वरूप प्रतीत होता है। उक्त काष्ठ दण्ड को ही चैत्य यूप कहा जाता था। चिता के स्थान पर स्मृति स्वरूप पीपल का वृक्ष भी कभी-कभा रोपा जाता था।[3] मिट्टी के इन उन्नत ढेरों का स्थान कालान्तर में ईंट एव पत्थर द्वारा निर्मित स्तूपों ने ले लिया। बौद्ध ग्रथ महापरिनिब्बान सुत्त से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि जैसे स्तूप चक्रवर्ती राजाओं की समाधि पर बनाये जाते है वैसा ही स्तूप उनकी समाधि पर निर्मित होना चाहिए। इससे बुद्ध पूर्व युग में स्तूप निर्माण की परम्परा के अस्तित्व में होने का सकेत मिलता है।

---

1 ऋग्वेद 10 18 13

2 उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एव मदिर, पटना 1972 पृ 6

3 अग्रवाल पूर्वोक्त पृ 156

साहित्यिक सदर्भों के आधार पर स्तूप की परम्परा प्राक् बुद्ध युगीन भले ही प्रमाणित हो किन्तु स्तूप निर्माण की परम्परा बुद्ध क परिनिर्वाण के पश्चात ही व्यापक रूप से लोकप्रिय हुई। बौद्ध परम्परा क अनुसार बुद्ध क अवशेषों पर मूलत आठ स्तूप बनाये गय थे।[4] सम्राट अशाक न महावश के अनुसार देश के विभिन्न नगरों में 84 हजार स्तूप बनवाये थे। दिव्यावदान स ज्ञात होता है कि अशाक ने सात प्रारम्भिक स्तूपों को खोला था। सम्राट ने वहाँ से निकाले गये अवशेषों का अनेक भागा में बाटने के पश्चात उन पर स्तूप निर्मित कराय।

स्तूप की आकृति एव प्रयोजन — स्तूप मृतक के अवशेषों पर बनाया जाने वाला एक स्मारक है। महापुरुषों के अवशेषों पर स्तूप निर्मित किय जाने की परम्परा बौद्ध एव जैन धर्मावलम्बियों में समान रूप से प्रचलित थी। बौद्ध धर्म में स्तूप महापरिनिर्वाण नामक बुद्ध क जीवन की अन्तिम महान घटना का प्रतीक माना जाता है। प्राय स्तूप में बुद्ध के अवशेष स्थापित हाते हैं कभी-कभी बौद्ध आचार्यों क तबर्रूक पात्र (रैलिक्वरी) में रखे गये अवशेषों पर भी स्तूपों का निर्माण किया जाता था। स्तूप या सिहला दागब की बाह्य आकृति की तुलना स्थूलत गोलार्द्ध (हेमिस्फियर) से की जा सकती है। स्तूप के गुम्बद को अण्डाकार बुलबुलाकार तथा औंधे क्टोरे के आकार की वास्तु सरचना कहा गया है। स्तूप आरम्भिक काल म छाट परिमाण के बनत थे किन्तु कालान्तर में विशाल स्तूपों का निर्माण किया जाने लगा। स्तूप का सिरा चपटा होता है। इसी भाग में स्तूप की हर्मिका (देव सदन) हाता है। हर्मिका के मध्य में एक यष्टि लगाई जाती है। सम्भवत यष्टि के नीचे का भाग धातुगर्भ मजूषा को छूता था। उसके उपरी भाग पर तीन (कालान्तर में सात) छत्र बनाये जाते थे। हर्मिका या यष्टि के चतुर्दिक एक बाडा बनाया जाता था जिसे वेदिका कहा जाता है। हर्मिका स्तूप का पवित्रतम भाग है जिसकी तुलना मन्दिर क गर्भगृह (सैन्कटम सैन्क्टोरम) से की जा सकती है। गर्भगृह की पवित्रता उसमें प्रतिस्थापित उपास्य देवा अथवा देवता की प्रतिमा के कारण है। इसी प्रकार स्तूप का धार्मिक महत्व उसमें रख गये अवशेषों के पात्र क कारण होता है। इन पवित्र अवशेषों के पात्र से छूते हुये एक यष्टि ठोस स्तूप के भीतर ही भीतर स्तूप के चपट सिर तक जाती है। यही हर्मिका है। पवित्र अवशेषों से जुडे होने के कारण हर्मिका स्तूप का पवित्रतम भाग माना जाता है। स्तूप के वास्तु विधान के विकास क साथ स्तूप के चतुर्दिक एक वेदिका निर्मित होने लगी जिसमें यथा स्थान तोरण बनते थे। प्रारम्भ में स्तूपों के चारों ओर काष्ठ वेदिका बनाई जाती थी। पश्चात काल में प्रस्तर वेदिका ने काष्ठ वेदिका का स्थान ले लिया। वेदिका के तोरणों को शिल्प से अलकृत किया जान लगा। स्तूप एव वेदिका के मध्य की भूमि को प्रदक्षिणापथ कहते हैं। श्रद्धालु तीर्थयात्रियों द्वारा यह मार्ग स्तूप की परिक्रमा के लिए प्रयुक्त होता था।

स्तूप की कल्पना एक ब्रह्माण्डीय अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले विशाल स्वस्तिक के रूप में की गई है। स्वस्तिक की चार भुजाएँ चार दिशाओं की ओर सकेत करती हैं पुराणों में सुमेरू को विश्व का केन्द्र बिन्दु माना गया है। सुमेरू के चतुर्दिक विश्व विस्तृत है। चार दिशाओं के चार लोकपाल हाते हैं। स्तूप का गोलार्द्ध रूप अतरिक्ष के समान है। उस अण्ड भाग के उपरी हिस्से पर विनिर्मित हर्मिका को देवलोक सदृश माना जाता है। इस स्थान को बुद्ध का कल्पित निवास स्थान माना

4 बुद्ध के अवशेषों के आठ दावेदार थे — अजातशत्रु शाक्य बुली कोलिय पावा के मल्ल, वैशाली के लिच्छवि वेठदीप के ब्राह्मण, तथा कुशीनगर के मल्ल,

जाता है। बुद्ध को चक्रवर्ती राजा के समान प्रतिष्ठित करने के निमित्त हर्मिका में छत्रावली का निर्माण किया जाता है। छत्र को बौद्ध परम्परा में दिये जाने वाले महत्व का अन्दाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि अवशेष रहित गुहा चैत्यों में भी छत्र का निर्माण किया गया है। जातकों से लिए गये कथानकों के शिल्पाकन में भी छत्र का प्रदर्शन किया गया है। हर्मिका के तीन छत्र तीन लोकों से समता रखते हैं। इसी प्रकार सात छत्र सात भुवनों से सम्बद्ध हैं। भारतीय परम्परा में क्षितिज से जुडे हुये आकाश तथा उसक उपर देवलाक की कल्पना की गइ है। आकाश को हा स्वर्ग या ब्रह्माण्ड माना जाता है। स्तूप मे निर्मित वदिका का लक्ष्य स्थल विशष की पवित्रता को आरक्षित करना उसे शेष अपवित्र भूमि से अलग प्रदर्शित करना है।

भारतीय कला में जहाँ–जहाँ स्तूप का प्रदर्शन हुआ है सर्वत्र उसकी पूजा का क्रम दिखलाया गया है। प्रारम्भ में हीनयान सम्प्रदाय के प्रभाव के अन्तर्गत बुद्ध के प्रतीकों की पूजा होती थी यथा जन्म के प्रतीक हाथी ज्ञान के प्रतीक बाधिवृक्ष धर्मचक्र के प्रतीक चक्र तथा परिनिर्वाण के प्रतीक स्तूप की। स्तूप पूजा का चलन सम्भवत सम्राट अशोक के काल में प्रारम्भ हो गया था। साची तोरण पर एक दृश्य उत्कीर्ण है जिसमें अशोक को राम ग्राम के स्तूप पूजा के लिए हाथी पर आरूढ प्रदर्शित किया गया है

स्तूप निमाण की तकनीक और वेदिका विधान — बौद्ध साहित्य में बडे स्तूप निर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है। महावश में बडे स्तूप को महाचतिय कहा गया है। पत्थर से निर्मित स्तूप के लिए शिलाथूप शब्द प्रयुक्त हुआ है। स्तूप निर्माण के पूर्व पत्थर या पत्थर के टुकडों की सुदृढ नीव रखी जाती थी जिसे पाषाण कुट्टिम कहा जाता था। इसके उपर लम्बोतरे बुलबुले की आकृति का थूहा बनाया जाता था जिसे अड कहते थे। इसक चपट शीर्ष पर छत्रावली युक्त हर्मिका बनती थी। चेतिय या स्तूप को वेष्टिनी अथवा वेदिका से आवृत्त किया जाता था। वेदिका में तोरणों का निर्माण किया जाता था। कल्पवृक्ष के चतुर्दिक वदिका निर्माण की प्राचीन वैदिक परम्परा पश्चातकालीन स्तूपों की वेदिकाओं में दृष्टिगत होती है। बौद्ध साहित्य में उल्लिखित स्तूप निर्माण की तक्नीक भरहुत साची मथुरा अमरावती और नागार्जुनी कोंड के विशाल स्तूपों में दिखाई देती है।[5] प्रारभ में स्तूप छोट आकार के एव शिल्प सज्जा की दृष्टि से पूर्णत सादे होते थे। स्तूप निर्माण के लिए प्रस्तर प्रयोग की प्रक्रिया के आरम्भ के साथ ही स्तूपों की वेदिकाओं एव तोरणों को मूर्ति शिल्प से अलकृत भी किया जाने लगा। स्तूप सर्वत्र समान आकार के नहा बनाये गये हैं वैशाली का स्तूप लघु आकार का है। उसमें हर्मिका के लिए स्थान नहीं है। पिप्रावा स्तूप भी उससे मिलता–जुलता है। यह वास्तु सरचनाएँ स्तूप वास्तु की प्रारंभिक अवस्था की ओर सकत करती हैं। कालान्तर में भरहुत साची सरीखे महाचेतिय निर्मित हुए।

स्तूप से जुडा हुआ एक महत्वपूर्ण भाग उसको आवृत करने वाली वेदिका है। वैदिक युगीन यज्ञीय वेदी के चारों ओर बनने वाले लकडी के बाड को वेदिका कहा जाता था। दैवी भूमि अर्थात् यज्ञीय भूमि को शेष साधारण भूमि से अलग सीमाकित करना वेदिका का लक्ष्य था। धार्मिक वृक्ष के चतुर्दिक भी वदिका बनती थी। सम्राट अशोक ने लुम्बिनी स्तम्भ के चारों ओर एक पत्थर की दीवार

5 देखिए अग्रवाल इण्डियन आर्ट पृ० 124–28

(शिला विगड भिया) का निर्माण कराया था। स्तूप के चतुर्दिक बाडा शिला प्राकार अथवा वेदिका निर्मित किये जाने की परम्परा शुग युग तक स्थापित हो चुकी थी। घोसूडी के नारायण वाटक अभिलेख (चित्तौड के समीप नगरी गाव प्राचीन माध्यमिका) में विशाल बाडे को पूजा शिलाप्राकार कहा गया है। भरहुत साची आदि स्तूपों के चतुर्दिक निर्मित वेदिका के अवशेष मिले हैं । वेदिकाएँ अधिकतम तीन होती थीं — भूमिगत मध्यगत तथा शिखरगत वेदिका। साची के स्तूप में तीनों वेदिकाए मिलती हैं। वेदिका के चार प्रमुख भाग हैं —आलबन अथवा आधार स्तम्भ सूची और उष्णीष। वह प्रस्तर खण्ड जिस पर स्तम्भ खडे किये जाते थे आधार कहलाता था। वेदिका का द्वितीय भाग स्तम्भ थे। दो स्तम्भों पर तीन तिरछे या आडे पत्थर फसाये जाते थे । यह आडे पत्थर सूची कहलाते थे। वेदिका के दो स्तम्भों के छिद्रों में फसाये गये तीन तिरछे प्रस्तरों के ऊपर रखा गया तकिया या मुडेरी उष्णीष कहलाता है। वेदिका की शोभा वृद्धि के लिए उसे नाना प्रकार क शिल्प से सजाया जाता था । वेदिका और स्तूप के मध्य की भूमि प्रदक्षिणा पथ (पाथ ऑव सरकमेम्बुलेशन) कहलाती थी। भूमिगत वेदिका का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भरहुत स्तूप की वेष्टिनी है। मध्यगत वेदिका का सर्वोत्तम स्वरूप जिसमें अलकरण की पराकाष्ठा देखी जाती है साची के तृतीय स्तूप में पाया जाता है। साची का विशाल स्तूप शिल्प की दृष्टि से सादा ही है। उसक तोरण उच्चकोटि की शिल्प कला से सुसज्जित हैं । वेदिका का डिजाइन लगभग एक जैसा ही सर्वत्र मिलता है। भरहुत बोधगया एव अमरावती की वेदिकाएँ लावण्यमय और कलात्मक है।

स्तूप की वेदिका के अतिरिक्त तोरणों का विधान उनकी वास्तु योजना का महत्वपूर्ण भाग था। तोरण में दो खडे स्तम्भ होते हैं जिनके उपरी सिरे पर तीन तिरछी शिला पट्टियाँ या पादाग फसाये गये हैं। साची तथा भरहुत के तोरणों में तीन बडेरियाँ मिलती हैं । स्तूप के निकट जाने के लिए तोरण बने थे। दोनों ही स्थानों पर स्तभ पादाग आदि सभी अगों का शिल्प से अलकृत किया गया है । साची के तोरण स्तम्भ पर अधिकाश लोकप्रिय पूजा दृश्य का अकन हुआ ह। भरहुत स्तम्भ पर यक्ष यक्षिणी क रूप उत्कीर्ण हैं । यहाँ की उकेरी दो प्रकार की है—उभरी हुई (हाइ रिलीफ) तथा सतह के नीचे कटी हुई गहराई (लो रिलीफ) । तोरण के पादागों पर जातक दृश्यों का प्रदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक घटनाएँ भी खोदी गई हैं । भरहुत तथा साची तोरण की ऊपरी बडेरी (पादाग) पर वृक्ष और स्तूप वैकल्पिक ढग से उत्कीर्ण हैं । भरहुत में वेदिका या तोरण स्तम्भों पर उत्कीर्ण मान वृक्षों का सात मानुषी बुद्धों का प्रतीक माना गया है । साची स्तूप के तोरण प्रभावशाली हैं ।

भरहुत का स्तूप — भरहुत का स्तूप शुग काल की परिष्कृत वास्तु सरचनाओं म गिना जाता है। यह स्तूप अब अपनी अलकृत वेदिका के एक भाग के रूप म शेष है। वेदिका का यह भाग कनिंघम को 1873 ई० में भरहुत से प्राप्त हुआ था। आजकल यह कलकत्ता के राष्ट्रीय सग्रहालय म सुरक्षित है। भरहुत गाँव पुरानी नागौद रियासत क अन्तगत पडता था। यह स्थान सतना (मध्यप्रदेश) स 9 मील दक्षिण तथा इलाहाबाद स 120 मील दक्षिण पश्चिम की ओर स्थित था।

भरहुत की भौगोलिक स्थिति महत्वपूर्ण थी। यह स्थान प्राचीन वत्स जनपद की राजधानी कौशाम्बी से दशार्ण राज्य की राजधानी विदिशा जाने वाले मार्ग पर स्थित था। यहाँ से बाँधवगढ होता हुआ एक मार्ग दक्षिण कोशल को जाता था। प्राचीन काल में उत्तर एव दक्षिण कोशल का परस्पर जोडने वाले महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग पर इलाहाबाद और जबलपुर (प्रयाग एव चेदि का प्रदश) क क्षेत्र

पडते थे। इस स्थान की भौगोलिक स्थिति के महत्व की दृष्टि स ही यहाँ अशोक क काल में स्तूप निर्मित किया गया होगा। द्वितीय शती ई0 पूव मूल अशाकीय स्तूप का विस्तार किया गया। भरहुत के स्तूप का व्यास आधार पर 67 फुट 8 इच था। यह स्तूप शिलाखण्डों की सुदृढ नीव पर बना था। ईंटों से निर्मित स्तूप क चतुर्दिक एक वृत्ताकार वेदिका बनी थी जिसमे चार दिशाओं में चार तोरण बने थे। तोरण की कुल ऊँचाई 12 फुट 8 ईच के लगभग थी। वेदिका का निर्माण लाल रग के प्रस्तर खण्डों से किया गया था। स्तूप और वेदिका के मध्य दर्शकों के उपयोग क लिए 10 फुट 4 इच चौडा प्रदक्षिणा पथ (परिक्रमा का मार्ग) था। वेदिका के कुल स्तम्भों की सख्या 80 थी उसके प्रत्येक स्तम्भ की ऊँचाई 7 फुट 1 इच थी। उष्णीष सहित वेदिका की ऊँचाई लगभग 9 फुट थी। वेदिका में अनेक स्थानों पर स्तूप की आकृति उत्कीर्ण की गई है। स्तूप के तोरण एव वेदिका की स्थापत्य रचना काष्ठ शिल्प की अनुकृति है।

भरहुत का अर्द्ध चन्द्राकार स्तूप आकार में साची के विशाल स्तूप (सख्या एक) से पर्याप्त छोटा किन्तु शिल्प सज्जा की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। स्तूप के तोरण द्वारों स्तम्भों सूचियों उष्णीषों आदि पर विविध प्रकार की उकेरी की गई है। तारणों के तिरछे प्रस्तर पादागों (बडेरियों) पर मकरों के अलकरण के अतिरिक्त मानवों गजों सिंहों आदि के सुन्दर अभिप्राय उत्कीर्ण हैं। बुद्ध के मानुषी रूप का शिल्पाकन भरहुत में कही भी नही हुआ है। यहाँ प्राकृतिक दृश्यों के अतिरिक्त लोकजीवन की अनेक परम्पराओं और मान्यताओं को रोचक ढग से प्रदर्शित किया गया है।

वृक्षका का शिल्पाकन — भरहुत स्तूप की वेदिका का जो 10 फुट लम्बा तथा 6 फुट चौडा अलकृत खण्ड कनिघम को प्राप्त हुआ था उससे तथा वेदिका के स्तम्भों से ज्ञात होता है कि भरहुत में प्रत्येक पाषाण खण्ड उकेरी और सुन्दर खचन से पूर्ण है। यहाँ जिन घटनाओं कथानकों आदि का शिल्पाकन हुआ है वह मुख्यत बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं तथा जातक कथाओं से सम्बन्धित हैं। इसक अतिरिक्त यक्ष-यक्षी नामक लोक देवी-दवताओं तथा ऐतिहासिक दृश्यों का अकन प्रचुर मात्रा म हुआ है। जनन शक्ति या मातृशक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली वृक्षका या यक्षी का प्राय अकन भरहुत वेदिका म हुआ है। साल क वृक्ष का आलिगन करते हुए नारी का अकन प्राचीन भारत में प्रचलित वृक्ष पूजा या अरण्य में नारियों द्वारा पुष्प चयन के किसी उत्सव से सम्बन्धित कलाभिप्राय प्रतीत हाता है। यद्यपि अभिप्राय का ठीक-ठीक मूल अर्थ अज्ञात है किन्तु भारत में स्त्रियों या यक्षियों क अदभुत शक्ति युक्त हाने सम्बन्धी अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं जिनके अनुसार वृक्ष की शाखा का उनक द्वारा आलिगन या पर स स्पर्श वृक्ष का शीघ्र पुष्पित करने की क्षमता रखता है। भारतीय पुराकथाओ म यक्षी को जनन क्षमता का प्रतीक माना गया है। शिल्प में उसके उन्नत एव विशाल पयोधरा तथा प्रचुर जननेन्द्रिय सरीखी विशेषताओं के स्पष्ट अकन से इसकी पुष्टि होती है। साल वृक्ष का आलिगन करते नारी को साची के तोरण के तिरछे प्रस्तर पादागों (आर्किटेव) में भी अकित किया गया है। इस शालभजिका अभिप्राय भी कहा जा सकता है।

विविध अलकरण — यद्यपि बुद्धों के मानुषी रूप का शिल्पाकन भरहुत की कला में नहीं हुआ है फिर भी स्तम्भों पर शिल्पी द्वारा उत्कीर्ण लेखयुक्त वृक्षों के माध्यम से उनका सफल प्रतिनिधित्व किया गया है। विपस्वी बुद्ध का पाटलि वृक्ष स सिकिन का पुडरिका (श्वेतकमल) से विश्वभू का शालवृक्ष स क्रकुछद का शिरीष वृक्ष से कनकमुनि का उदुबर वृक्ष से काश्यप का न्यग्रोध या वट वृक्ष स और शाक्यमुनि बुद्ध का पीपल वृक्ष स एकीकरण किया गया है। भरहुत स्तूप की शिल्प सज्जा

अत्यन्त समृद्ध एव विस्तृत है । वेदिका में उत्कीर्ण विविध दृश्यों में ६ ऐतिहासिक दृश्य 20 के लगभग जातकों के दृश्य तथा 30 से भी अधिक देवता यक्ष–यक्षी नागराजाओं वृक्षों और पशुओं की प्रतिमाएँ सम्मिलित हैं । यहाँ प्रयुक्त अलकरण के अन्य विषयों में ध्वजाएँ चक्र राजचिन्ह त्रिरत्न अश्वत्थ रिक्त नौका वाद्य आदि का उल्लेख किया जा सकता है । बौद्ध स्तूप में सौंदर्यवृद्धि के लिए जिन कलाभिप्रायों का प्रयोग किया गया है उनमें बौद्धधर्म के अतिरिक्त ब्राह्मणधर्म से सम्बन्धित अभिप्राय भी खुलकर प्रयुक्त हुये हैं । ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध अभिप्रार्या में श्रीलक्ष्मी एव मातृदेवी नामक अभिप्रायों का उल्लेख किया जा सकता है ।

भरहुत के तारणों एव वेदिका में विभिन्न प्रकार के वृक्षों का अकन हुआ है जैसे अश्वत्थ या पीपल। भरहुत के शिल्पियों ने लोक धर्म को कला में समुचित महत्व दिया है। यक्षों और नागों के प्रचुर शिल्पाकन से इस कथन की पुष्टि होती है। भरहुत में कुबेर यक्ष की मूर्ति मिली है। गन्धर्वों और अप्सराओं का साहचर्य बौद्ध एव वैदिक दोनों ही धर्मों के साहित्य में रेखाकित हुआ है। भरहुत में इसका पर्याप्त अकन हुआ है। भरहुत में पूर्ण कलश से निकलते हुए कमल पर खडी देवी का हाथियों द्वारा घटाभिषेक करते हुए भी अकन हुआ है। अथर्ववेद पूर्णकुम्भनारी का जिक्र करता है । बौद्धकला में लक्ष्मी और भद्रा दोनों कुबेर पत्नी मानी गई हैं । श्रीलक्ष्मी विश्व जननी भी कही जाती है ।

स्तम्भ एव धर्मचक्र अभिप्राय का अकन भी भरहुत में हुआ है । य दोनो सूर्य के प्रतीक हैं । सूर्य भ्रमणशील चक्र एव स्तम्भ दानों है । विष्णु स चक्र का सम्बन्ध सुविदित है । धर्मचक्र का बुद्ध स भी सम्बन्ध है । स्तूप का निर्माण करने वाले स्थपति स्तम्भ पूर्णघट महाचक्र महाआजानेय पशु श्रीलक्ष्मी बाधिमण्ड चूडा चरणपादुका त्रिरत्न उष्णीषबोधिवृक्ष स्तूप आदि प्रतीकों के अभिप्राय और महत्व से अच्छी तरह परिचित थे ।

बौद्ध साहित्य में जातक कथाओं का अपना विशिष्ट स्थान है । उनकी व्यापक लोकप्रियता का अनुमान इस बात स लगाया जा सकता है कि भरहुत साची मथुरा अमरावती नागार्जुनी कोंड आर अजता मर्वत्र जातकों के कथानक अकित हैं । भरहुत में निम्नलिखित जातकों स कथानक लिए गय हैं। विदुर पण्डित जातक दसरथ जातक वमन्तर जातक हस जातक यत्रमझकिय जातक नाग जातक छदन्तिय जातक मिगजातक मुगपकय जातक लटुवा जातक इसिसिगिय जातक कुरुगमिग जातक किन्नर जातक यम्बुमनोवयसी जातक उद जातक सेच्छजातक मगदविय जातक गजरस जातक भिसहरनिय जातक सुजातागहुता जातक बिडाल कुक्कुट जातक असदृश जातक इसिमिग जातक।[6]

भरहुत में उत्कीर्ण ऐतिहासिक दृश्यों में मगध नरेश अजातशत्रु का हाथी पर सवार जुलूस के आग आते हुए चित्रण तथा हाथी स उतर कर वज्रासन की वन्दना करते हुए उसका अकन उल्लेखनीय दृश्य है । इसके अतिरिक्त वहाँ बुद्ध के दर्शनार्थ आये कौशल नरेश प्रसनजित का बुद्ध की वन्दना करते हुए शिल्पाकन भी हुआ है । मायादेवी का सपना व जेतवन विहार इस कोटि के अन्य दृश्य है ।

---

6 गोलाकार फलक पर उत्कीर्ण मृग (मिग) जातक का दृष्टान्त अत्यन्त प्रभावशाला है जिसम बुद्ध को गगाधारा क जगल में रहने वाले सुनहर मृग के रूप में चित्रित किया गया है । मृग ने एक व्यक्ति को डूबने से बचाया था । जब बनारस के राजा ने अपना रानी द्वारा स्वप्न में देखे गय सुनहरे मृग का पता बताने वाले को पारितोषिक दिये जाने की घाषणा की तो उक्त कृतघ्न व्यक्ति ने मृग का पता राजा को बता दिया । मृग का शिकार करने के लिए प्रयत्नशाल राजा को मृग ने अपनी वाकपटुता द्वारा राक दिया ।

कला में वन्य प्राणियों का भी प्रतिनिधित्व समुचित मात्रा में हुआ है । पशु जगत स सिंह गेंडा, हाथी अश्व बारह सिंघा बदर भेड बिल्ली खरगोश कुत्ता वृष भेडिया जगली बकरी मृग गिलहरी का तथा पक्षी जगत से बटेर जगली बत्तख कुक्कुट हस सुग्गे मार आदि का भावपूर्ण शिल्पाकन हुआ है । पख युक्त सिंह सपख अश्व आदि काल्पनिक पशुओं की भी आकृतियाँ भरहुत के शिल्पी ने निर्मित की है ।

भरहुत के तोरणों के स्तम्भ अठपहलू तथा चौपहलू हैं । स्तम्भों के कलात्मक शीर्षों पर पख युक्त सिंह तथा वृष प्रदर्शित हैं । स्तम्भों पर यक्ष यक्षिणी देवता तथा राजाओं की प्रतिमाएँ हैं उदाहरणार्थ उत्तरी द्वार पर कुबेर यक्ष और चन्द्रा यक्षी दक्षिणी द्वार पर नागराज चक्रवाक और चुलकोका देवता है ।

कनिंघम ने भरहुत स्तूप को अशोक के काल में रखा था । उसका तिथिक्रम सम्बन्धी सुझाव मूलत अशोकीय लिपि और भरहुत लेखों की लिपि में गहन सादृश्य पर आधारित था । मूल स्तूप को छोडकर भरहुत की प्रस्तर वेदिका और तोरणों का निर्माण शुग काल में हुआ । पूर्वी तोरण पर उत्कीर्णराजा धनमूर्ति के ब्राह्मी लेख से ज्ञात होता है कि उसने ही तोरण निर्मित कराया था ।

साची का स्तूप — शुग युगीन कला का एक महत्वपूर्ण केन्द्र विदिशा से 6 मील दूर साची में स्थित था । यह स्थान बुद्ध के जीवन स सीधा सम्बन्धित नहीं था किन्तु सम्राट अशोक राज्यपाल के रूप में उज्जयिनी में रहा । उसने विदिशा के श्रेष्ठी की कन्या से विवाह किया था । साची में अशोक ने स्तूप का निर्माण कराने के साथ ही अभिलेख युक्त स्तम्भ भी स्थापित किया था । सारनाथ की भाति इस स्तम्भ का शीर्ष भी कभी चार उकडू बैठे सिंहों की आकृति से विभूषित था । विदिशा या भिल्सा (साची) पूर्वी भारत स पश्चिमी भारत क भृगुकच्छ (भडौच) बन्दरगाह तक जाने वाले व्यापारिक मार्ग क मध्य का महत्वपूर्ण नगर था । मथुरा स प्रतिष्ठान जाने वाला महापथ भी पुरातन दशार्ण देश की राजधानी विदिशा होकर जाता था । विदिशा पुष्यमित्र शुग के पुत्र अग्निमित्र की राजधानी भी था । यवनराज अतलिकित के भागभद्र के यहाँ भेजे गये हलियोदोर नामक तक्षशिला वासी दूत ने विदिशा (बेसनगर) में ही विख्यात गरूड स्तम्भ स्थापित किया था । द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में भी पूर्वी मालवा के विदिशा साची क्षेत्र की महत्वपूर्ण स्थिति बनी रही । इस बात की पुष्टि उदयगिरि गुहा में तथा साची वेदिका पर उसके काल में उत्कीर्ण लेखों से भी होती है । साची के महत्व को ध्यान में रखते हुए ही साची की पहाडी में एक ओर बौद्ध स्तूप और विहार निर्मित हुए दूसरी ओर भागवतों ने विष्णु के मदिर व गरुड ध्वज आदि का निर्माण कराया । यहाँ तृतीय शताब्दी ई पूर्व से नवीं शताब्दी ई तक निर्माण कार्य होता रहा ।

साची म महास्तूप सहित अनेक स्तूपों का निर्माण किये जाने क कारण उस स्थान को महाचैत्यगिरि कहा जाने लगा । साची का एक पुराना नाम काक्नादबोट भी है । बौद्ध साहित्य में सम्राट अशोक को विदिशा वाली रानी द्वारा यहाँ एक विहार निर्मित किए जाने का उल्लेख हुआ है । यहाँ अशोकीय स्तम्भ मन्दिर चैत्यघरों विहारों एव स्तूपों का निर्माण किया गया है । कनिंघम ने साची और उसके आस-पास सोनारी सतधारा अधेर और भोजपुर नामक स्थानों में कुल 60 के लगभग स्तूपों के अस्तित्व में होने की बात कही है । इनमें से तीन प्रसिद्ध स्तूप हैं —(1) स्तूप सख्या एक जिसमें बुद्ध की धातुएँ रखी गई और जिसका ईंटों द्वारा विनिर्मित मूल रूप अशोक के काल का

माना जाता है । (2) स्तूप सख्या दो में अशोक के समकालिक प्रमुख धर्म प्रचारकों की अस्थियों को भूगर्भस्थ किया गया । (3) स्तूप सख्या तीन में सारिपुत्र और महाभाग्गलायन नामक बुद्ध के प्रिय शिष्यों के अवशेषों को भूगर्भस्थ किया गया है ।

साची के स्तूप सख्या एक को भारत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव पूर्णत विकसित स्तूपों में गिना जाता है । स्तूप का मूल स्वरूप ईटों द्वारा अशोक के काल में निर्मित किया गया था । उस पर शिलाच्छादन का कार्य शुग काल में सम्पन्न हुआ । अपने वर्तमान रूप में साची का महास्तूप भरहुत के स्तूप से लगभग दुगुना है । स्तूप के दक्षिणी तोरण के सामने अशोक का एकाश्मक स्तम्भ था जिसमें सघभेद करने वाले भिक्षु भिक्षुणियों के लिए दण्ड का विधान उत्कीर्ण है । स्तूप का व्यास 126 फुट तथा ऊँचाई 54 फुट है । यह स्तूप त्रिमेधि था (चित्र 54) । इसमें भूमिगत मध्यगत तथा शिखरगत यह तीन वेदिकाएँ थी । इसकी मध्यगत वदिका भूमि से 16 फुट ऊँची है । यह एक प्रकार से स्तूप की उपरी परीक्रमा का मार्ग बनाती है । मध्यगत वेदिका की चौडाई लगभग 6 फुट है । वेदिका पर जाने के लिए दक्षिण की ओर से दोहरा सोपान बना है । प्रत्येक सोपान में 25 सीडियाँ है । इसकी भूमिगत वेदिका कुल मिला कर लगभग 11 फुट ऊँची है । वेदिका के स्तम्भ 9 फुट ऊँचे हैं । दो स्तम्भों के मध्य 2 फुट की दूरी है । वेदिका का निर्माण दा स्तम्भों के मध्य तीन तिरछे शिलाखण्डों तथा उष्णीष की सहायता से किया गया है । यह वेदिका निर्माण का सुविदित डिजाइन है । महास्तूप के चारों ओर की चार दिशाओं में चार बडे तोरण द्वार है । प्रत्येक तोरण की ऊँचाई 34 फुट है । चारों तोरण आकार में एक जैसे हैं तथा प्रत्येक में दो शीर्ष युक्त स्तम्भ है जिनके उपर तीन तिरछे प्रस्तर पादाग फसाये गये हैं । सम्पूर्ण स्तूप मूर्ति शिल्प एव अलकरण की दृष्टि से तोरणों को छोड कर लगभग सादा है । भरहुत की भाति अर्द्ध गोलाकार किन्तु पूर्णत शिलाच्छादित स्तूप में प्रयुक्त शिलाखण्डों का जुडाई में किसा गार का उपयाग नहा किया गया है । सम्भवत यह बिना चूने की चुनाइ का प्रथम उदाहरण है । शिलाखण्डों के उपर 4 इच माटा लेप किया गया है । इस स्तूप के चतुर्दिक प्रस्तर का फर्श है ।

महान स्तूप के विभिन्न अनुकाय अगों के निमाण में जन मानम न प्रचुर मात्रा में आर्थिक अनुदान दिया था । स्तूप की वेदिका पर सैकडों की सख्या में उत्कीर्ण दान सूचक लेखों से इसकी पुष्टि होती है । साची के तीनों स्तूपों (स्तूप सख्या एक से तीन तक) में प्राप्त हाने वाले कुल अभिलेखों की सख्या 827 बताई गई है । मात्र महास्तूप की वेदिका एव तारणों पर दान की सूचना देने वाले 378 लेख उत्कीर्ण हैं । इस स्तूप के पूर्वी तोरण पर गुप्त सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त की मालवा विजय का उल्लेख करने वाला गुप्त सवत 93 का (412 13 ई) लेख उत्कीर्ण है । महास्तूप के दक्षिणी तारण के सबसे उपर के तिरछे प्रस्तर पादाग पर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख के अनुसार आन्ध्र सातवाहन राजा सातकर्णि के काल में उसके मुख्य स्थपति आनन्द के द्वारा इस तोरण का निर्माण कराया गया । तोरणा की कला एव उनपर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि मुख्य स्तूप व चारों ओर वेदिका सहित सभी तोरणों का निर्माण प्रथम शती इसवी पूर्व क उत्तरार्द्ध के लगभग हुआ ।[7]

---

7 कुमारस्वामी (पूर्वाक्त पृ० 34-35) के अनुमार लघु आकार का ईट से निर्मित स्तूप सख्या एक का मूल ढाचा तृताय शताब्दी ईसा पूर्व मौर्ययुगीन है । उसका विस्तार तथा वेदिका का परिवर्द्धन और स्तूप सख्या दो और तान (वेदिकाओं सहित) का निर्माण शुग युगीन (184-72 ई पूर्व) महास्तूप तथा स्तूप सख्या तीन के तोरण आध्र (72-25 ई० पूर्व) युगीन हैं ।
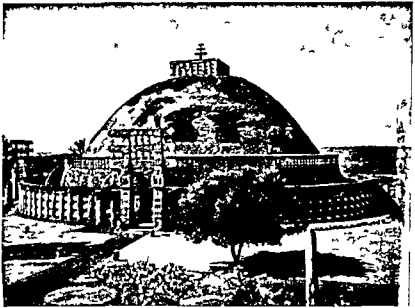
चित्र-54 साची का तोरण एव वेदिका युक्त महाचेतिय

साची के महास्तूप अथवा स्तूप सख्या एक के तोरण के तिरछे प्रस्तर पादागों के बीच–बीच में हाथी सवार एव घुडसवार हैं । स्तम्भ शीर्षकों पर सिंहों एव गजों के अग्रभागों के अतिरिक्त यक्ष प्रतिमाएँ बनी हुई है । निसन्देह यहाँ के उत्कृष्ट शिल्प के उदाहरण के रूप में तोरण स्तम्भ एव नीचे की बडेरी (धरन पादाग) के बाह्य कोने में वृक्ष के नीचे खडी मुद्रा में विनिर्मित शालभजिका मूर्तियों का उल्लख किया जा सकता है । इनको वृक्षका भी कहा जाता है । तोरण की शीर्षस्थ बडेरी के केन्द्र में धर्मचक्र दोनों ओर एक एक चवर धारी यक्ष एव त्रिरत्न चिन्ह उत्कीर्ण है । साची के महास्तूप के तोरण में बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध शिल्पाकित घटनाओं में बुद्ध का जन्म (कमल या पूर्णघट से निकलते हुए पद्मों के रूप में) सम्बोधि (अश्वत्थ के नीचे आसन या मात्र पीपल के रूप में) धर्मचक्र-प्रवर्तन (स्तम्भ शीर्ष पर चक्र अथवा आसन पर चक्र के रूप में) तथा महापरिनिर्वाण (स्तूप के रूप में) के दृश्यों का उल्लेख किया जा सकता है । बोधि वृक्षों शालभजिकाओं तथा सात मानुषी बुद्धों का अकन भरहुत एव साची में समान रूप से हुआ है । इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के पशु पक्षियों फूल पत्तियों तथा यक्षादि लोक देवों की प्रतिमाएँ भी उकेरी गई हैं । साची के दक्षिणी द्वार की सबसे उपरी धरन पर उत्कीर्ण श्रीलक्ष्मी या गजलक्ष्मी का पहचान फुशे ने माया देवी से की है । मार्शल ने साची के मूर्ति शिल्प की शैलीगत विविधता के आधार पर वहाँ के शिल्पियों क अनेक स्तरों की ओर सकेत किया था। मथुरा एव प्रतिष्ठान के मध्य विदिशा की इस शिल्प शैली ने परवर्ती युगीन कुषाण शैली को प्रभावित किया । मुख्यत बुद्ध के जीवन की घटनाओं के चयन एव प्रतीकात्मक अकन की प्रेरणा मथुरा क शिल्पी ने साची भरहुत के शिल्पियों से प्राप्त की ।

साची के अन्य दो स्तूप — साची के महाचेतिय के पश्चात वहाँ के अन्य उल्लेखनीय स्मारक के रूप में स्तूप सख्या दो की गणना की जा सकती है । बौद्ध धर्म प्रचारकों और आचार्यों के अवशेषों पर विनिर्मित यह स्तूप महाचेतिय से लगभग 260 मीटर की दूरी पर स्थित है । इस स्तूप को निर्माण की दृष्टि से महास्तूप जैसा ही कहा जा सकता है । स्तूप छत्र तक 37 फुट ऊँचा तथा 47 फुट व्यास वाला है। इसकी भूमिगत वेदिका अत्यधिक अलकृत है । इसके अलकरण के विषय पर्याप्त मात्रा में महास्तूप के जैसे हैं । बुद्ध के जन्म सम्बाधिलाभ धर्मचक्र प्रवर्तन एव महापरिनिर्वाण का अकन क्रमश पद्म पीपल के वृक्ष चक्र तथा स्तूप नामक प्रतीकों के रूप में किया गया है । बौद्ध मागलिक चिन्हों में त्रिरत्न श्रीवत्स गजस्तम्भ आदि का अकन हुआ है । यहाँ अश्वशीर्ष और मत्स्यपुच्छ वाले किन्नर मिथुन का शिल्पाकन कुछ नवीनता लिए हुए हैं । एक ओर नाग नागी यक्ष यक्षी आदि तथा दूसरी ओर वृष हाथी सपक्षसिंह मृग मकर आदि का अकन उक्त स्तूप में हुआ है । मथुरा के ककाली टीला के जैन स्तूप का कला विधान साची के इस स्तूप से साम्य रखता है ।

सारिपुत्र और महामोग्गलायन नाम के बुद्ध के दो शिष्यों के अवशेषों पर बना तृतीय स्तूप महाचेतिय से लगभग 46 मीटर की दूरी पर स्थित है । यह छत्र तक 35 फुट 4 इच ऊँचा तथा 49 फुट 6 इच व्यास वाला है । इसमें मात्र 17 फुट ऊँचा एक तोरण हैं जो शिल्प सज्जा की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है । इसकी उल्लखनीय आकृतियों में गजलक्ष्मी मालाधारी यक्ष नागराज विविध पशु आदि की गणना की जा सकती है । महावश और दिव्यावदान में मालाधारी देवों को आदर्श चक्रवर्ती की राजधानी की रक्षा पक्तियों में गिना गया है । स्तूप की बनावट के आधार पर कहा जाता है कि इसका निर्माण शष दो स्तूपों के बाद में हुआ था ।

अर्द्ध गोलाकार चैत्य गृह— साची से शुग युगीन दो चैत्यघर भी प्राप्त हुए हैं । पश्चिमी भारत में कार्ले की गुफा से इनकी कला मिलती है । महाचेतिय के दक्षिणी तोरण के सामने स्थित प्रथम चैत्यघर की भीतरी एव बाहरी दीवारें पत्थर की हैं । उसमें 17 फुट ऊँचे स्तम्भों का उपयोग किया गया है दूसरा चैत्य (सख्या 40) भी महाचेतिय के दक्षिण की ओर ही था । इसमें परिक्रमा का मार्ग भी था। इसकी योजना पश्चिमी भारत के चैत्यघरों से भिन्न थी । यह वास्तु रचना प्रवरगिरि (बराबर) की सुदामा गुफा से मेल खाती है । इसका अनेक बार सस्कार हुआ प्रतीत होता है ।

बोधगया के कलावशेष -- बुद्ध के सम्बोधि नाम से सम्बद्ध एव बौद्ध धर्म के चार प्रमुख तीर्थों में से एक उल्लेखनीय स्थान बोध गया है जो गया से 6 मील दक्षिण में स्थित है । आधुनिक काल का उरले' गाव प्राचीन उरुविल्व से अभिन्न है । इसी स्थल पर काश्यप ऋषि एव सुजाता का निवास था। सम्राट अशोक ने बुद्ध के ज्ञानप्राप्ति स्थल पर बोधिगृह का निर्माण कराया था । उस पीपल वृक्ष को बोधिद्रुम (ज्ञान का वृक्ष) कहा जाता है जिसके नीचे सिद्धार्थ गोतम को सबोधिलाभ हुआ था । वृक्ष के नीचे बुद्ध का आसन अथवा बोधिमण्ड था । महत्वपूर्ण बौद्ध तीर्थ होने के कारण महाबोधि सघाराम नामक बौद्ध केन्द्र की स्थापना हुई । अग्रवाल के अनुसार 'भरहुत के एक शिलापट्ट पर अशोक के समय निर्मित बोधिगृह का दृश्य उत्कीर्ण मिला है । बोधिमण्ड या वज्रासन के चतुर्दिक सम्राट अशोक के समय में रक्षा दीवार का निर्माण करवाया गया था । उसकी चारों दिशाओं की लम्बाई 258 फुट है । मूलत उक्त प्राकार ईंट से बनी थी । शुग युग में यह वेदिका पूर्णत पाषाणवेदिका में परिवर्तित करदी गई । इसमें कुल 64 स्तम्भ थे । प्रत्येक स्तम्भ 6 फुट 8 इच ऊँचा था । अधिष्ठान और उष्णीष की मिली जुली ऊँचाई 3 फुट 4 इच थी । वेदिका को विविध प्रतिमाओं एव घटना दृश्यों द्वारा अलकृत किया गया था । यहाँ बुद्ध के जीवन की घटनाओं एव जातक कथाओं के दृश्य प्रदर्शित किये गये हैं । इसके अतिरिक्त गज लक्ष्मी मिथुन कल्पवृक्ष चक्र यक्ष यक्षी गन्धर्व आदि के मनोरजक चित्रण इन शिलापट्टों पर मिलते हैं । इसके अतिरिक्त अश्व गज मकर सपक्ष सिंह नरमत्स्य आदि के आलेखन विशेष रोचक हैं । यहाँ की कला को भरहुत एव साची की कला के अनेक तत्वों ने प्रभावित किया है । गुप्तकाल में बोधगया के प्राचीन मन्दिर का पुनरुद्धार हुआ । उस समय वज्रासन स्थान पर निर्मित मन्दिर को लेख में वृहद्गन्धकुटी प्रासाद कहा गया है । ग्यारहवीं शती में वर्मा के यात्रियों ने मंदिर का पुन सस्कार किया । वेदिका के कुछ शिलाखण्डों पर ब्राह्मी में लेख उत्कीर्ण हैं । इनमें से कई पर राजा इन्द्राग्निमित्र की रानी कुरगी तथा राजा ब्रह्ममित्र की रानी नागदेवा के नाम लिखे हैं जिन्होंने वेदिका का निर्माण करवाया ।

मथुरा की कला -- उत्तरी भारत के शुग सातवाहन कालीन एक अन्य कला केन्द्र के रूप में मथुरा का उल्लेख किया जा सकता है । यह एक ऐसा केन्द्र था जहाँ ब्राह्मण जैन एव बौद्ध तीनों ही धर्मों की प्रगति समान रूप से शताब्दियों तक होती रही । मथुरा कला की समृद्धि का युग प्रथम शताब्दी ईसवी से तृतीय शताब्दी ईसवी तक था । उत्तरी भारत की राजनैतिक सत्ता के कुषाणवशी शासकों के हाथों में केन्द्रित होने के साथ ही एक बहुफलवती शिल्प कला केन्द्र के रूप में मथुरा की ख्याति स्थापित हो चुकी थी । यद्यपि कुषाण काल में उत्कृष्ट मूर्ति निर्माण के केन्द्र के रूप में मथुरा की कीर्ति दूर-दूर तक फैल चुकी थी परन्तु उसका शिल्प वैभव कुषाणेतर युग में गुप्तकाल स सातवीं शताब्दी ईसवी तक भी बना रहा । लोक कला से सम्बद्ध विशालकाय परखम सरीखा प्रतिमाओं का

मौर्य शुग युग में निर्माण करके मथुरा का शिल्पी अपने शिल्प कौशल का परिचय दे चुका था । कुषाण युग में बुद्ध बोधिसत्व यक्ष नाग आदि की प्रतिमाओं का निर्माण व्यापक मात्रा में किया गया । भारत के विभिन्न भू भागों को इस केन्द्र से मूर्तियों का निर्यात किया जाता था । सारननाथ कौशाम्बी श्रावस्ती साची वैराट अहिच्छत्रा पजाब बगाल आदि स्थलों से मथुरा के लाल चकत्तेदार पत्थर की मूर्तियाँ पाई गई है । यहाँ स्थापत्य एव मूर्तिशिल्प का समन्वय देखने को मिलता है । यहाँ बौद्ध एव जैनों के स्तूपों का निर्माण होने के साथ ही ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देव स्थलों की भी स्थापना हुई । इस केन्द्र पर हजारों की सख्या में प्रतिमाएँ निर्मित हुई । भरहुत एव साची के विपरीत मथुरा में बुद्ध के प्रतीकों के स्थान पर स्वय बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया गया है । इस केन्द्र की कला का विवेचन गधार की कला के साथ अलग अध्याय में किया गया है ।[8]

अमरावती बौद्ध धर्म का दक्षिण में प्रवेश सम्राट अशोक के व्यक्तिगत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हुआ जैसा कि उसके शिलालेखों से ज्ञात होता है । कला का यह आन्दोलन पूर्वी समुद्रतट पर कृष्णा और गादावरी नदियों के निचले भागों की ओर सीमित रहा । यहाँ अनेक स्थलों से सरचनान्मक तथा शैलकृत बौद्ध स्मारकों के अवशेष प्राप्त होते हैं । इन सभी के मूलत पुरातन होने के प्रमाण मिलते हैं । यहाँ क्लात्मक गतिविधि का प्रारम्भ आन्ध्रों के (लगभग 200 ई पूर्व में) सत्तारूढ होने के साथ हुआ । आन्ध्रों की प्रारम्भिक राजधानी श्रीकाकुलम (आधुनिक श्रीवाकुलम) तथा पश्चातकालीन राजधानी धान्यकटक (धरणीकोट या अमरावती) थी । दानों ही स्थान कृष्णा नदी के तट पर थे । गुण्टुर जिले में कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पर गुण्टुर से 18 मील दूर स्थित अमरावती नामक नगर धरणीकोट नाम के प्राचीन नगर का प्रतिनिधित्व करता है । प्रचुर मात्रा में शिल्प से अलकृत यहाँ का बौद्ध स्तूप 12 वीं शताब्दी में अच्छी स्थिति में होने के साथ ही लोगों की श्रद्धा पूजा का भी केन्द्र था । उक्त स्तूप की यह स्थिति 18 वीं शताब्दी के अन्त या 19वी शती के आरम्भ तक बनी रही जब उसे एक लालची भूधर ने पूर्णत नष्ट कर दिया ।[9]

फ्रासीसी विद्वान दुबाई के अनुसार पूर्वी समुद्रतटीय व्यापार एव नौसचार को नियमित करने वाले वेंगी प्रदेश (कृष्णा एव गोदावरी के मध्य) के पृष्ठभाग में विस्तृत पाच मार्गों पर अमरावती नागार्जुनी कोण्ड जगय्यपेट घण्टशाल तथा भट्टिप्रोलु के विख्यात बौद्ध स्मारक निर्मित किये गये थे । आन्ध्र प्रदेश में 200 ई पूर्व से 200 ई तक राजनैतिक शक्ति पूर्णत सातवाहनों के हाथ में रही । इसके पश्चात शक्ति इक्ष्वाकुवशी राजाओं को हस्तान्तरित हो गयी जिन्होंने अपनी राजधानी विजयपुरी में नागार्जुनीकोण्ड सरीखे स्तूप का निर्माण कराया ।

अमरावती के स्तूप का पता कर्नल मैकेन्जी ने 1797 ई में लगाया था । उसके अधिकाश शिलापट्टों एव प्रतिमाओं के रेखाचित्र तैयार करके मैकेन्जी ने कला जगत की महान सेवा की । स्तूप के शिलापट्टों पर अनेक दान सूचक लेख उत्कीर्ण हैं । शिवराम मूर्ति ने ऐसे 126 लेखों की सूची दी है । दानदाताओं में उपासक गृहपति व्यापारी सार्थवाह सरकारी कर्मचारी आदि सभी प्रकार के लोग थे । उपलब्ध लेखों मैकेन्जी वर्जेस आदि के रेखाचित्रों तथा शिलापट्टों से उभरने वाली छवि के अनुसार

8 देखिए, अध्याय 8

9 स्मिथ पूर्वोक्त, पृ० 44 अमरेश्वर मदिर के स्तम्भ पर उत्कीर्ण 1182 तथा 1234 ई के दो लेख धान्यकटक के महास्तूप, उसके शिलापट्टों एव बुद्ध मूर्ति की रक्षार्थ दान का उल्लेख करते हैं ।

स्तूप का एक महत्वपूर्ण भाग भूमिगत वेदिका थी । उस अलकृत वेदिका का व्यास 193 फुट था । उसमें 136 स्तम्भ तथा 348 सूचियाँ थी । वेदिका की प्रत्येक दिशा में 26 फुट चौडा तोरण था । तोरण में बडेरियों (आर्कट्रिव) का अभाव है । धरातल से 13 14 फुट ऊँची वेदिका का गालघेरा लगभग 600 फुट था । वेदिका के स्तम्भों पर शिल्पियों ने अपनी कला का सर्वोत्तम प्रदर्शन किया है। स्तूप के शिलापट्टों में उत्कीर्ण अलकृत स्तूप की आकृति से अमरावती के स्तूप के भव्य मूल रूप का अनुमान लगाया जा सकता है । आन्ध्र राजाओं का उल्लेख करने वाले दो अभिलेखों के आधार पर वेदिका के निर्माण की तिथि 150 से 200 ई के मध्य रखी जा सकती है । प्रारम्भ में एसा अनुमान लगाया गया था कि स्तूप द्विमेधि था । किन्तु कालान्तर में वर्जेस ने ऐसी धारणा को त्रुटिपूर्ण बताते हुए मात्र एक बाहरी वेदिका के होने की बात को ही तर्कसगत बताया । स्तूप के अण्ड का धरातल पर व्यास 160 फुट तथा कुल ऊँचाई 90 100 फुट थी ।

अमरावती के लेखों से ज्ञात होता है कि स्तूप को महाचेतिय धन महाचेतिय और कट महाचेतिय कहा जाता था । बौद्धों के चैत्यक नामक निकाय की प्रेरणा से यह स्तूप निर्मित हुआ । स्तूप के चतुर्दिक एक कमल के फूलों की माला (अब्जमाला) उत्कीर्ण थी । स्तूप के उपर एक छत्रयुक्त हर्मिका बनी थी । समस्त आन्ध्र देश में धान्यकटक का महास्तूप सबसे विशाल था जो भरहुत और भट्टिप्रोलु से आकार में दुगुना था । इस अदभुत बौद्ध स्मारक में सगमरमर जैसे श्वेत रग के पत्थर का प्रयोग किया गया है । सातवाहन युग का वैभव इस महान स्तूप में मूर्तिमान हो उठा था । स्तूप का बिल्कुल सफाया हो जाने के कारण उसकी भीतरी रचना के विषय में कुछ कहना कठिन है ।

शिल्प सज्जा अमरावती स्तूप परिमाण की दृष्टि से विशाल होने के साथ ही शिल्पाकन की प्रचुरता के लिए भी ख्यात है । इसके अलकरण में हीनयान एव महायान दोनों ही बौद्ध सम्प्रदायों स सम्बन्धित प्रतीकों एव प्रतिमाओं का विचित्र सयोग देखने को मिलता है । यहाँ स्तूप का अलकरण कई शताब्दियों तक चलता रहा । प्रारम्भिक अलकरण जिसमें वृक्ष हाथी स्तूप आदि प्रतीकों का अकन हुआ है पुरातन होने के साथ ही हीनयान मत से प्रभावित है । विकास के इस प्रथम चरण में मूर्तियों के उकेरने की शैली का साम्य भरहुत की मूर्तियों से है । इस काल में बुद्ध की मूर्ति का अभाव है किन्तु यक्षों पशुओं एव विचित्र मिली जुली पशु आकृतियों को प्रचुर मात्रा में उकेरा गया है ।

शिल्पाकन की द्वितीय अवस्था में अकन शैली अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है । इस काल की सामग्री स्तूप–कचुक के कुछ शिलापट्टों के रूप में बची है । मथुरा की भाति यहाँ भी बुद्ध के प्रतीक एव मूर्तियाँ एक साथ दिखाई देती हैं । तृतीय अवस्था में वास्तु और शिल्प दोनों ही उन्नत दशा में पहुँच गये थे । इसी समय वेदिका स्तम्भ उष्णीष सूची स्तूप अड की अलकरण पट्टी के शिलापट्ट पूर्णघट पट्ट त्रिरत्न पट्ट बुद्ध पट्ट तथा बुद्ध की जीवन घटनाओं के दृश्यों से उत्कीर्ण शिलापट्टों का निर्माण किया गया । अलकृत भूमिगत वेदिका का निमाण इसी काल में हुआ । बहुत सी प्रतिमाओं का एक साथ सपुञ्जन इस युग के अमरावती शिल्प की विशेषता थी ।

शिल्प के वर्ण्य विषय अमरावती के महाचेतिय के अलकरण के लिए जिन विषयों का शिल्पी ने विविध कालों में चयन किया है उनमें बुद्ध के जन्म से महापरिनिर्वाण तक की विविध घटनाओं के अतिरिक्त जातकों से लिये गये कथानकों का मुख्यत उल्लेख किया जा सकता है । बुद्ध के जन्म के प्रतीक हाथी को जिस रूप में यहाँ उत्कीर्ण किया गया है वैसा अन्यत्र अज्ञात है । एक ही शिलापट्ट पर

एक भाग में बोधिसत्व से अवतरित होने के लिए प्रार्थना की जा रही है । मध्यभाग में रथ पर हाथी को बाद्य सहित ले जा रहे हैं तीसरे भाग में माया देवी का सपना अंकित किया गया है । अन्यत्र एक ही प्रस्तर खण्ड में बुद्ध का जन्म महाभिनिष्क्रमण ज्ञानोपदेश करते बुद्ध का प्रदर्शन तथा स्तूप की आकृति उत्कीर्ण की गई है ।

स्तूप के विकास की प्रथम अवस्था में सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण हाथियों द्वारा स्तूप पूजा बुद्ध की पादुकाओं का पूजन भिक्षापात्र की पूजा बुद्ध की धातुओं का विभाजन आदि दृश्यों का अकन किया गया है । द्वितीय अवस्था में अभिनिष्क्रमण ज्ञानप्राप्त बुद्ध का पूजन बुद्ध का धर्मोपदेश धर्मचक्रप्रवर्तन मायादेवी का स्वप्न आदि दृश्यों का शिल्पाकन किया गया है। तृतीय चरण में अजातशत्रु द्वारा बुद्ध का दर्शन यश की दीक्षा बुद्ध का अग्नि प्रतिहार्य अगुलिमाल डाकू की कथा सपेरा और उसका बन्दर स्तूप पूजा नलगिरि हाथी को वश में करना राजकुमार द्वारा मिथ्या परिव्राजक की पहचान हाथियों द्वारा बोधिवृक्ष की पूजा राहुल का जन्म गृह त्याग प्रथम धर्मोपदेश यशोधरा बुद्ध का कपिलवस्तु में पुनरागमन मार प्रलोभन धातुओं का बटवारा सुमन माली की कथा दूत जातक मत्तङ्ग जातक महिलामुख जातक छदन्त जातक विदुरपण्डित जातक चुल्लधम्म पाल जातक आदि का शिल्पाकन हुआ है ।

अन्य बौद्ध स्मारक आन्ध्र प्रदेश के स्तूपों के निर्माण को बौद्धधर्म के विभिन्न निकायों (सम्प्रदायों) ने प्रेरित किया । अमरावती स्तूप का प्रेरक चैत्यक निकाय था तो नागार्जुनी कोण्ड एव घण्टशाल स्तूपों के निर्माण को अपरशैलीय निकाय ने प्रेरित किया । तृतीय द्वितीय शताब्दी ई पूर्व में द्रविड मार्ग पर भट्टिप्रोलु नामक 122 फुट ऊँचा तथा 148 फुट व्यास वाला स्तूप ईंटों द्वारा निर्मित हुआ । यहाँ से लिखित धातुमजूषा तथा कुछ प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थीं । विहार के कोई चिन्ह यहाँ से प्राप्त नहीं हुए। द्रविडमार्ग पर घण्टशाल नामक एक अन्य स्तूप के अवशेष भी प्राप्त हुए थे । उसकी ऊँचाई 111 फुट तथा व्यास 122 फुट था । यहाँ से श्वेत पाषाण के उत्कीर्ण खण्डित शिलापट्ट और मूर्तियों भी मिली हैं । इसी क्षेत्र में पल्लेरू नदी के तट पर अमरावती से 30 मील उत्तर पश्चिम की ओर महाराष्ट्र मार्ग पर जगय्यपेट्ट का स्तूप बना था । यहाँ से प्राप्त होने वाले अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यहाँ पर लगभग 700 वर्षों तक निर्माण कार्य चलता रहा । स्तूप का व्यास 31 फुट 6 इच था । उसके चारों ओर 10 फुट 6 इच का प्रदक्षिणा पथ था । स्तूप के चारों ओर एक वेदिका का भी निर्माण किया गया था । जगय्यपेट्ट की विशेषता उन शिलापट्टों के कारण है जो सख्या में अधिक और आकार में बडे तथा शैली में सुन्दर है । अमरावती और नागार्जुनी कोण्ड की तुलना में यहाँ की शैली मुद्राएँ और अग विन्यास अधिक सयत है ।

आन्ध्र प्रदेश में इक्ष्वाकु वशी राजाओं के काल में भी स्तूप निर्माण की परम्परा का निर्वाह पूर्ववत होता रहा । गुन्टूर जिले में कृष्णा के दक्षिणी तट पर माचरला स्टेशन से 19 मील दूर नागार्जुनी कोण्ड नामक स्थान पर महास्तूप का निर्माण किया गया था । तीन ओर से पहाडियों व चौथी ओर से कृष्णा नदी द्वारा आवृत्त इस स्थल को इक्ष्वाकुवशी नरेशों ने अपनी राजनगरी का गौरव प्रदान किया । उनके लेखों में इस स्थान का उल्लेख विजयपुरी नाम से हुआ है । यहाँ लॉगहर्स्ट के उत्खनन (1927-31 ई) के पश्चात लेख सिक्के मूर्तियाँ स्तूपों के खण्डहर विहार तथा 400 से अधिक सुन्दर उत्कीर्ण शिलापट्ट प्राप्त हुए थे । अब यह सामग्री नागार्जुन सागर बाँध बनने के कारण पहाडी के

उपर बने नये समहालय में रखी गयी है । ईंट के स्तूप का भी उसी रूप में वहाँ से ले जाया गया है ।

नागार्जुनीकोण्ड में उकेरी रहित एव उकेरी युक्त दोनो ही प्रकार के स्तूप हैं । उत्खनन कर्ता लौंगहर्स्ट को 9 स्तूपों के खण्डहर मिले थे जिनमें से चार पर शिलामय कचुक का अलकरण था । सादे स्तूपों म ईंटों के अण्डाकार ढाचे के उपर मोटा गचकारी का खोल चढाया जाता था जिसे सुधाकम्म कहते थ । पश्चातकाल में स्तूपों को उत्कीर्ण शिलापट्टों के कचुक से सजाने की प्रवृति बढी । यहाँ निर्मित महास्तूप का व्यास 106 फुट और ऊँचाई 70 80 फुट थी । भूमितल पर 13 फुट चौडा प्रदक्षिणापथ था । स्तूप के उपर छत्रयुक्त हर्मिका थी । स्तूप मूलत ईंटों का बना था । ईंटों की माप 20 x10 x10 थी । सम्भवत शान्तिश्री ने इसका विस्तार कराया । उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि स्तूप के भीतर तल विन्यास में 40 कोठे थे । वहाँ से प्राप्त चादी की मजूषा में कुछ स्वर्ण पुष्प मोती स्फटिक के रत्न पुष्प भी मिले थे । स्तूप के मलबे में कोई उत्कीर्ण शिलाखण्ड नहीं मिला । यह स्तूप प्रारम्भ से ही सादा स्तूप था ।

अध्याय 7

गुहा वास्तु

चट्टानों में बनी प्राकृतिक कन्दराओं का शैलगृहों के रूप में उपयोग पाषाण युग से ही मानव करता आ रहा है । मानव द्वारा प्राकृतिक चट्टानों को काट तराश कर शिलाश्रयों में परिवर्तनित करने का इतिहास भारत में पर्याप्त प्राचीन है । बौद्ध एव जैन धर्मों के आविर्भाव के पश्चात भिक्षु सघ के वर्षावास के लिए गुहा विहारों तथा पूजा प्रार्थना के लिए गुहा चैत्यों के निर्माण की परम्परा चल पडी । मौर्ययुग में सम्राट अशोक के काल में सर्वप्रथम आजीविकों के लिए खलतिक पर्वत पर गुफाएँ उत्कीर्ण की गई । गया के निकट आधुनिक बराबर पर्वत (महामेघवाहन खाखेल के काल का गोरथगिरि तथा मौखरी नरेश अनन्तवर्मा के काल का प्रवरगिरि) को ही अशोक के अभिलेखों में खलतिक पर्वत कहा गया है । यहाँ से प्राप्त होने वाले प्रथम तथा द्वितीय गुहालेख अशोक के 12वें शासन वर्ष के तथा तृतीय गुहालेख 19वें शासन वर्ष का है । यह अभिलेख गुफाओं (कुभा) के आजीविकों को दान दिये जाने का उल्लेख करते हैं ।

बिहार प्रान्त में गया से 19 मील दूर बराबर और नागार्जुनी पहाडी में उत्कीर्ण कुल सात गुफाओं की भारतीय गुहावास्तु के प्राचीनतम उदाहरणों के रूप में गणना की जा सकती है । सम्राट अशोक के काल में गुहा वास्तु का जो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ उसके पौत्र दशरथ के काल में भी वह गतिशील रहा । बौद्ध सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध भिक्षुओं के लिए शैलगृहों का निर्मान न कराया जाना आश्चर्यजनक है । इसका ठीक-ठीक कारण अज्ञात है । सम्भवत सम्राट के विचार में सघ में विघटन की प्रवृत्ति को रोकने की दृष्टि से भिक्षुओं को भ्रमणशील रहने के लिए उत्प्रेरित करना उनके लिए शिलाश्रयों के रूप में स्थाई आवास की व्यवस्था करने से अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी था । सन्यासी या श्रमण का गृह त्याग के पश्चात एक स्थान पर स्थाई वास उसमें लोभ मोह की प्रवृत्ति को पुन जागृत कर सकता है । बुद्ध स्वय भी जीवन पर्यन्त भिक्षु समुदाय के साथ घूम-घूम कर धर्म प्रचार करते रहे । महावग्ग से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने भिक्षुओं को आदेश दिया था कि उन्हें वृक्ष के नीचे निवास करना चाहिए समाज द्वारा त्याज्य वस्त्रों का उपयोग करना चाहिये तथा भिक्षा में प्राप्त अन्न को ही भोजन समझना चाहिए । भिक्षु जीवन के इन उदात्त आदर्शों से सम्राट अशोक भी प्रेरित और प्रभावित थे । इसी कारण प्रारम्भ में भिक्षुओं के लिए शिलाश्रय उत्कीर्ण नहीं किये गये ।

मौर्ययुग में उत्कीर्ण सात गुफाओं में से चार बराबर में तथा तीन नागार्जुनी पर्वत पर हैं । अशोक के शासन के 12वें वर्ष में उत्कीर्ण सुदामा गुफा सर्वाधिक प्राचीन है । सम्राट के 19वें शासन वर्ष की गुफा कर्ण चौपड के नाम से जानी जाती है । इस वर्ग की उल्लेखनीय गुफा लोमस ऋषि गुफा है । इसकी डिजाइन और योजना सुदामा गुफा से पर्याप्त साम्य रखती है । चिकनी एव चमकीली दीवारयुक्त इस गुफा का द्वार उल्लेखनीय है । नागार्जुनी समूह की गुफाओं में अशोक के पौत्र दशरथ के काल में उत्कीर्ण गोपी गुफा सर्वाधिक बडी है । मौर्य युग में लगभग पाँच दशकों की स्थापत्य

विषयक गतिविधि का परिचय उक्त गुफाओं से प्राप्त होता है । इन प्रारम्भिक शिलाश्रयों का विवरण पाचवे अध्याय में किया जा चुका है ।

शैलगृह के निर्माण का उद्देश्य — बौद्ध सघ की स्थापना के पश्चात बहुसख्यक भिक्षु समुदाय के आवास की व्यवस्था का प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया । बुद्ध प्रारम्भ में भिक्षुओं के साथ भ्रमणशील रहते हुए धर्म प्रचार करते थे । वर्षाऋतु में धर्मोपदेश का कार्य घूम-घूम कर करना सम्भव नहीं था । इसलिए वर्षाकाल में सघ एक स्थान पर वर्षावास करता था । वर्षावास की परम्परा से ही सघारामों अथवा बौद्धविहारों के निर्माण की अपेक्षित पृष्ठभूमि तैयार हुई । प्रारम्भ में बुद्ध ने सघ स्थापना में कोई रूचि नहीं दिखाई । सम्भवत बुद्ध का सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन एव पचवर्गीय भिक्षुओं को दीक्षित करने के पश्चात् भी सघ की स्थापना का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं था । प्रारंभिक बौद्ध भिक्षुओं (तपुस तथा भल्लिक) द्वारा बुद्ध और धर्म में ही आस्था प्रकट किये जाने के सदर्भो से भी इस बात की पुष्टि होती है कि सघ की स्थापना कुछ समय पश्चात हुई । धर्म में दीक्षित भिक्षुओं की सख्या में निरन्तर होने वाली वृद्धि ने सघ की स्थापना को अवश्यम्भावी बना दिया। सघ की स्थापना से उसके आवास के लिए विहार एवं पूजा प्रार्थना हेतु चैत्यों का निर्माण किया जाने लगा। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि साधु सन्यासियों एव भिक्षुओं की आध्यात्मिक प्रगति के लिए अरण्यों का शान्त वातावरण नगर एव ग्राम के कोलाहलपूर्ण वातावरण से अधिक उपयोगी था। परिमाणत नगर से दूर जगल में प्राकृतिक चट्टानों को उत्कीर्ण करके चैत्यों एव चैत्य विहारों का निर्माण व्यापक रूप से किया जाने लगा । ऐसी गुहाओं को विभिन्न भूभागों में भिक्षुओं के उपयोगार्थ निर्मित किया गया । इन्हें गुहा कुभा लेण लयन आदि नामों से भी पुकारा जाता है । गुहा विहार भिक्षुओं के सामूहिक आवास की व्यवस्था वाले शिलाश्रय को कहा जाता है । गुहा चैत्य का तात्पर्य उस शक्तिशाली परिनिर्वाण के शैलकृत प्रतीक से है जो चट्टान को काट तराश करके स्तूप की आकृति में परिवर्तित कर दिया जाता है । इस प्रकार के गुहा चैत्यों या चैत्य विहारों में पवित्र अवशेष नही होते ।

चैत्यगृह एव विहार— गुहाचैत्य या चैत्यगृह बौद्धों का पूजा स्थल है । वह ब्राह्मण धर्म के मन्दिर से तुलनीय है। यह सरचनात्मक स्तूप का शैलकृत रूप है । इसमें प्राकृतिक चट्टान को काट कर ठोस चैत्य या स्तूप निर्मित किया जाता है इस अर्द्धवृत्ताकार वास्तु रचना के भीतर कोई अवशेष नहीं होते । इसमें हर्मिका और छत्रावली का निर्माण भी किया जाता था जो प्राय काष्ठ से निर्मित होती थी । बौद्ध गुहा वास्तु के दो प्रमुख भागों में चैत्यगृह एव विहार की गणना की जाती है । चैत्यगृहों की सख्या 30 से अधिक नहीं है । विहारों की सख्या बहुत अधिक है । साची तेर(नल्लदुर्ग हैदराबाद) तथा चेजरला (कृष्णाजिला) के तीन चैत्यगृहों को छोडकर सभी शैलकृत हैं । चैत्यगृह अथवा बौद्ध धर्म के देवालय का आकार गिरजे से मिलता है । गिरजे के नेव (मण्डप) आइल (प्रदक्षिणापथ) तथा ऐप्स (गर्भगृह) नामक भाग चैत्यगृह में भी पाये जाते हैं। प्रवेश द्वार के अन्दर स्तम्भ पक्तियों से घिरा कक्ष मण्डप है । ठोस चैत्य के चारों ओर परिक्रमा के लिए बना हुआ मार्ग प्रदक्षिणा पथ है । प्रारम्भिक आठ विख्यात चैत्यगृहों में भाजा कोण्डाने पीतलखोरा अजन्ता (गुफा स 10) बेडसा अजन्ता (गुफा स9) नासिक तथा कार्ले की गणना की जाती है । यह सभी हीनयान युग (200 ई पूर्व से 200 ई तक) की वास्तु रचनाएँ हैं । इन सभी बौद्ध मदिरों में (भाजा को छोडकर) मूर्ति शिल्प अत्यल्प है ।

विहार बौद्ध गुहा वास्तु का द्वितीय महत्वपूर्ण भाग है। भिक्षु समुदाय के उपयोगार्थ प्रकृति की

गोद में शान्त वातावरण में आवासीय व्यवस्था जुटाने के प्रयोजन से विहार गुफाएँ उत्कीर्ण की गई है गुहा विहार में एक प्रवेश द्वार और उसके सामने स्तम्भों पर आधारित मुखमण्डप या बराम्दा रहता था । विहार के भीतर एक विशाल मण्डप चतुश्शाल के आगन की भाति होता था । उसमें तीन या चार ओर छोटी कोठरियाँ खोदी जाती थी । एक बौद्ध भिक्षु के लिए एक गर्भशाला पर्याप्त थी । बडी गर्भशाला में दो या तीन भिक्षुओं के आवास की व्यवस्था होती थी । बहुत अधिक भिक्षुओं के निवास के लिए बने विहार को सघाराम कहा जाता था । विहारों के प्रमाण अब मात्र शैलकृत विहार के रूप में ही हैं । इसके पूर्व की अवस्था में विहारों का निर्माण लकडी से होता था जो अब प्राय नष्ट हो चुका है ।

विहार शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में छोटी गर्भशालाओं क लिए भी होता था किन्तु कालान्तर में भिक्षुओं के लिए निर्मित विशाल आकार के आवासगृह भी विहार कहलाये । सातवी शती ईसवी का चीनी यात्री श्वान च्वाड एसे पच मजिले विशाल विहारों का उल्लेख करता है जिनमें कई सौ लघु आकार की कोठरियाँ होती थीं । आरम्भिक विहार सादे हैं किन्तु द्वितीय शती के पश्चात महायान धर्म की प्रेरणा से विस्तृत विहार बने । हीनयान मे सम्बद्ध विहारों में चट्टान काटकर स्तम्भ रहित वर्गाकार मण्डप बनता था । इसी बीच के मण्डप में भिक्षु प्रार्थना करने आते थे । मण्डप के चतुर्दिक बनी छोटी कोठरियों में भिक्षुओं के शयन के लिए चट्टान काटकर ही चौकियाँ बनी है । विहारों के अनेक समूहों में बराबर पहाडी की विहार गुफाएँ कलिंग में उदयगिरि खण्डगिरि की जैन गुफाएँ तथा नासिक अजन्ता भाजा आदि का उल्लेख किया जा सकता है । कार्ले जुन्नार कोण्डाने बेडसा और पीतलखोरा में चैत्यगृहों के साथ विहार भी मिलते हैं ।

शैलकृत चैत्य विहार एव मदिर भारतीय वास्तु कला के विकास के महत्वपूर्ण सोपान हैं । इन वास्तुकृतियों में विविधता नवीनता सौन्दर्य आदि के अतिरिक्त वास्तुकार का उपाय कौशल्य भी सराहनीय है । शिलाश्रयों की एक विशेषता उनकी ढोलाकार छत है । शैलकृत मण्डपों की उकेरी के अनेक पर्क्षो पर काष्ठशिल्प की पुरानी परम्परा का प्रभाव माना जाता है । कलाकार ने भरहुत एव साची के स्तूपों की वेदिकाओं के अलकरणों का उपयोग पश्चिमी भारत के चैत्यघरों के मुखमण्डप के भीतर- बाहर की दीवारों में सज्जार्थ किया है । इन लघु आकार की वेदिकाओं को मिथ्या वेदिका कहा जा सकता है । क्योंकि उनसे वेदिका का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । उनका यत्र तत्र प्रचुर मात्रा में प्रयोग मात्र शोभार्थ किया गया है ।

विविध गुहा समूहों का तिथिक्रम— विशाल चट्टानों को काटकर चैत्यघर एव विहार निर्माण की परम्परा देशव्यापी थी । सौराष्ट्र से कलिंग तक और अजन्ता से बराबर पहाडी तक की गुफाओं के रूप में इसका प्रसार देखा जाता है । स्थूल रूप से चट्टान काट कर गुफा निर्माण की एक जैसी क्रिया (विधि) सभी स्थानों पर मिलती है । मात्र शैली के स्थानीय भेद हैं । यह भेद अलकरण मूर्तियां स्तम्भ आकृति तथा मण्डप आदि में देखने को मिलता है । समय की दृष्टि से यह आन्दोलन एक हजार वर्षों तक जारी रहा । तृतीय शती ई पूर्व में अशोक कालीन हीनयान युग से सातवीं आठवीं शती ई के महायान युग तक चट्टान काटकर लगभग 1200 गुफाएँ रचीं गईं । इन गुफाओं को लगभग 50 केन्द्रों में विभक्त किया जा सकता है । इनमें से 900 गुफाएँ बौद्ध धर्म से 200 जैन धर्म से तथा 100 हिन्दू धर्म से सम्बन्धित हैं । निस्सन्देह गुहावास्तु के व्यापक आन्दोलन के विकास में बौद्धधर्म की महती भूमिका रही है । गुफाओं को तिथिक्रम के आधार पर दो वर्गों में रखा जाता है हीनयान धर्म से

सम्बद्ध तथा महायान गुफाएँ । प्रथम वर्ग की गुफाओं का काल तृतीय शती ईसा पूर्व से द्वितीय शती ईसवी तक था । पाचवी से एक हजार ईसवी तक गुहा वास्तु के मूल में महायान बौद्ध धर्म की प्रेरणा थी । गुफाओं के अनेक समूह हैं । जुन्नार सरीखे समूह में एक सौ गुफाएँ हैं । इसके विपरीत अजन्ता में जुन्नार से एक तिहाई से भी कम गुफाएँ हैं । उल्लेखनीय है कि अजन्ता की गुफाओं का शिल्प सौन्दर्य उन्हें गुहा वास्तु के इतिहास में गौरवशाली स्थान प्रदान करता है ।

भारत के विभिन्न भागों में उत्कीर्ण गुफाओं को भौगोलिकदृष्टि से अनेक समूहों में विभक्त किया जाता है — यथा प्रवरगिरि या बराबर पहाडी समूह उदयगिरि– खण्डगिरि या कलिंग के कुमारी पर्वत समूह सह्याद्री या भोरघाट का गुहा समूह तथा अजन्ता या अचिन्त्य पर्वतमाला का समूह । इनमें मुख्यत हीनयान युग की गुफाएँ थीं (300 ई पूर्व से 200 ई तक) । इस आन्दोलन का आरम्भ बराबर और नागार्जुनी पर्वतमाला से अशोक के काल में हुआ । कुछ वर्ष बाद यह आन्दोलन भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि और खण्डगिरि की गुहाओं में पहुँचा । इनके निमाण को कलिंग नरेश महामेघवाहन खाखेल ने प्रेरित किया । पश्चिमी भारत में काठियावाड की गुफाए (जूनागढ तलाज एव सान में) कलिंग के पश्चात उत्कीर्ण की गई । इसके पश्चात भोरघाट की भाजा कोण्डाने बेडसा कार्ले आदि गुफाएँ उत्कीर्ण की गयी । इनके उत्तर में जुन्नार और नासिक की गुफाएँ हैं । इन्हीं के साथ कुछ अलग पडी हुयी पीतलखोरा व अजन्ता की गुफाएँ हैं सबसे अन्त में सालसेट (षष्टि द्वीप) द्वीप में कन्हरा की गुफाएँ है ।

समय के साथ साथ वास्तु विन्यास में कुछ परिवर्तन भी हुए (1) प्रारम्भिक गुहा चैत्यों में प्रदक्षिणापथ कम चौडा था बाद में वह अधिक चौडा हो गया (भाजा 3 1/2 कार्ले 10) (2) प्रारम्भिक गुहाओं में मण्डप का आकार छोटा है किन्तु धीरे धीरे वह बढता गया (लोमस ऋषि का 48 x 20 x 12 कार्ले 124 x 46 1/2 x 45 ऊँचा) (3) अशोकीय गुफाओं के भीतरी मण्डप में खम्भों का अभाव है किन्तु पश्चिमी समूह में स्तम्भ हैं तथा (4) मण्डप के खम्भे प्रारम्भ में अधिक झुके हुए हैं किन्तु कालान्तर में उनका झुकाव कम हो गया है ।

उडीसा की गुफाएँ मौर्येतर युग का गुहा वास्तु से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण केन्द्र भुवनेश्वर से 5 मील उत्तर पश्चिम की ओर खण्डगिरि और उदयगिरि में स्थित था । गुहा वास्तु का मौर्य युगीन आन्दोलन बिहार प्रान्त के प्रवरगिरि से उडीसा के कुमारी पर्वत समूह में पहुँचा । उडीसा में कुल 35 गुफाएँ उत्कीर्ण की गयीं । इन गुफाओं को कलिंग के प्रतापी शासक खाखेल का सरक्षण प्राप्त था । द्वितीय शताब्दी ई पूर्व इन गुफाओं का निर्माण जैन भिक्षु सघ के उपयोग के लिए किया गया था । उदयगिरि की गुफाएँ तुलनात्मक दृष्टि से खण्डगिरि की गुफाओं से अधिक विस्तृत है । खण्डगिरि की गुफाएँ छोटे आकार की हैं । गुफाओं के सम्मुख स्तम्भों पर आधारित लघु आकार के बरामदे बनाये जाते थे । पश्चात काल में इन शैलगृहों को दुमजिला बनाया जाने लगा । उडीसा में ऐसी द्विभूमिक गुफाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं । इन गुफाओं के प्रवेशद्वार छोटे हैं ।

खण्डगिरि में कुल 16 गुफाएँ उत्कीर्ण की गयी । नवमुनिगुफा देवसभा अनन्तगुफा सतभर गुफा आकाश गगा आदि वहाँ की उल्लेखनीय गुफाएँ हैं । उदयगिरि की पहाडी में उत्कीर्ण 19 गुफाओं में रानी गुफा गणेशगुफा हाथीगुम्फा, व्याघ्रगुफा मचपुरी स्वर्गपुरी या अलकापुरी जय विजय वैकुण्ठपुर पातालपुरी सर्प गुफा जगन्नाथ गुफा आदि प्रमुख गुफाएँ है ।

उदयगिरि समूह की गुफाओं में हाथीगुम्फा ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्व की गुफा है । इसमें कलिंग के जैनधर्मावलम्बी शासकक महामेघवाहन खाखेल का एक ब्राह्मी अभिलेख उत्कीर्ण है यह अभिलेख कलिंग नरेश के जीवन वृत्त तथा उसकी उपलब्धियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। अभिलेख में खाखेल उस जिन मूर्ति को मगध से वापस लाने का दावा करता है जिसे कभी नन्द राजा कलिंग स मगध ले गया था । जिन मूर्ति के द्वितीय तृतीय शताब्दी ई पूर्व में अस्तित्व में होने की बात खाखेल के उक्त लेख से प्रमाणित होती है उदयगिरि-खण्डगिरि क्षेत्र पहले से ही अर्हत् निसीदिया नाम से विख्यात था । खाखेल की रानी ने उदयगिरि समूह की मचपुरी नामक गुफा का निर्माण कराया था । यह दो मजिल की गुफा है । उपरी मजिल पर उत्कीर्ण रानी के अभिलेख के अनुसार खाखेल की रानी ने अरहत् की कृपा (महावीर) से कलिंग के श्रमणों (जैन भिक्षुओं) के लिए यह गुफा निर्मित करायी। उडीसा की यह जैन गुफाएँ पश्चिमी भारत की विहार गुफाओं से भिन्न हैं । पश्चिमी भारत में भिक्षुओं की कोठरियाँ गुफा के अन्दर हैं और आगन शिलाच्छादित है । उडीसा में इसके विपरीत भिक्षुओं के लिए निर्मित कोठरियाँ एव आगन गुफा के अन्दर होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक प्रकाशित हैं । ऐसा लगता है कि इनका निर्माण चट्टान के उपर से काट कर किया गया है इसीलिए भीतर से खुला आसमान दिखाई देता है । उडीसा के जैन विहार आकार में छोट हैं जिनमें 2-3 कोठरियाँ बनी हैं ।

उदयगिरि समूह की सर्वाधिक उल्लेख्य गुफा रानी गुफा है । यह दो मजिल की गुफा है । इसको अनेक मनोरजक दृश्यों की उकेरी से सजाया गया है । प्रत्येक मजिल में एक मध्यवर्ती कक्ष तथा आगन है । आगन के तीन ओर अन्य कक्ष हैं उपरी मजिल का बरामदा 62 फुट लम्बा तथा नीचे की मजिल का 44 फुट लम्बा है । उनमें विविध समारोहों के अतिरिक्त प्रेम कथाओं नारी अपहरण आदि के दृश्य भी उकेरे गये हैं । उपर की मजिल नीचे की मजिल के ठीक उपर न होकर कुछ पीछे की ओर हटकर खोदी गयी है । इसके परिणामस्वरुप सामने की ओर एक बरामदा या आगन बन गया है जिसमें जाने के लिए दोनों ओर सीढ़ियों के कटाव हैं । रानी गुम्फा का प्रवेशद्वार 3 फुट ग्यारह इच लम्बा तथा 2 फुट चौडा है । इन गुफाओं में उस प्रकार के चैत्यघर या पूजा स्थल नही है जैसे पश्चिमी भारत की पर्वतीय गुफाओं में है ।

अन्य बडी गुफा गणेश गुम्फा है । इस गुफा में विविध प्रकार के अलकरण प्रयुक्त हुए हैं । एक स्थान पर उदयन-वासवदत्ता की प्रसिद्ध कथा का रोचक अकन हुआ है । इसके अतिरिक्त दुष्यन्त- शकुन्तला आख्यान का भी आलखन किया गया है । इस एक मजिल की गुफा में कीर्तिमुख रक्षा पुरुष शालभजिका सोपान मार्ग पर दोनों ओर दो हाथी उत्कीर्ण किये गये हैं । व्याघ्र गुम्फा बडी प्रभावशाली है । इस गुफा का सम्मुख दर्शन मुँह फाडे व्याघ्र की स्मृति दिलाता है । यही व्याघ्र का खुला मुह गुफा का प्रवेश द्वार है । यह छोटी गुफा 7 से 9 फुट लम्बी है । उदयगिरि समूह की अन्य उल्लेखनीय गुफा जयविजय गुम्फा है । इस गुफा की विशेषता यह है कि इसमें उडीसा की कुछ अन्य गुफाओं के विपरीत नीचे और उपर की मजिल की योजना परस्पर एक दूसरे की पूरक है । नीचे की मजिल के उपर ही उपर को मजिल बनी है न कि पीछे की ओर हटकर । गुफा के द्वार मुखों पर उत्कीर्ण वेदिका अलकरणों के मध्य में बोधिवृक्ष बने हैं । इसकी शोभा पट्टी पर उत्कीर्ण फूल पत्ती का काम रानी गुम्फा के समान है । स्वर्गपुरी गुफा की उपरी मजिल मचपुरी के समान निचली मजिल के ठीक

उपर हैं । सर्प गुम्फा के भीतर तीन फणयुक्त सर्प की प्रतिमा से ज्ञात होता है कि नाग आदि लोक देवताओं को उपासना में भी जैनधर्मावलम्बियों की रुचि थी ।

खण्डगिरि समूह की गुफाओं में अनन्त गुफा का विशिष्ट स्थान है। इस गुफा का अलकरण भरहुत साची के विख्यात स्तूपों और पश्चिमी भारत के चैत्यघरों के समान बहुमुखी और महत्वपूर्ण ठहरता है। गुफा के भीतरी कक्ष (24 x7) के सामने स्तम्भों पर आधारित बरामदा (26 x 7) है। इस गुफा की दीवारों पर गजलक्ष्मी आदि का रोचक आलेखन है । इसमें एक स्त्री कमल दण्डों को हाथों में लिए हुए खडी मुद्रा में उत्कीर्ण है और दो हाथी उसके दायें बाये अभिषेक करते अंकित हैं। अनन्त गुफा में अपनी दो पत्नियों सहित चार अश्वों के रथ में सवार सूर्य देव की प्रतिमा भी प्रभावशाली है।यह आकृति बोधगया में बोधिमण्ड की वेदिका में उत्कीर्ण आकृति से साम्य रखती है।

पश्चिमी भारत के चैत्य गृह एव विहार – गुहा वास्तु का आन्दोलन विहार से उडीसा होते हुए पश्चिमी भारत में पहुँचा । यद्यपि उत्तरी भारत में बौद्धधर्म का प्रचुर प्रचार था किन्तु फिर भी चैत्य घर एव गुहा विहार व्यापक मात्रा में पश्चिमी घाट पर निर्मित किये गये । सम्भवत सह्याद्रि की पर्वत शृखला में कठोर पत्थर की चट्टानें तक्षण कला को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से उपयोगी समझी गयी । इतनी अच्छी किस्म की चट्टानों क उत्तरी भारत में अनुपलब्ध होने के कारण पश्चिमी भारत में गुहा वास्तु के आन्दालन का कन्द्रीयकरण होना स्वाभाविक था ।

पश्चिमी भारत में बौद्धधर्म का प्रचार तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व में हो चुका था । सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अपने साम्राज्य के मुख्य स्थानों पर राजाज्ञाएँ उत्कीर्ण कराई थी । उसके काल में बौद्धधर्म मध्यप्रदेश होकर गुजरात काठियावाड पहुँचा । इस क्षेत्र तथा उसके आस पास के भूभाग के लिए गिरनार (जूनागढ से एक मील दूर) तथा सोपारा (प्राचीन शूर्पारक नामक बन्दरगाह जो शोणापरान्त देश की राजधानी (कोंकण) था) का चयन किया गया । गिरनार पहाडी (रैवतक पर्वत) में अशोक का अभिलेख उत्कीर्ण है । इस क्षेत्र में प्राप्त होने वाले गुफाओं के एक समूह से ज्ञात होता है कि यहाँ बौद्ध धर्म से सम्बद्ध गतिविधि का इतिहास कितना अधिक प्राचीन है । व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र होने के कारण यहाँ के व्यापारी एव श्रेष्ठीवर्ग का सहयोग गुहावास्तु के विकास में मिलना स्वाभाविक था । दिव्यावदान शूर्पारक के किसी पूर्ण नामक महासार्थवाह का उल्लेख करता है जा बौद्धधम में दाक्षित था । इस प्राचान कथा से ज्ञात हाता है कि बिना बुद्ध के वहाँ गय ही शूर्पारक में धर्म का प्रचार हो चुका था । इस क्षेत्र में गुफाओं के निर्माण की घटना अशोक द्वारा शूर्पारक में अभिलेख उत्कीर्ण करने की घटना की स्थूलत समकालिक थी । इसके पश्चात गुफाओं के निर्माण के इस आन्दोलन का विस्तार आस पास के क्षेत्र में हुआ जिसके परिणामस्वरूप भाजा कार्ले कन्हेरी जैसे विशाल चैत्य निर्मित हुए । पश्चिमी भारत में बौद्धकला के विस्तार में स्थानीय लोगों व्यापारियों श्रेष्ठियों के अतिरिक्त सातवाहन क्षहरात और शक-क्षत्रप वश के नरेशों का भी समुचित सहयोग रहा। वहाँ से प्राप्त होने वाले अभिलेखों से इसकी पुष्टि होती है । कार्ले जुन्नार नासिक आदि स्थलों स प्राप्त अभिलेखों से दाताओं द्वारा भिक्षुओं के उपयोगार्थ लेण बनवाने के उल्लेख मिले हैं ।[1] यह शब्द विहार तथा चैत्यघर दोनों के लिए समान रूप से प्रयुक्त हुआ है । प्रारम्भिक विहार शिल्प सज्जा

1 नासिक गुहालेख (सख्या 10) क्षहरातवशा क्षत्रप नहपान के जामाता उषवदात द्वारा भिक्षुओं को गुहा दान तथा उनके निर्वाह के लिए तीन हजार मुद्रा (कार्षापण) दिये जाने का उल्लेख करता है । इसी प्रकार कार्ले गुहा लेख भी उषवदात द्वारा भिक्षुओं के निर्वाह के लिए ग्राम दान देने का उल्लेख करता है ।

की दृष्टि से बिल्कुल सादे हैं पश्चिमी भारत में अनेक बडे विहार भी उत्कीर्ण किये गये हैं । बडे विहार के मध्य में चौकोर कक्ष निर्मित होता था । कक्ष के दो अथवा तीन ओर भिक्षुओं के लिए छोटी छोटी कोठरियाँ (गर्भशालाएँ) बनाई जाती थी । अधिकाश कोठरियाँ 9 फुट लम्बी तथा 9 फुट चौडी है । चैत्यगृह एव विहार दोनों ही मूलत काष्ठशिल्प से पाषाण शिल्प में उतारे गये हैं । यहाँ अनेक स्थलों पर अभी तक पाषाण शिल्प के उपर काष्ठशिल्प का मेल है । काष्ठ शिल्प के यह जडाव चैत्यगृह के बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर मिले हैं ।

भाजा विहार — पश्चिमी भारत के प्राचीन लयण विहारों में पूना जिले में कार्ले से चार मील दक्षिण में स्थित भाजा के बौद्ध विहार की गणना की जा सकती है । द्वितीय शताब्दी ई पूर्व में यह स्थान बौद्ध वास्तु का केन्द्र था । यहाँ विहार चैत्यगृह तथा 14 ठोस स्तूप निर्मित किये गये हैं । यहाँ चट्टान को काटकर एक आयताकार कक्ष बनाया गया है । जिसमें छोटे-छोटे कक्ष भिक्षुओं के उपयोगार्थ बने हैं भाजा विहार का मुखमण्डप 17 फुट 6 इच लम्बा है । भीतर का कक्ष 16 फुट 7 इच लम्बा है । उसके तीन ओर भिक्षुओं के लिए कोठरियाँ बनायी गयी थी । प्रत्येक कोठरी में विश्राम के लिए पत्थर की चौकी बनायी गयी थी । भाजा के इस गुहा विहार को अलकृत करने वाला मूर्ति शिल्प प्रभावशाली है ।मूर्तियों को उकेरी द्वारा उभारकर बनाया गया है । आकृतियों को विविध आभूषणों से सजाया गया है । मूर्तियाँ विहार के मुखमण्डप क पूर्वी छोर के प्रवेश द्वार के दोनों ओर उत्कीर्ण हैं । बायी ओर की प्रतिमा में छत्र और चवर धारी दो स्त्रियों से आवृत्त चार घोडों के रथ पर सवार एक पुरुष आकृति उत्कीर्ण है । इसे सूर्य की प्रतिमा कहा गया है । दाहिनी ओर की हाथी पर आरूढ पुरुष प्रतिमा की पहचान इन्द्र से की गयी थी । कुमारस्वामी ने कुछ इसी प्रकार की धारणा व्यक्त की थी । वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसके विपरीत दानों मूर्तियों में सम्राट मान्धाता के उत्तर कुरु अभियान का प्रतिबिम्ब ढुढने की चष्टा की है ।

भाजा का चत्यगृह — यह चैत्यगृह इस क्षेत्र का प्राचीनतम चैत्यगृह है जिसका निर्माण लगभग 200 ई पूर्व हुआ था । इसका आयताकार कक्ष 55 फुट लम्बा तथा 26 फुट चौडा है । इस मण्डप के स्तम्भ की ऊचाई 11 फुट है । इसकी गज पृष्ठाकार छत भूमि से 29 फुट ऊँची है । स्तूप का निचला भाग गोल तथा उपर का अण्डभाग लम्बोतरा है । स्तूप पर कभी छत्रयुक्त काष्ठ हर्मिका भी थी । इस चैत्य का द्वार या कीर्तिमुख भी काष्ठ से विभूषित था । मुखमण्डप में पाषाण और काष्ठ शिल्प का परस्पर सयोग पर्याप्त प्रभावशाली है । इसे मूर्तिशिल्प की दृष्टि स सादा ही कहा जायेगा । मात्र मण्डप के स्तम्भों पर पाच मागलिक चिन्ह (त्रिरल नन्दिपद श्रीवत्स चक्र और बीच क मस्तक और कमल को घेरे हुए चार त्रिरलों का मण्डलाकृति घेरा) बने हैं ।

चैत्यगृह से थोडी दूर पर अनेक आकारों के 14 ठास चैत्य उत्कीर्ण हैं । इनमें अण्ड भाग पर वेदिका का अलकरण हैं । सबसे बडे चैत्य की छत्रयष्टि का दण्ड प्रस्तर निर्मितु था शेष स्तूपों में काष्ठ का ।

कोण्डाने — पश्चिमी भारत में गुहा वास्तु का एक अन्य महत्वपूर्ण कन्द्र कार्ले से 10 मील दूर कोण्डाने में था । यहाँ चैत्यगृह एव विहार दानों ही निर्मित है । मध्य में स्तम्भों पर आधारित मण्डप उत्कीर्ण है जो 29 फुट लम्बा तथा 23 फुट चौडा है । भीतरी मण्डप क तीन ओर भिक्षुओं के लिए अपवरक या कोठरियाँ बनी है । यहाँ भी छत गजपृष्ठाकार है जिसके नीचे अन्य चैत्यगृहों की भाति

नहीं है । द्वारों के अस्तित्व का प्रमाणित करने वाली चूले देहली एव ऊपरी स्थान (उतरगे) पर अभी भी मिलती है । गुफा सख्या 13 प्रारम्भ में लघु आकार का विहार का किन्तु कालान्तर में उसका विस्तार करके उसे एक बडे मण्डप का रूप दिया गया । उसका आकार 14x17x7 फुट है ।

महायान युग में 10 9 8 12 13 सख्या की प्रारंभिक पाच गुफाओं के अतिरिक्त आठ गुफाएँ दक्षिणपूर्व और 14 गुफाएँ द. पश्चिमी की ओर उत्कीर्ण की गई ।

बेडसा का गुहा वास्तु — पश्चिमी भारत में गुहावास्तु के अन्य उल्लेखनीय केन्द्र के रूप में कार्ले से 10 मील दक्षिण की ओर स्थित बेडसा की गणना की जा सकती है । बेडसा की गुफाओं से ज्ञात होता है कि कलाकार ने किस प्रकार काष्ठशिल्प से प्रस्तर शिल्प की ओर प्रस्थान किया । इन शिलाश्रयों में चैत्यगृह के सभी लक्षण विद्यमान है । इन गुफाओं के मुखमण्डप में दो बडे स्तम्भ हैं । इन्हें कार्ले की गुफा के स्तम्भों की भाति स्वतत्र स्तम्भ नही माना जा सकता । इन स्तम्भों की यष्टि के मझलेट एव पशुशीर्षक पर अशोक कालीन स्तम्भों का प्रभाव दिखाई देता है । यह स्तम्भ अठपहलु हैं। इनका निर्माण काष्ठस्तम्भों की अनुकृति पर हुआ प्रतीत होता है । गुहास्तम्भ का अधोभाग पूर्णकुम्भ पर आधारित है। इन स्तम्भों के शीर्षक अत्यन्त सुन्दर हैं । इनके शीर्ष चौकी युगल आरोहियों से अलकृत है। यहाँ मानव एव पशु दोनों की आकृतियों का सफल शिल्पाकन किया गया है ।

मुखमण्डप के ऊपर शायद सगीतशाला थी । भूतल की पिछली दीवार पर एक प्रवेशद्वार था। गुहा के मुख द्वार का पूरा भाग वेदिका अभिप्राय से सजाया गया है। कीर्तिमुख का ऊपरी भाग भी वेदिका अलकरण से सुसज्जित है। समस्त मुखपट्ट सचमुच वास्तु एव शिल्पकला का उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत करता है । बेडसा की मुख्य गुफा का मुखमण्डप सौन्दर्य की दृष्टि से उच्चकोटि का है।उसकी तुलना कार्ले के अलकृत मुखमण्डप से की जा सकती है । चैत्यशाला के अन्दर का मण्डप 45 फुट 6 इच लम्बा एव 21 फुट चौडा है । इसकी ढोलाकार छत में कभी काष्ठ की धरनें लगी थी जो अब नष्ट हो गयी है । इस चैत्यशाला के समीप ही आयताकार विहार है उसके चौकोर मण्डप का पिछला भाग वृत्ताकार है और तीनों ओर चौकोर कोठरियाँ बनी है ।

नासिक के शिलाश्रय — गोदावरी नदी के तट पर स्थित नासिक शक सातवाहन युगीन गुहा वास्तु का एक महत्वपूर्ण कन्द्र था । पतजलि के अनुसार इसका प्राचान नाम नासिक्या था । अपनी सुन्दर प्राकृतिक पृष्ठभूमि के कारण द्वितीय शताब्दी ई पूर्व में यहा बौद्ध धर्म का केन्द्र स्थापित हो गया। नासिक में कुल 17 गुफाएँ हैं । जिनमें से एक चैत्यगृह तथा 16 विहार हैं। सम्भवत प्रारम्भ में इन विहारों की दीवारों पर अजन्ता के समान ही चित्र बने हुये थे जो अब नहीं रहे । यहाँ के प्रारम्भिक विहार हीनयान सम्प्रदाय स सम्बद्ध हैं । यहाँ का प्राचीनतम विहार आकार में छोटा है । इसका भीतरी मण्डप 14 फुट वर्गाकार है जिसके तीन ओर चौकोर कोठरियाँ बनी हुई हैं । गुहा विहार के बाहरी मुखमण्डप में दो अठपहलू खम्भे लगे हैं । इस गुफा में आन्ध्रवशी राजा कृष्ण का लेख उत्कीर्ण है। नासिक का यह सर्वाधिक प्राचीन विहार द्वितीय शताब्दी ई पूर्व का है ।

नासिक के बडे विहारों में नहपान का विहार' सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है । विहार के तीन ओर 16 कोठरियाँ हैं । उसके दोनों सिरों पर एक-एक कोष्ठ भा उत्कीर्ण हैं । इसके मुखमण्डप

के स्तम्भ कार्ले-जेसे हैं । शकराजा नहपान की पुत्री दक्षमित्रा ने अपने पति उषवदात (ऋषभदत्त) के साथ इस विहार के कोष्ठों का निर्माण कराया था । इस विहार के बराम्दे के अठपहलू स्तम्भ का निर्माण अधिष्ठान युक्त पूर्णकुम्भ पर किया गया है । स्तम्भ के शीर्ष पर भी उल्टे रखे हुए पूर्ण कुम्भ का अकन है ।

यहाँ का द्वितीय मुख्य विहार गौतमीपुत्र सातकर्णि का है जिसका वास्तु विन्यास पूर्वोक्त नहपान विहार से मिलता जुलता है । दोनों विहार के स्तम्भ अत्यन्त कलात्मक हैं । स्तम्भों में पत्रवर वेदिका का अलकरण उत्कीर्ण है । यहाँ प्रयुक्त सजावट मथुरा के कन्काली टीले से प्राप्त, पत्रवर वेदिका पर पाई गयी है ।

नासिक का तृतीय उल्लेखनीय विहार यज्ञश्री सातकर्णि का है । विहार का मण्डप 61 फुट लम्बा है । बाहर की ओर उसका विस्तार 37 फुट 6 इच और भीतर की ओर 44 फुट है । आरम्भ में यह विहार छोटा था किन्तु कालान्तर में इसका विस्तार किया गया । विहार में भिक्षुओं के लिए आठ कोठरियाँ बनी है । मण्डप के पिछले भाग में एक गर्भगृह है जिसके सामने की ओर बने हुए स्तम्भों में उकेरे गये अलकरण अत्यन्त प्रभावपूर्ण है । यहाँ से प्राप्त होने वाले एक लेख से ज्ञात होता है कि विहार का निर्माण यज्ञश्री सातकर्णि के सेनापति की पत्नी वासु ने कराया था । नासिक में गुफा सख्या 17 सबसे अर्वाचीन है उसमें महायान युगीन विशेषताएँ परिलक्षित होती है उदाहरणार्थ गौतम बुद्ध की विविध मुद्राओं एव आसनों में मूर्तियों का निर्माण । उनके साथ पार्श्वचर वामनाकृति अनुचर दिव्य पुष्प वर्षाने वाले विद्याधर एव बोधिसत्व प्रतिमाएँ भी हैं । गुफा का विकास 600 से 800 ईसवीं के मध्य कभी किया गया होगा । स्थूलत नासिक की महत्वपूर्ण गुफाएँ सातवाहन युगीन है । गुहा सख्या 12 आकार की दृष्टि से छोटी है किन्तु इसका निर्माण एक यवन द्वारा किया गया था । एक शिलालेख के अनुसार गुफा का निर्माण इन्द्राग्निदत नामक यवन ने कराया जो उदीच्य में दत्तामित्री नगर का रहने वाला था ।

नासिक की चैत्यगृह — चैत्यशाला का निर्माण तिथिक्रम की दृष्टि से आरभिक विहार की अपेक्षा कुछ पश्चातकाल में हुआ । इसका निर्माण ई पूर्व प्रथम शती के मध्य में हुआ । यह गुफा दो मजिली है । गोलम्बर सहित प्रवेशद्वार प्रथम तल (मजिल) में तथा कीर्तिमुख अथवा सूर्यद्वार द्वितीय तल में निर्मित है । इसके भीतरी मण्डप के स्तम्भ सीधे हैं । चैत्यगृह का मुखमण्डप अलकृत वास्तु का द्योतक है । सूर्यद्वार के पार्श्व में एक महाकाय रक्षा पुरुष उत्कीर्ण है । यहाँ अनेक ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण हैं जिनमें दानकर्ताओं के नामों की सूची मिलती है । मण्डप के स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार चैत्यगृह का निर्माण भट्ट पालिका ने कराया । लेखों से ज्ञात होता है कि इस चैत्यगृह के विभिन्न भागों के निर्माण में अनेक दान दाताओं ने योगदान दिया था । मुखमण्डप के द्वार पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार इसका दान बम्भिका ग्राम के लोगों ने किया था ।

नासिक की यह चैत्यशाला पाण्डुलेण के नाम से विख्यात है । इसमें एक सगीतशाला का प्रावधान भी था । इस वास्तुकृति के प्रवेशद्वार की परिष्कृत कला से इगित होता है कि इसका निर्माण सिद्धहस्त स्थपतियों ने किया । स्तम्भ निर्माण एव शिल्प सज्जा में प्राय एकरूपता दिखाई देती है । पूर्ण घट के मागलिक अभिप्राय का प्रयोग पश्चिमी भारत की गुफाओं के स्तम्भों में अनेकत्र किया गया है । स्तम्भों की पेंदी और ऊपर के सिरे पर पूर्णकुम्भ स्तम्भयष्टि को सौन्दर्य प्रदान करता है । पूर्ण कुम्भ

अभिप्राय का प्रयोग सारनाथ के अशोकीय सिंह शीर्षक में प्रयुक्त पद्मकोश (पूर्णकलश) की स्मृति दिलाता है ।

जुन्नार की गुफाएँ — महाराष्ट्र प्रान्त में पूना से 48 मील उत्तर में जुन्नार की बस्ती है । उसके समीप 150 शैल गृहों को उत्कीर्ण किया गया है । उनमें 140 विहार एव 10 चैत्यशालाएँ हैं । मूर्तियों के अभाव से इस बात का सकेत मिलता है कि यह हीनयान सम्प्रदाय का एक बडा केन्द्र था । यहाँ की गुफाओं का निर्माण द्वितीय शताब्दी ई पूर्व से प्रथम शती ईसवी तक के मध्य कभी हुआ । यहाँ से प्राप्त होने वाले लेखों से ज्ञात होता है कि वे बौद्ध भिक्षुओं के उपयोग के लिए उत्कीर्ण की गई थी । यहाँ की गुफाओं की कुछ वास्तुगत विशेषताएँ उन्हें अन्य स्थलों में उत्कीर्ण गुफाओं से भिन्न करती हैं। गुफाएँ सादी हैं । उनमें रक्षा पुरुष एव स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों का अभाव है । आयताकार चैत्यशाला स्तम्भहीन मण्डप चपटी छत आदि विशेषताएँ अन्यत्र नहीं पाई जाती । यहाँ से गोल आकृति का चैत्यगृह भी प्राप्त हुआ है ।

जुन्नार के चैत्य घर — यहाँ से प्राप्त होने वाले चैत्यघरों में से छः आयताकार हैं । इनकी छतें अन्य स्थलों के उदाहरणों के विपरीत चपटी हैं । एक चैत्यशाला (तुलजा समूह में) गोल आकृति की है। यह शैल गृह पश्चिमी भारत में अन्यत्र नहीं मिलता किन्तु दक्षिण भारत में पूर्वी समुद्रतट के निकट गुण्टपल्ले में ऐसा ही गोल शैलगृह मिला है । जुन्नार की गुफाओं का रूप सादा ही है केवल कुछ गुफाओं में कमल सर्प, गरुड तथा श्रीलक्ष्मी का अलकरण दिखाई देता है । मानमोद की चैत्यशाला में उत्कीर्ण गज लक्ष्मी की प्रतिमा अत्यन्त कलात्मक है । कीर्तिमुख का अलकरण भी सुन्दर है । गुहा का आन्तरिक मण्डप प्रदक्षिणापथ के स्तम्भों के मध्य 30 फुट लम्बा और 12 फुट 6 इच चौडा है । भिक्षुओं के लिए उत्कीर्ण गर्भशालाओं के प्रवेश द्वार चैत्यवातायन अभिप्राय से युक्त है । चैत्यशाला के मुखपट्ट के किनारे के अर्द्धवृत्त पर मिलने वाले लेख से ज्ञात होता है कि मुखपट्ट का अर्द्धभाग चद नामक एक यवन ने दान में दिया । वह भागवत धर्म का अनुयायी था ।

जुन्नार से पश्चिम की ओर (2 मील दूर) तुलजा समूह में बारह गुफाएँ हैं । उसमें पाच कोठरियों वाला एक विहार भोजनशाला तथा एक गोल चैत्यशाला है । इस विशिष्ट चैत्यघर के भीतरी मण्डप का व्यास 25 फुट 6 इच है । इसकी वृत्ताकार छत 18 फुट ऊँची है जो 12 अठपहलू स्तम्भों पर टिकी है । स्तम्भों के मध्य में स्तूप है । इस प्रकार की गोल चैत्यशाला का शिल्पाकन भरहुत स्तूप की वेदिका पर भी मिला है । गणेश गुहासमूह में चार चैत्यघर हैं । इनका शिल्प विधान अधिक अलकृत है । इनमें से एक में शक राजा नहपान के काल (प्रथमशती ई) का लेख है । इसका भीतरी मण्डप 45 फुट लम्बा चौडा है और उसके दोनों ओर 5 5 स्तम्भों की पक्ति है । इस चैत्यघर की शिल्पसज्जा बौद्धकला के इस विशिष्ट स्वरूप के विकास के उत्कर्ष की ओर सकेत करती है ।

कार्ले का गुहा वास्तु — भोरघाट पहाडी में अनेक गुफाएँ उत्कीर्ण की गई है इनमें कार्ले की गुफाएँ कला की दृष्टि से विशेष महत्व की हैं । कोंकण और सह्याद्रि के पूर्वी तटान्त का जोडने वाले पुरातन मार्ग पर भोरघाट नामक पहाडी पर कोण्डाने भाजा बेडसा और कार्ले की गुफाएँ हैं । मलावली स्टेशन से 3 मील तथा बम्बई से 78-1/2 मील दूर कार्ले की गुफाएँ हैं । यहाँ एक भव्य चैत्यशाला तथा तीन विहार है । कार्ले की चैत्यशाला के मुखमण्डप पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार यह समस्त जम्बूद्वीप भर में सर्वोत्तम चैत्यशाला थी[2] । पश्चिमी भारत में गुहा वास्तु का आन्दोलन विकास

2. यह अपने ढग की श्रेष्ठ चैत्यशाला मानी जाती है ।
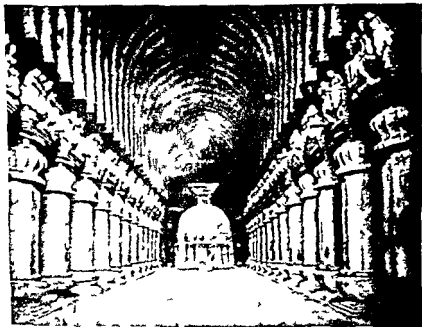
चित्र–55 कार्ले चैत्य

के किस सोपान तक पहुँच गया था इसका अनुमान कार्ले के चैत्य से लगाया जा सकता है । यह चैत्य मन्दिर अपनी श्रेणी के सब चैत्यगृहों में श्रेष्ठ है (चित्र– 55) । इसमें वास्तु एव शिल्प का सराहनीय समन्वय देखा जा सकता है । इसके निम्नलिखित उल्लेखनीय भाग है

1 दो सिंह शीर्षयुक्त ऊँचे चतुर्मुखी स्तम्भ

2 स्तम्भों पर आश्रित द्विभूमिक मुखमण्डप

3 मुखमण्डप की सगीतशाला

4 उपरी मजिल के मुखमण्डप का भव्य कीर्तिमुख या सूर्यद्वार

5 मध्यवर्ती मण्डप

6 दो लम्ब प्रदक्षिणापथ

7 वृत्ताकार गर्भगृह

8 गर्भगृह के मध्य का स्तूप

9 स्तम्भों की माला (अवली) इनमें से सात स्तम्भ स्तूप के चतुर्दिक हैं और 15 15 स्तम्भों को मण्डप के दोनों ओर खडा किया गया है ।

10 ढोलाकार छत ।

11 छत के नीचे काष्ठ-शिल्प की विशाल धरनें (धन्नियाँ बीम्स)

12 चैत्यगृह के भीतर और बाहर उत्कीर्ण अनेक ब्राह्मी लेख ।

वासुदेवशरण अग्रवाल के विचार में कार्ले सरीखी विशाल एव भव्य गुफाओं को कीर्ति नाम दिया जाने लगा । कीर्ति शब्द का शाब्दिक अर्थ है उत्कीर्ण या चट्टान में काटी हुई गुफा । इसी आधार पर सम्मुख खडा स्तम्भ कीर्तिस्तम्भ कहलाया । कार्ले में पहले कन्हेरी की भाति दो बडे कीर्तिस्तम्भ बने थे । तीन हजार वर्ष ई पूर्व उर के चन्द्र मन्दिर के सम्मुख ऐसे स्तम्भ थे । इसके अतिरिक्त मिश्री मन्दिरों के सामने तथा येरूशलम में सोलोमन के मन्दिर के सम्मुख भी ऐसे ही स्तम्भ थे । सारनाथ के अशोकीय स्तम्भ की स्मृति दिलाने वाला लगभग 50 फुट ऊँचा यह स्तम्भ पर्सी ब्राउन के विचार मे परिवर्तनों के साथ पर्सीपोलिस के प्रारभिक नमूने का भारतीयकरण है[3] । उल्लेखनीय है कि भारत में यज्ञीय यूप (स्तम्भ) एव श्मशानों में स्तम्भ स्थापित करने की पुरानी परम्परा है भारत में ऐसे स्तम्भों का उद्गम वैदिककालीन यूप से हुआ । कार्ले के स्तम्भ का दण्ड 16 पहल का है स्तम्भ शीर्ष पर पद्मकोष अलकरण है । उसके उपर चौकी है । सबसे उपर चारसिंह बैठाये हुए अकित हैं । इस गुफा का मुखमण्डप दो मजिला है । उसका निचला भाग अठपहलू दो स्तम्भों पर टिका है । उपरी भाग को चार स्तम्भ और दो लघु पार्श्व स्तम्भ थामे हुए हैं। मुखमण्डप 52 फुट लम्बा एव 17 फुट गहरा है। यहाँ अन्य गुफाओं की भाति मुखमण्डप की पिछली दीवार में मिथुनों की विशाल प्रतिमाएँ बनी है कला की दृष्टि से इन मूर्तियों को भारत भर में सर्वश्रेष्ठ आका गया है । मण्डप के दो पार्श्वभागों में दो विशालकाय हाथियों की मूर्तियाँ बनी है । यह मूर्तियाँ चबूतरों पर खडी की गई हैं । इनके निम्न भाग में वेदिका का सुपरिचित अलकरण है। मुखपट्ट के दोनों भागों की कीर्तिमुख अलकरण शोभा बढाते

3 पर्सी ब्राउन, पूर्वोक्त (1983 सस्करण) पृ० 24

है। मुखमण्डप के मध्य में चट्टान में काटी गई चूलें इस बात की ओर इगित करती हैं कि अतीत में कभी धरनों में झूलती हुई काष्ठशिल्प की सगीतशाला थी । इस प्रकार की सगीतशाला ने ही पश्चातकालीन नाद मण्डप(नान्दी मण्डप) का रूप ले लिया जिसकी झलक हम एलोरा के कैलास मन्दिर में पाते हैं । मध्यकालीन भवनों में भी सगीतशाला के निर्माण की परम्परा नौबत खाने के रूप में विद्यमान रही ।

मुखमण्डप के उपरी तल पर पीछे की ओर विशाल कीर्तिमुख बना है जिसे सूर्यद्वार भी कहा जाता है । भीतरी मण्डप में इसी मार्ग से सूर्य का प्रकाश एव वायु प्रवेश करते हैं । भारतीय कला में कीर्तिमुख की कल्पना उपयोगिता और सौन्दर्य अपना विशिष्ट स्थान रखती है चैत्य मदिर के वास्तु विन्यास में आद्योपरान्त कीर्तिमुख के सदृश्य दूसरी मौलिक कल्पना नहीं है ।

भीतरी मण्डप में दोनों ओर सुन्दर स्तम्भों की पक्ति है जो प्रदक्षिणापथ को मण्डप से पृथक करती है । स्तम्भों के शीर्ष भाग अत्यन्त आकर्षक हैं । भीतरी मण्डप चैत्य के मुखद्वार से अन्तिम छोर तक 124 फुट लम्बा है । 10 फुट चौडे प्रदक्षिणा पथ सहित उसकी चौडाई 45 फुट है । किनारे स्तूप की चौकी के उपरी भाग में वेदिका अलकरण है । स्तूप पर दण्ड युक्त छत्र है । चैत्यगृह की ढोलाकार छत 45 फुट ऊँची है । कार्ले का यह शैलगृह पश्चिमी भारत के बौद्ध वास्तु का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । इसकी दीवारों पर अनेक ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण हैं । एक लेख क्षहरात राजा नहपान एव उसके जामाता उषवदात द्वारा चैत्यगृह के उपयोगार्थ एक ग्राम दान देने का उल्लेख करता है । एक अन्य लेख में वैजयन्ती (वर्तमान बनवासी) के श्रेष्ठि भूतपाल का इस चैत्यगृह के दान दाता के रूप में उल्लेख है ।

कार्ले में तीन विहार हैं निर्माण साधारण स्तर का है । विहार सख्या 2 त्रिभूमिक और सख्या 3 द्विभूमिक है । कार्ले में विहार सख्या 4 पर पारसीक देश के निवासी दानकर्ता हरफान का नाम उत्कीर्ण है जिसन सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र सातकर्णि के राज्यकाल में उक्त गुहा विहार दान में दिया था ।

कन्हेरी का गुहावास्तु -- पश्चिमी भारत में एक अन्य गुहावास्तु का केन्द्र बम्बई से 16 मील उत्तर की ओर बोरीवली स्टेशन से 5 मील दूर कन्हेरी में था । इस स्थान का प्राचीन नाम कृष्णगिरि था। इस पर्वत श्रृखला में प्राकृतिक चट्टान को काटकर अनेक प्रकार और परिमाण की सैकडों गुफाएँ बौद्ध भिक्षुओं के उपयोग के लिए बनाई गयी थीं । यहाँ बौद्धधर्म के हीनयान सम्प्रदाय से सम्बद्ध गुहा निर्माण के आन्दोलन के लगभग अन्तिम काल में गुफाओं का निर्माण प्रारभ हुआ । सातवाहन वश के शासकों के काल में यहाँ के अधिकाश विहारों का निर्माण हुआ । लगभग दो सौ वर्षों के अन्तराल के पश्चात चौथी शती ईसवी में महायान के प्रभाव स इस केन्द्र का पुन उद्धार हुआ । कन्हेरी के गुहावास्तु केन्द्र का वैभव दसवीं शती तक बना रहा । यहाँ इस बीच बुद्ध और बोधिसत्वों की विविध आकारों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गईं । कन्हेरी के गुहा समूह कार्ले की गुहाओं से मिलते-जुलते हैं ।

चैत्य गृह -- कन्हेरी के गुहा समूह में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यहाँ का चैत्यगृह है । आकार एव वास्तु योजना की दृष्टि से यह कार्ले के गुहाचैत्य से तुलनीय है । यहाँ के स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार चैत्यगृह के उत्कीर्ण करने का कार्य गजसेन और गजमित्र नामक दो भाइयों ने कराया । यह कार्य सातवहन नरश गौतमीपुत्र श्री यज्ञ सातकर्णि के काल में सम्पन्न हुआ । चैत्य का भीतरी मण्डप 86 फुट 6 इच लम्बा 40 फुट चौडा तथा फर्श से 38 फुट ऊँचा है । मण्डप के दोनों ओर स्तूप के पीछे

34 स्तम्भों की पक्ति है। उनके शीर्षों पर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं । ढालाकार छत में अनेक चूलें बनी जिन पर कभी बल्लियाँ (धरनें) अटकायी गई थी । चैत्यगृह में 16 फुट व्यास वाला सादा स्तूप बना है।

कन्हेरी के चैत्यगृह के सम्मुख बना हुआ प्रागण (आगन) उसकी विशेषता है । अन्यत्र इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है । आगन के एक ओर अलकृत वेदिका है । इस पर एक हाथ ऊपर उठाये हुए यक्ष प्रतिमाए बनी हैं जिन्हें अग्रवाल ने भार पुत्रक की सज्ञा दी है। यह साची भरहुत आदि स्थानों में बनी गुह्यक या किंकर मूर्तियों की मुद्रा में है । आगन के दो कोनों में दो स्तम्भ हैं जिनकी तुलना कार्ले के स्तम्भों से की जा सकती है । इनके शीर्ष भाग पर यक्षों के मस्तक पर आधारित चौकी पर तीन सिंहों की मूर्तियाँ हैं । सिंहों के मस्तक पर सम्भवत धर्मचक्र बना हुआ था । यहाँ का मूर्ति शिल्प सौन्दर्य एव विकास की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली है ।

अध्याय 8

मथुरा और गंधार की कुषाण कला

भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर शकों की अधिसत्ता को चुनौती देने के साथ ही उनसे बाह्लीक हस्तगत करने वाली यूची जाति के कुषाणों का राजनीतिक शक्ति के रूप में अभ्युदय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी । शीघ्र ही काबुल घाटी तथा गधार क्षेत्र पर उनका आधिपत्य स्थापित हो गया । कुषाण वश के यशस्वी शासक कनिष्क की प्रभुसत्ता का विस्तार मध्य एशिया से बगाल पर्यन्त था । उसे बौद्धधर्म के इतिहास में द्वितीय अशोक कहा जाता है। उसने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में क्रियात्मक भूमिका निभाई । उसके काल में चतुर्थ बौद्ध सगीति का आयोजन कश्मीर के कुण्डलवन विहार में किया गया था । उसने पेशावर (पुरुषपुर) को अपनी शीतकालीन राजनगरी का गौरव प्रदान किया । अश्वघोष और चरक उसके दरबार को सुशोभित करते थे । कुषाण शासक ने धर्म सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया । कुषाण काल में भारत का विदेशी व्यापार अत्यन्त लाभकारी था । व्यापार वाणिज्य की प्रगति के साथ ही इस युग में कला के क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास हुआ । कनिष्क के काल में मथुरा और गन्धार नामक दो मूर्तिकला के विख्यात केन्द्रों ने अभूतपूर्व प्रगति की । उसके काल में ही सर्वप्रथम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण मथुरा केन्द्र में किया गया ।

सामान्यत प्रथम शताब्दी ईसवी से पाचवी शताब्दी ईसवी तक अफगानिस्तान पश्चिमोत्तर भारत पजाब और आधुनिक पाकिस्तान में निर्मित होने वाले वास्तु मूर्ति और चित्रशिल्प के उदाहरणों को समग्र रूप से कुषाण कला नाम दिया जा सकता है । कुषाण शासक साहित्य एव कला के महान सरक्षक थ । उन्होंने विहारों स्तूपों चैत्यों मन्दिरों और नगरों का निर्माण किया । उन्होंने भवनों को चित्रों और मूर्तियों से अलकृत करने के लिए भारतीय एव विदेशी मूल के कलाकारों को नियुक्त किया। कुषाण कला को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है —गन्धार कला और मथुरा कला । गन्धार सहित उत्तरी क्षेत्रों में बौद्धधर्म को समर्पित कला के विकास हेतु कुषाणों ने विदेशी कलाकारों की सेवाओं का उपयोग किया । कुषाणयुगीन मथुरा में कलाकार ने स्वदेशी कला तकनीक का उपयोग करते हुए जैन और बौद्ध कला के परिवर्द्धन एव अलकरण में योगदान दिया ।

मूर्ति शिल्प का मथुरा केन्द्र— कुषाण काल में मथुरा मूर्ति निर्माण के महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध था । कुषाणों के सरक्षण में प्रथम शताब्दी ईसवी में मथुरा में विशुद्ध भारतीय कलात्मक गतिविधि एक आकस्मिक घटना नहीं थी । स्थूलत मथुरा कला को मूर्ति विज्ञान सम्बन्धी कुछ नवीन परिवर्तन के साथ (बुद्ध बोधिसत्त्व एव जैन तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण जिसके प्रमुख तत्त्व माने जाते है) भरहुत साची की प्राचीन भारतीय कला का ही अधिक विकास माना जा सकता है । मथुरा में भरहुत और साची के विपरीत बुद्ध के प्रतीकों के स्थान पर स्वय बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया गया है । मथुरा कला की समृद्धि और वैभव का काल प्रथम से तृतीय शती ईसवी तक माना जाता है । इस केन्द्र में प्रतिमा निर्माण की प्रक्रिया इसके पश्चात भी सातवीं शताब्दी तक चलती रही । उत्तरी भारत की राजनैतिक सत्ता के कुषाणवशी शासकों के हाथों में केन्द्रित होने के साथ ही एक बहुफलवती शिल्प कला केन्द्र के रूप में मथुरा की ख्याति स्थापित हो चुकी थी । यद्यपि कुषाण काल में उत्कृष्ट मूर्ति

निमाण के कन्द्र के रूप में मथुरा ने ख्याति अर्जित करली थी परन्तु इसके पूर्व लोक कला से सम्बद्ध विशालकाय परखम सरीखी प्रतिमाओं का मौर्य शुग युग में निर्माण करके मथुरा का शिल्पी अपने शिल्प कौशल का परिचय दे चुका था । मथुरा एक ऐसा केन्द्र था जहाँ ब्राह्मण जैन एव बौद्ध तीनों ही धर्मो की प्रगति समान रूप से शताब्दियों तक होती रही । इस केन्द्र में बुद्ध बाधिसत्व यक्ष नाग आदि की मूर्तियों का निमाण व्यापक मात्रा में किया गया। भारत के विभिन्न भू भागों को इस केन्द्र से मूर्तियों का निर्यात किया जाता था । सारनाथ कौशाम्बी श्रावस्ती साची वैराट अहिच्छत्रा पजाब बगाल आदि स्थलों से मथुरा के लाल चकत्तेदार पत्थर की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है । मथुरा में स्थापत्य एव मूर्ति शिल्प का समन्वय देखने को मिलता है । चूकि यह उक्त तीनों धर्मो का तीर्थ स्थल था अत वहाँ जैन व बौद्ध स्तूपों का निर्माण होने के साथ ही ब्राह्मणधर्म से सम्बद्ध देवायतनों का निर्माण भी किया गया । इस केन्द्र में हजारों मूर्तियाँ निर्मित हुई । यहाँ की मूर्तियाँ एक विशेष प्रकार के बालुकाश्म से बनती थी जो सीकरी आदि स्थानों मे निकाला जाता था । मथुरा से प्राप्त होने वाले लगभग पाच हजार कला एव शिल्प के उदाहरणों में से अधिकाश कुषाणयुगीन है[1] ।

कला के वर्ण्य विषय और तकनीक — मथुरा की कुषाणकालीन कला का परिष्कृत रूप कला के क्षेत्र में दीर्घकालिक अभ्यास की आर सकेत करता है । यहाँ के कलाकार ने भरहुत और साची की कला से प्रेरणा ग्रहण की । उसने अपनी मौलिक सूझ–बूझ एव रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग करते हुए वहाँ की कला के प्रतीकों अभिप्रायों एव प्रतिमानों को नवीन रूप प्रदान किया । कला के क्षेत्र में कलाकार ने पुरातन कठोरता एव रूढिवादिता की परम्परा का परित्याग कर दिया । उसने पूर्वाग्रहों को तिलाजलि देकर स्वतत्र मन से कला साधना की । कलाकृति में प्रभावोत्पादकता और सौन्दर्य की अभिवृद्धि के उद्देश्य से कलाकार ने अनेक अभिनव प्रयोग किए। मुक्त हस्त होकर धार्मिक एव विविध सास्कृतिक दृश्यों को शिल्पाकित और अलकृत किया। यहाँ के मूर्तिकार ने नर–नारियों का अनेक मुद्राओं में प्रतिमाओं का निर्माण किया । उसने मूर्तियों के सम्मुख दर्शन का आग्रह त्याग दिया। मथुरा कला शैली की एक महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी मौलिकता एव विविधता । यहाँ के शिल्पियों ने आगामी युगों के लिए कुछ मौलिक रचनाएँ कर दिखाई । मथुरा के शिल्पी ने बुद्ध को सबसे पहले मानव रूप में शिल्पाकित करके बौद्ध कला की महान सेवा की ।

मथुरा की कुषाण कला में विषय गत वैविध्य दिखाई देता है । कलाकार ने बौद्ध और जैन धर्मों के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म से प्रचुर मात्रा में विषयों का चयन किया है। जैन तीर्थकरों बुद्ध और बोधिसत्वों की अनक मुद्राओं में मूर्तियों निर्मित की गई । ब्राह्मण धर्म के शिल्पाक्ति देवी देवताओं में शिव कृष्ण तथा देवी का उल्लेख किया जा सकता है । विष्णु सूर्य कार्तिकेय लक्ष्मी दुर्गा सप्तमातृकाओं आदि की प्राचीन प्रतिमाएँ मथुरा से ही प्राप्त होती हैं । भागवत धर्म का केन्द्र हान क कारण इस स्थल में ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित प्रतिमाओं का निर्माण होना स्वाभाविक था । मथुरा के शिल्पी का ध्यान आकृष्ट करने वाले अन्य विषयों में यक्ष यक्षी नाग-नागी हारीती महिषासुरमर्दिनी भद्रा गज लक्ष्मी श्रीलक्ष्मी वसुन्धारा आदि की गणना की जा सकती है। शिल्पी के वर्ण्य विषयों में नारी प्रतिमाओं का बाहुल्य है । अनेक स्थानों से प्राप्त होने वाली जैन और बौद्ध वेदिकाओं के स्तम्भों

1 मथुरा कला के अवशेष तक्षशिला से भी प्रकाश म आये हैं । मथुरा की 'उत्तर–कुषाण प्रकार' की प्रतिमाएँ मध्यएशिया और चीन स भी प्राप्त हुयी हैं । सदर्भ के लिए देखिए कुमारस्वामी पूर्वोक्त, पृ० 60 पाद टिप्पणी 1

में शाल भजिकाओं (वृक्षका) की लावण्यमयी प्रतिमाएँ निर्मित की गई है। उद्यानक्रीडा सलिल क्रीडा (जलक्रीडा) नृत्य में रत नर नारी आपान गोष्ठी आदि के दृश्यों का भी शिल्पाकन किया गया है । मथुरा कला का विषय विस्तार कुषाण नरेशों की अधूरी और भग्न प्रतिमाओं के निर्माण में भा देखा जा सकता है । इन प्रतिमाओं को देवकुल नाम दिया जाता है । मथुरा के निकट (9 मील दूर) माट गाँव से प्राप्त देवकुल में वम कनिष्क और चष्टन की मूर्तियाँ मिली है । मथुरा केन्द्र में निर्मित प्रतिमाओं की अपनी विशिष्ट शैली है । यहाँ की बुद्ध मूर्तियों को गन्धार की नकल नही कहा जा सकता । कुमारस्वामी आदि कुछ विद्वान उत्तरवर्ती कुषाण प्रकार की प्रतिमाओं में उभरने वाली गधार शैली की कुछ विशेषताओं की ओर इगित करते हैं । यवन प्रभाव की ओर सकेत करने वाली मथुरा प्रतिमाओं की कुल सख्या बहुत ही कम है। दोनों ही केन्द्रों में विषय साम्य होने के कारण मथुरा की प्रारभिक बुद्ध एव जिन प्रतिमाओं तथा गन्धार की बुद्ध बोधिसत्व मूर्तियों के मध्य बहुत अधिक अन्तर की कल्पना करना कठिन है ।[2] विविध विषयों के शिल्पाकन में यहाँ के शिल्पी ने जो मानक (स्टेंडर्ड) तथा प्रतिमान (आइडियल) प्रस्तुत किये उनसे कालान्तर के मूर्तिकार ने कला साधना के लिए दीर्घकाल तक प्रेरणा ग्रहण की ।

मथुरा की बौद्ध कला — कला में जिन विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित विषयों की प्रधानता है उनमें बौद्ध धर्म का उल्लेखनीय स्थान है । इस केन्द्र में बौद्ध वास्तु और मूर्ति शिल्प दोनों के ही उदाहरण मिलते हैं । भरहुत और साची के विपरीत इस केन्द्र में प्रतीकों का स्थान बुद्ध और बोधिसत्वों की सुन्दर प्रतिमाओं ने ले लिया । शिल्पियों द्वारा मथुरा में बौद्ध स्तूपों के निर्माण की पूर्वकालिक परम्परा का निर्वाह किया गया है । भूतेश्वर और एक अन्य स्थल से प्राप्त (वर्तमान कचहरी के पास) अवशेषों से यहाँ दो स्तूपों के अस्तित्व में होने के सकेत मिलते हैं । दुर्भाग्य से अब पुरातन स्तूपों का भौतिक रूप में अस्तित्व नहीं रहा । यहाँ से दोनों ही स्तूपों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री प्राप्त हुई है । मथुरा के अनेक स्तूपों का उल्लेख चीनी यात्री फाहियान और श्वान–च्वाड दोनों ने किया है । यह स्तूप सारिपुत्र उपालि आनन्द आदि बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के थे । वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यहाँ के स्तूपों का निर्माण अशोक के काल में हुआ प्रतीत होता है । अशोक के गुरू उपगुप्त मथुरा में रहते थे ।

मथुरा में बुद्ध बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का निर्माण प्रचुरमात्रा में किया गया । यहाँ निर्मित प्रतिमाएँ खडी एव बैठी दोनों ही प्रकार की है । पर्यंकबद्ध (क्रासलेग्ड) बुद्ध की प्रारभिक प्रतिमाओं में मथुरा सग्रहालय में सुरक्षित कटरा से प्राप्त प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है (चित्र– 56) । यहाँ की अन्य प्रारभिक खडी बुद्ध मूर्तियों में सारनाथ से प्राप्त आदमकद प्रतिमा का जिक्र किया जा सकता है । बल नामक भिक्षु द्वारा समर्पित यह प्रतिमा कनिष्क के शासन के तृतीय वर्ष की है । इस मूर्ति में प्रयुक्त पारदर्शक वस्त्र के मोड आरेखीय (स्केमैटिक) हैं । यह विशाल प्रतिमा कमर तक नग्न और धोती पहने चित्रित का गई है । इसी कारण इसके बोधिसत्व प्रतिमा होने की अधिक सम्भावना है । उक्त मूर्ति तथा उस वर्ग की अन्य मूर्तियों की विशाल काया अनुपात भार वस्त्र आदि विशेषताएँ उनका सम्बन्ध मौर्ययुगीन विशाल यक्ष मूर्तियों के साथ जोडती हैं । मथुरा केन्द्र की कुषाणयुगीन अन्य मूर्तियों में श्रावस्ती के जेतवन से प्राप्त बोधिसत्व की खडी प्रतिमा कमर से उपर तक की बैठी मुद्रा में

2. कुमारस्वामी, पूर्वोक्त पृ० 60

चित्र–56 कटरा से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा

निर्मित मूर्ति जो अब लुप्त हो गई पाटलिपुत्र से प्राप्त बोधिसत्व मूर्तियों के अन्य खण्डित भाग और राजगृह तथा साची से प्राप्त बुद्ध-बोधिसत्वों की मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है ।

कुषाण कालीन बौद्ध मूर्तियों के लक्षण — कुषाणयुगीन बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तियों की कुछ चारित्रिक विशेषताएँ हैं जो उन्हें गन्धार की समकालिक प्रतिमाओं से भिन्न दर्शाती है (1) मथुरा केन्द्र की मूर्तियाँ गोलाई में निर्मित है (2) अधिक उभार युक्त (हाइ रिलीफ) मूर्तियों का निर्माण सीकरी और रूपवास के चित्तीदार लाल बालुकाश्म (मॉटल्ड रेड सैंडस्टोन) से किया गया है (3) प्रतिमाओं के शीर्ष केशरहित है (4) बाल घुघराले कदापि नहीं है (5) उष्णीष कुडलित (कॉइल्ड) है (6) ऊर्णा (भवों के मध्य का केशपुज) और मूँछे नहीं हैं (7) दाहिना हाथ अभयमुद्रा में और बाया हाथ प्राय (बन्द मुट्ठी युक्त) जघा पर अथवा धोती के मोडों (फोल्ड) को छूता हुआ अकित है । प्रारंभिक कुषाण मूर्तियों में अभयमुद्रा में दाहिने हाथ की हथेली कभी–कभी सामने की ओर (परिवृत्त) न होकर मूर्ति की एक ओर को (व्यावृत्त) अकित की गईहै (8) वक्षस्थल पौरुषेय होने के बावजूद स्पष्टत उभारयुक्त हैं (9) कधे चौडे हैं (10) वस्त्र के मोड आरेखीय (स्केमैटिक) हैं (11) प्रतिमाओं में दाहिना कधा खुला अथवा वस्त्ररहित अकित है (12) आसन हमेशा सिंहासन है कमलासन नहीं (13) खडी प्रतिमाओं में पैरों के मध्य सिंह अकित है (14) मूर्तियाँ प्रचुर बल का आभास देने वाली हैं और (15) आभा मण्डल (निम्बस) प्राय सादा है ।

लखनऊ सग्रहालय की पार्श्वनाथ मूर्ति जैसी प्रारंभिक कुषाणु युग की जिन मूर्तियों पर भी उक्त सभी विशेषताएँ लागू होती हैं । इनमें से अधिकाश विशेषताएँ गधार की प्रतिमाओं पर लागू नहीं होती। मथुरा की प्रारंभिक कुषाण युगीन मूर्तियों को पूर्वकालिक यक्ष प्रतिमाओं की अनवरत परम्परा से ही जोडा जा सकता है । वोगेल ने उक्त प्रकार की मूर्तियों के लिए ही कहा था कि गन्धार की ज्ञात मूर्तियों के किसी वर्ग से इनकी उत्पत्ति नही हुई । उसने मात्र इनके लबादे (रोब) तथा आभामण्डल (निम्बस) के विदेशी मूल का सुझाव दिया था । कुमार स्वामी न उक्त सुझाव का विरोध करते हुए कहा कि आभामण्ण्ल की उत्पत्ति सूर्य पूजा के क्षेत्र की परिधि से बाहर हुई होगी यह विश्वास करना कठिन है । इसकी उत्पत्ति भारत में हुई । चक्रवर्ती का प्रतीक चक्र विष्णु का सुदर्शन चक्र तथा बौद्ध धर्म का धर्मचक्र मूलत सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है । अग्नि कुण्ड क पीछे रखे जाने वाले सूर्य के प्रतिनिधि स्वर्ण चक्र से ही कालान्तर के प्रभामण्डल (शिरशचक्र) की उत्पत्ति हुई [3] । यद्यपि मथुरा की प्रारंभिक कुषाण प्रतिमाओं पर गन्धार की मूर्तिकला का कोई प्रभाव नहीं है तथापि उत्तरवर्ती कुषाण प्रकार की प्रतिमाओं में विद्यमान गधार की कला की कुछ विशेषताओं की ओर सकेत किया गया है । वास्तविक गधार मूर्ति के एक मात्र उदाहरण जो मथुरा से प्राप्त हुआ के रूप में स्वात घाटी के नीले स्लेटी पत्थर द्वारा निर्मित पश्चातकालीन हारीती की मूर्ति ('बुधिस्ट मेडोना') की गणना की जा सकती है । हारीती को पचिक (कुबेर) की पत्नी माना जाता है । शैली की दृष्टि से भारतीय किन्तु विषय की दृष्टि से पाश्चात्य लगने वाले वर्ग की मूर्तियों में हेराक्लीज तथा मद्यपानोत्सव (बैक्नेलियन सीन) के दृश्यों का उल्लेख किया जा सकता है ।

कला म ब्राह्मण देवी-देवताओं का प्रतिमाकन — मथुरा केन्द्र में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त जिन

3. कुमार स्वामी, पूर्वाक्त, पृ० 41 भारत में हरमेयस एव मोएस के सिक्को में सर्वप्रथम इसका अकन हुआ है (वही, पृ० 57 पर टिप्पणी 1) ।

घसत्व की मूर्ति, गधार कला चित्र–61

बोस्टन सग्रहालय

नीमिया के सिंह से मल्लयुद्ध
हेराक्लीज चित्र–62
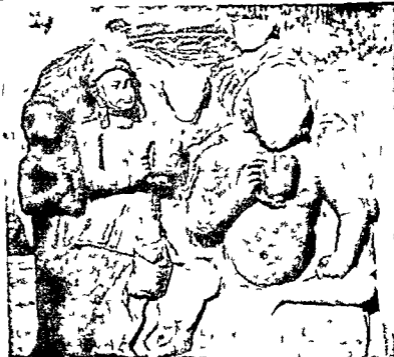
यक्ष कुबेर मद्यपान पालिखेरा, मथुरा चित्र–63

आपानगोष्ठी जीयस के गरुड द्वारा गेनीमीडी का हरण मालाधारी देवों का अलकरण चेहरे पर मूछें छाती पर ताबीज युक्त रक्षासूत्र तथा पैरों में यूनानी प्रकार की चप्पलें आदि विदेशी प्रभाव की ओर सकेत करने वाले सूत्रों का उल्लेख किया जा सकता है।

मथुरा कला में नाग और यक्ष नामक लोक देवों की पर्याप्त प्रतिमाओं का निर्माण किया गया । नाग को ऐसे मानव रूप में उत्कीर्ण किया गया है जिसके कन्धों से जुडे हुए फण शिर के उपर तक दर्शाये गये हैं । नाग मूर्तियों का उत्कृष्टतम उदाहरण कुषाण शासक हुविष्क के चालीसवें वर्ष की लगभग आदमकद प्रतिमा को माना जा सकता है जो सम्प्रति मथुरा सग्रहालय में है । गुप्तकाल में भी साची और मथुरा में नाग देवों की मूर्तियों के निर्माण का क्रम जारी रहा । नागों की उपासना झील तालाबों में निवास करने वाली विनाशक और लाभकारी जलशक्ति के रूप में होती थी । ऐसा लगता है कि मथुरा में प्रचलित बलराम की पूजा के साथ ही नागपूजा का मेल हो गया । बलराम के एक हाथ में गदा दूसरे में पानपात्र गले में वनमाला तथा शिर के उपर तक फणाटोप चित्रित है ।

मथुरा में नागदेवों के अतिरिक्त यक्षदेवों की भी कुषाण युग में मूर्तियाँ निर्मित हुई । यहाँ मौर्य युग से ही यक्ष पूजा के प्रमाण मिलते (परखम यक्ष) हैं । यक्ष प्राय विशालकाय एव घटोदर चित्रित किया गया है । यक्ष प्रतिमाओं का कुषाणयुगीन सस्करण कुबेर मूर्तियों में देखा जा सकता है । कुबेर पूजा पर यूनानी हुडदग भरी बाकस पूजा का प्रभाव पडा । कुबेर की आपान गोष्ठी वाली अनेक मूर्तियाँ यहाँ निर्मित हुई । इसके अतिरिक्त वैश्रवण कुबेर की किंकर या गुह्यक मुद्रा में (हाथों को भार उठाने की खडा मुद्रा में) भी प्रतिमाएँ प्राप्त हुयी हैं । प्रारभिक शैली की किंकर मूर्तियों को हाथ में दान पात्र थैली गले में स्वर्णनिर्मित कठ तथा घटोदर चित्रित करके कुषाणयुगीन मथुरा के कुबेर की प्रतिमा का निजी रूप दे दिया गया है । मथुरा जिले के पालिखेरा नरोली तथा महोली (मधुपल्ली) ग्रामों से कुबेर की पानगोष्ठी वाली मूर्तियाँ प्राप्त हुई है (चित्र – 63) ।

मथुरा की मूर्तिकला का एक रोचक पक्ष नगर से 9 मील दूर माट गाँव से प्राप्त देवकुल[5] प्रतिमाएँ हैं । यहा से वेम कनिष्क तथा चष्टन की भग्न मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं । कुषाण शासकों का देवकुल स्थापना की परम्परा से परिचय सम्भवत मध्य एशिया में ही स्थापित हो चुका था । कुषाण सम्राट वेम की सिंहासन पर बैठी शीर्षविहीन भव्य मूर्ति 6 फुट 10 इच ऊँची है । प्रतिमा में उत्कीर्ण लेख में उसे महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाणपुत्र शाहि वेम तक्षम कहा गया है । उसे टागों में सलवार शरीर पर चोगेनुमा वस्त्र तथा पैरों में विशेषप्रकार के मोटे जूतों सहित अकित किया गया है (चित्र– 64) ।

देवकुल की शीर्ष रहित अन्य 5 फुट 7 1/2 इच ऊँची प्रतिमा देवपुत्र कनिष्क की है (चित्र –65) । खडी प्रतिमा में राजा को घुटनों से नीचे तक लम्बा कोट पहनाये अकित किया गया है । पैरों में वेम जैसे मोटे जूते हैं । राजा का बाया हाथ तलवार की मूठ पर तथा दाया हाथ 3 फुट 5 इच ऊंची गदा की मूठ पर (जिसका एक सिरा भूमि पर टिका है) रखा है । माट से प्राप्त अन्य मूर्ति उज्जयिनी के शासक चष्टन की है जिसका मस्तक और पैर खण्डित है । उसको भी गोटदार लम्बे कोट तथा

५. भास के प्रतिमा नाटक में इक्ष्वाकुवशी देवकुल का उल्लेख हुआ है । ख्वारिज्म के तोपर काला नामक स्थान से भी सम्राटों की मूर्तियों का देवकुल प्राप्त हुआ है जो मथुरा के माट देवकुल से बड़ा था । यह क्षेत्र कनिष्क के अधीन था ।

कुषाण शासक वेम की मूर्ति

(माट देवकुल,मथुरा)

चित्र—64

कुषाण शासक कनिष्क की मूर्ति

(माट देवकुल,मथुरा)

चित्र—65
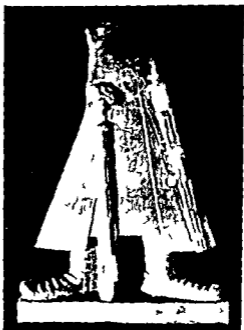
अधोभाग में सलवार पहने अंकित किया गया है ।यहाँ से और भी कुछ खण्डित प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थी ।

मथुरा से कुछ शक और कुषाण विशेषताओं वाले मस्तक भी प्राप्त हुए हैं । इनमें कुछ के सिर पर मुडे हुए सींगों से सज्जित टोप हैं ।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि मथुरा कुषाण काल का एक विकसित मूर्तिकला केन्द्र था । यह केन्द्र गन्धार कला केन्द्र का समकालिक था । बुद्ध प्रतिमा का सर्वप्रथम निर्माण केन्द्र की सर्वोच्च उपलब्धि थी । यहाँ जैन बौद्ध तथा ब्राह्मण तीनों हो धर्मों के कला केन्द्र थे । मथुरा में प्रतिमा निर्माण की दीर्घकालिक परम्परा परखम यक्ष से प्रमाणित होती है । यह एक बहुफलवती केन्द्र था जहाँ से मूर्तियाँ विभिन्न क्षेत्रों में भेजी जाती थी । यहाँ की कला भरहुत साची की बौद्ध कला से प्रेरित थी । कलाकारों ने शालभजिका सरीखे अभिप्राय को अपनाया । यह जैनकला के प्राचीनतम उदाहरणों से सम्बद्ध केन्द्र था । मथुरा का शिल्पी और उसकी कला रूढियों एव पूर्वाग्रहों से मुक्त थी । यहाँ की कला में मौलिकता एव विविधता के अतिरिक्त रचना कौशल दिखाई देता है । कला में धार्मिक विषयों का प्राधान्य है । इस केन्द्र में तीर्थंकरों बुद्ध-बोधिसत्त्वों के अतिरिक्त कुषाण एव शक राजाओं की भव्य मूर्तियाँ निर्मित की गई । नारी का विविध प्रकार की लावण्यमयी मुद्राओं में अकन किया गया है। शिव विष्णु सूर्य लक्ष्मी दुर्गा आदि ब्राह्मण धर्म के देवताओं के अतिरिक्त नाग और यक्ष नामक लोक देवों की भी मूर्तियाँ यहाँ निर्मित की गयी । कुषाणकालीन बौद्ध प्रतिमाओं के निर्माण के लिए मथुरा के शिल्पी ने पूर्वकालिक यक्ष मूर्तियों को अपना मानक स्वीकार किया । उत्तरवर्ती कुषाण प्रकार की कुछ मूर्तियाँ गधारकला से प्रभावित लगती हैं यथा हारीती हेराक्लीज तथा मद्यपानोत्सव दृश्य (बैक्नेलियनसीन) । कुषाण युगीन मथुरा की बुद्ध प्रतिमा (कनिष्क के तृतीय वर्ष में भिक्षु बल द्वारा समर्पित) (चित्र-66) की कान्तियुक्त मुखाकृति मधुर मुस्कान खुली आखें आदि उल्लेखनीय विशेषताएँ है । वह गन्धार बुद्ध की भाति निर्जीव (वैपिड) नही लगती ।

बुद्ध प्रतिमा के उदय का विवादग्रस्त प्रश्न — भारतीय कला के इतिहास में बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी । बौद्ध धर्म मूलत मूर्तिपूजक नहीं था । ईसा पूर्व की शताब्दियों में निर्मित भरहुत साची तथा पश्चिमी भारत के बौद्ध स्मारकों में कहीं भी बुद्ध की प्रतिमा निर्मित नहीं की गई । सर्वत्र बुद्ध की उपस्थिति बताने के लिए धर्मचक्र स्तूप हाथी बोधिवृक्ष भिक्षापात्र चूडा (हेड ड्रेस) आदि प्रतीकों को ही अंकित किया गया है । इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारतीय कलाकार बुद्ध की प्रतिमा के निर्माण की योग्यता अथवा क्षमता नहीं रखते थे । कुषाण युग से पहले मौर्य-शुग युग में ही कलाकार ने प्रतिमाओं का निर्माण करके अपनी क्षमता एव हस्त कौशल का परिचय दे दिया था । अभी तक बुद्ध की मूर्ति का निर्माण धार्मिक कारणों से नही किया गया मौर्य-शुग युग में बौद्ध धर्म के हीनयान मत का ही वर्चस्व था । हीनयान मत बुद्ध के प्रतिमाकन व समर्थक नहीं था । इसी कारण भरहुत-साची तथा पश्चिमी भारत के अनेक प्राचीन गुहा स्मारकों बुद्ध की मूर्ति के स्थान पर सुपरिचित प्रतीकों का ही प्रयोग किया गया । कुषाण युग में महायान म का महत्त्व बढ गया । बौद्ध धर्म के महायान मत की दृष्टि अपेक्षया अधिक उदार समन्वयवादी एव ग्रहणशील थी । मौर्येतर युग में भागवत धर्म का उत्कर्ष बौद्धधर्म की प्रगति के मार्ग में प्रबल अवरोध बन गया । नवीन परिस्थिति में बौद्धधर्म की प्रतिस्पर्धात्मक प्रगति तथा धर्म को व्यापक एव लोकप्रिय बनाने के लिए भागवत धर्म की मूर्तिपूजक परम्परा को ग्रहण करने की आवश्यकता हुई ।

चित्र–66 भिक्षुबल द्वारा प्रदत्त

बौद्ध जन मानस का भी प्रतीक पूजा की अपेक्षा बुद्ध के मानुषी रूप के प्रति आकर्षण नितान्त स्वाभाविक था । बुद्ध की मूर्ति निर्माण की चाह तथा क्षमता दोनों ही अनुकूल बातें होने के बावजूद अपेक्षित प्रबल राजनीतिक सरक्षण के अभाव में बुद्ध प्रतिमा का निर्माण सभव नहीं था । बुद्ध की प्रतिमा के निर्माण का निश्चय एक गभीर कदम था । कुषाण शासक कनिष्क ने राजनीतिक कारणों[6] से यह गभीर कदम उठाकर बुद्ध की प्रतिमा निर्माण के मार्ग को प्रशस्त कर दिया ।

बुद्धमूर्ति सर्वप्रथम गधार मे बनी अथवा मथुरा में ?— गधार और मथुरा दोनों ही मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्रों को स्थूलत समकालिक माना जाता है । दोनों ही केन्द्रों में बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का निर्माण व्यापक रूप से किया गया । दोनों केन्द्रों में किसी सीमा तक कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में आदान–प्रदान भी हुआ । गधार केन्द्र के कुछ प्रतीकों तथा अभिप्रायों (नीमिया सिंह और हेराक्लीज तथा बाकस के मद्यपानोत्सव के दृश्य) का अकन मथुरा के शिल्पी ने किया । इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी तथा वृक्षका अभिप्राय को गधार के शिल्पी ने भी अपनाया। इन सबके होते हुए भी विद्वानों के मध्य बुद्ध की मूर्ति के प्रथम निर्माण स्थल को लेकर मतैक्य नहीं है । कुछ पाश्चात्य विद्वानों न गधार को यह श्रेय दिया है किन्तु कुछ अन्य विद्वान मथुरा को प्रथम बुद्ध मूर्ति के निर्माण स्थल के रूप में स्वीकार करते हैं ।

फुशे नामक विद्वान ने सर्वप्रथम बुद्ध मूर्ति के यूनानी मूल का अभिमत रखा था । तत्पश्चात अनेक विद्वानों ने उस विचार का समर्थन किया । पर्सी ब्राउन ने भी कुछ ऐसा ही विचार व्यक्त किया । उसके अनुसार गधार केन्द्र ने बौद्धों को प्रतीकों के स्थान पर यूनानी मानकों पर आधारित बुद्ध की मूर्ति प्रस्तुत की ।[7] फुशे के मत का समर्थन करने वाले अन्य पश्चिमी विद्वानों में बेंजामिन रोलैण्ड का नाम लिया जा सकता है । उसके मत में निसन्देह रोमन साम्राज्य के पूर्वी केन्द्रों से लाये गये विदेशी कलाकारों द्वारा ही पेशावर घाटी में बौद्ध मूर्तियों का सर्वप्रथम निर्माण किया गया ।[8] बुकथल ने भी प्रथम बुद्ध प्रतिमा पर रोमक प्रभाव की बात पर बल दिया था । मार्शल तथा स्मिथ भी गन्धार केन्द्र को ही बुद्ध प्रतिमा के प्रथमत निर्माण का श्रेय देते हैं ।

आनन्द केंटिश कुमारस्वामी ने फुशे के मत का खण्डन किया है । उनके अनुसार फुशे आदि के मत का कोई ठोस आधार नहीं है । यूनानी मूर्ति विज्ञान तथा मूर्ति गढन सम्बन्धी आशिक तत्वों ने बौद्ध मूर्ति कला में प्रवेश किया जिन्हें भारतीय कला ने आत्मसात कर लिया । इसके विस्तार और

---

6 बेंजामिन रोलैण्ड के अनुसार (पूर्वोक्त पृ० 125 पाद टिप्पणी 7) भारत में कुषाणों की स्थिति तथा उनके द्वारा अपनाई गयी नीति चौथी शती ईसवी में उत्तरी चीन के विजेता टोपा तातारों से तुलनीय है । इन आक्रान्ताओं ने चीन के राष्ट्रीय धर्मों से अलग रहते हुए बौद्ध धर्म का प्रबल समर्थन किया तथा अपने धार्मिक स्थलों को अलकृत करने के लिए तुर्किस्तान से कलाकारों को बुलाया । विदेशी होने के कारण कुषाणों को हिन्दू धर्म में स्वीकार नहीं किया जा सकता था । अत इन्होंने विजित क्षेत्रों में अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए विदेशी कलाकारों तथा बौद्ध धर्म को सरक्षण दिया । रोलैण्ड के उक्त विचार को तथ्य सगत नहीं कहा जा सकता क्योंकि कुषाण शासक वेम को माहेश्वर (शैव) कहा गया है । उसके सिक्को में शिव की आकृति उत्कीर्ण है ।

7 पर्सी ब्राउन पूर्वोक्त (1983 सस्करण) पृ० 31

8 बेंजामिन रोलैण्ड, पूर्वोक्त (पेपर बैक 1970 सस्करण) पृ० 125–126 उसके अनुसार बुद्ध के मानवरूप में प्रतिनिधित्व का श्रेय सामान्यतः गन्धार केन्द्र को दिया जाता है । सम्भवतः शाक्यमुनि का मानव रूप में चित्रण कनिष्क के काल में हुई बौद्ध सगीति के समय उदित होने वाले भक्ति परक बौद्ध सम्प्रदायों से सम्बद्ध था ।

महत्व के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न धारणाएँ हो सकती हैं। वस्तुत इसका महत्व नगण्य है मात्र ऐतिहासिक है सौन्दर्यगत नहीं । मथुरा मूर्तियों के द्वितीय से पाचवी शती तक व्यापक क्षेत्र में विस्तार को देखते हुए यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि मूर्ति शिल्प की गुप्त शैली कुषाणकालीन विख्यात मथुरा शैली से ही उदभूत हुई । सारनाथ की बुद्ध मूर्ति के सम्बन्ध में स्मिथ के इस कथन का कि यह गन्धार कन्द्र स पूर्णत स्वतत्र है अपन आपमें बहुत अधिक महत्व है । इसी प्रकार मार्शल ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि यूनानी कला की भारत पर पकड कभी भी वास्तविक एव स्थाई नहीं थी ।[9] अत यह कहा जा सकता है कि मथुरा की बुद्ध प्रतिमा का निर्माण बिना किसी यूनानी आदि रूप (प्राटोटाइप) के किया गया है ।

गन्धार केन्द्र के स्थान पर बुद्ध मूर्ति के सर्वप्रथम निर्माण का श्रेय मथुरा केन्द्र को प्रदान करने के पक्षधर अन्य विद्वानों में वासुदेवशरण अग्रवाल का नाम लिया जा सकता है । उन्होंने भक्ति प्रधान भागवत धर्म के प्रथम शती इ पूर्व में मथुरा में अस्तित्व में हान की बात का रेखाकित किया है। शक राजा पोडाश के अभिलेखों में पाच वृष्णिवीरों[10] (मारा ग्राम के कुएँ से प्राप्त लेख) के उल्लेख तथा सकर्षण और वासुदव क एक महास्थान के (सिरदल लेख) सदर्भ आदि को अपने कथन की पुष्टि के रूप में परिगणित किया है । चित्तौड के निकट आधुनिक नागरी (प्राचीन मध्यमिका) के घोसुडी वेदिका लेख में सकर्षण और वासुदेव का सर्वेश्वर के रूप में उल्लेख तथा यूनानी राजदूत हेलियोदोर के बसनगर लख में भी वासुदव का पूजा की चर्चा भागवत धर्म क व्यापक क्षत्र में प्रसार क अतिरिक्त प्रमाण है ।

मथुरा और आस पास के व्यापक क्षेत्र में मूर्ति पूजक (जुनसुटी ग्राम से प्राप्त बलराम की शुगयुगीन मूर्ति) भागवत धर्म के अस्तित्व ने बौद्धधर्मावलम्बियों की प्रतीक के स्थान पर बुद्ध प्रतिमा पूजा की भावना को प्रेरित और प्रोत्साहित किया । इसके अतिरिक्त बौद्धधर्म की प्रतीक पूजा की परम्परा मथुरा के आसपास के क्षेत्र में पहले से ही विद्यमान थी । मूर्ति और प्रतीक के सम्बन्ध में मथुरा सरीखी जागृत चेतना गन्धार में कदापि नहीं थी । गन्धार से प्राप्त होने वाली सहस्रों प्रतिमाओं में से एक भी मार्शल क अनुसार तिथियुक्त नहीं है । वहाँ स कनिष्क क काल स पहल की बुद्ध और बोधिसत्व की कोई मूर्ति नहीं मिली । मोआ एजेस आदि के सिक्कों पर उत्कीर्ण आकृतियाँ बुद्ध की नहीं मानी जा सकती । धर्मचक्र चक्रवर्ती के आदर्श तथा महापुरुषों के 32 लक्षण आदि की अपेक्षित पृष्ठभूमि मथुरा में विद्यमान थी गधार में नहीं । कुषाण शासक कनिष्क द्वारा 30 स अधिक यूनानी ईरानी और ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवताओं के साथ बुद्ध की आकृति को सिक्कों में उत्कीर्ण किये जाने से बुद्ध की मूर्ति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो गया । सम्भवत बाधिसत्त्व की मूर्ति के निर्माण से इस प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ । इस प्रकार प्रतीक पूजा की बौद्ध परम्परा को बुद्ध मूर्ति के निर्माण ने पृष्ठभूमि में धकेल दिया । महायान सम्प्रदाय की लोकप्रियता बढाने में बुद्ध की प्रतिमा के निर्माण ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

बुद्ध मूर्ति के निर्माण में योगी और चक्रवर्ती के सम्मिलित आदर्शों का योगदान था । बुद्ध की

---

9 कुमारस्वामी पूर्वोक्त पृ० 74-75

10 वायुपुराण में बलराम कृष्ण प्रद्युम्न अनिरुद्ध और साम्ब नामक पाच वृष्णि वीरों के नाम गिनाये गये हैं । (अग्रवाल पूर्वोक्त द्वारा उद्धृत पृ० 285)

खडी एव बैठी दोनों ही प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया गया । खडी प्रतिमाओं का निर्माण यक्ष मूर्तियों तथा बैठी हुई प्रतिमाओं का योगी की मुद्रा के आधार पर किया गया है । बुद्ध प्रतिमा में चक्रवर्ती के आदर्श से छत्र एव चामरग्राही पार्श्वचर (ह्विस्क बेयरर) सरीखे लक्षणों को अपनाया गया। बुद्ध के मस्तक के पीछ प्रभामण्डल को एक आवश्यक लक्षण माना गया । घुटनों तक लम्बी भुजाएँ विशाल वक्ष चक्राकित हस्तपाद जालाङ्गुलि (बत्तख के पजों सरीखी अगुलिया) मस्तक के उपर उष्णीष (क्रेनियल प्रोटुबरेंस) ऊर्णा लम्बे सुन्दर कान आदि महापुरुषों के लक्षणों का अकन बुद्ध मूर्ति में किया गया है । इनमें स अधिकाश लक्षणों का अकन कटरा से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा में किया गया है । सम्पूर्ण स्थिति का अध्ययन करने पर अग्रवाल की धारणा में बुद्ध मूर्ति के उदय का प्रश्न गन्धार से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता । उनके विचार म बुद्ध की मूर्ति के उदय से सम्बन्धित तीन बातों का गान्धार में अभाव था —

1 मथुरा के समान गन्धार में भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि नही मिलती ।

2 कनिष्क क पूर्व गन्धार में न तो किसी सिक्के में और नहीं स्वतत्र रूप से बुद्ध का प्रतिमाकन हुआ है ।

3 बुद्ध मूर्ति के निर्माण में सहयागी तत्वों यथा चक्रवर्ती एव यागी के आदर्श का गन्धार की हेलेनिस्टिक परम्परा में न तो कोई स्थान था और नही उसकी पृष्ठभूमि । ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित जैन तीर्थंकरों तथा यूनानी एव ईरानी दवी देवताओं का सिक्कों में अकन गन्धार में अवश्य हुआ । किन्तु इनमें से कोई भी बुद्ध की मूर्ति निर्माण के लिए पूर्ण और आदर्श नहीं था । कुमारस्वामी वासुदेवशरण अग्रवाल एव काशीप्रसाद जायसवाल के अतिरिक्त हवल तथा स्टेला क्रमरिश न भी मार्शल आदि के मत को स्वीकार नहीं किया ।

मूर्तिशिल्प का गन्धार कन्द्र — साधारणत पश्चिमोत्तर भारत के गन्धार क्षेत्र में विकसित हाने वाली कला को गन्धार कला कहा जाता है । गन्धार क्षेत्र का विस्तार पेशावर जिले तथा उससे जुडे हुये भूखण्डों में था । जनरल कनिंघम ने गन्धार क्षेत्र की सीमाओं को रेखाकित करते हुए लिखा है कि इसके पूर्व में सिन्धु नदी तथा पश्चिम में लम्पाक (आधुनिक लघमान) एव नगरहार (जलालाबाद) के क्षेत्र थे । उत्तर में यह सुवास्तु (स्वात) की पर्वतमाला तथा दक्षिण में कालाबाग की पहाडी से घिरा था । स्पष्टत सिन्धु काबुल और स्वात नदियों की घाटियों से घिरा प्रदेश ही गन्धार का प्रदेश था । गधार क्षेत्र तथा वहाँ के लोगों का सर्वप्रथम अभिलेखीय सदर्भ एकेमेनियाई सम्राट डेरियस के बिसुतन अभिलेख (516 17 ई पूर्व) में मिलता है । यह लगान प्राप्ति की दृष्टि से फारसी साम्राज्य का सर्वाधिक समृद्ध प्रान्त माना जाता था । यह क्षेत्र व्यापार वाणिज्य की दृष्टि से भी उल्लेखनीय था । पश्चिमी एशिया चीन तथा पूर्वी भारत से आने वाले व्यापारिक मार्ग गन्धार क्षेत्र से जुड हुए थे । यहाँ विभिन्न देशों के लोगों और सस्कृतियों का राजनैतिक कारणों से सम्मिलन हुआ । कुषाण युग में गन्धार ने मूर्तिकला के एक विख्यात केन्द्र के रूप में ख्याति अर्जित की । इस क्षेत्र की मिश्रित सस्कृति का प्रभाव वहाँ विकसित होने वाली कला पर पडना स्वाभाविक था । यहाँ की मिश्रित सस्कृति एव कला के राजनैतिक धार्मिक एव व्यापारिक कारण थे ।

गधार कला की राजनैतिक एव सास्कृतिक पृष्ठभूमि — वैदिक वाङ्मय में गधार का उल्लेख

अनेकत्र हुआ है । ऋग्वेद अथर्ववेद शतपथ ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद गन्धार से परिचित प्रतीत होते हैं । अष्टाध्यायी एवं महाभारत में भी गन्धार के संदर्भ मिलते हैं । महाकाव्य शकुनि को गधार नरेश बताता है । मत्स्य एवं वायुपुराण में गधार के राजाओं को द्रुह्य का वंशज कहा गया है । अनेक बौद्ध जातक गधार क्षेत्र से परिचित है [11] । अगुत्तरनिकाय में उल्लिखित सोलह महाजनपदों की सूची में गधार का नाम भी सम्मिलित है । यह जनपद सिन्धु नदी द्वारा पूर्व गधार (जिसकी राजधानी तक्षशिला आधुनिक रावलपिण्डी जिले में थी) तथा पश्चिमी गन्धार (जिसकी राजधानी पुष्कलावती काबुल स्वात के सगम पर चारसद्दा में थी) नामक दो भागों में विभक्त था [12] । गन्धार नरेश पुक्कुसाति (पुष्करसारिन) मगध के राजा बिम्बिसार का समकालिक था । छठी शताब्दी ई पूर्व की द्वितीयार्द्ध में गन्धार का एकमनियाई साम्राज्य का अंग कहा गया है ।

गधार क्षेत्र पर लगभग दो सौ वर्ष तक (516-17 ई पूर्व से 327 ई पूर्व तक) फारसी सम्राटों का आधिपत्य रहा । इसके पश्चात सिकन्दर ने इस क्षेत्र पर यूनानी प्रभुत्व स्थापित किया । कुछ समय पश्चात सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस निकेटर को पराजित करने पर यह क्षेत्र चन्द्रगुप्त मौर्य को प्राप्त हो गया । लगभग एक सौ वर्ष तक गन्धार क्षेत्र पर मौर्यों का राजनैतिक प्रभुत्व बना रहा । इसके पश्चात् बाह्लीक यवनों शकों तथा कुषाणों ने इस क्षेत्र पर दीर्घकाल तक शासन किया । यहाँ ईरानी और यूनानी सस्कृतियों का मेल हुआ । सम्राट अशोक ने इस क्षेत्र को बौद्ध धर्म में परिवर्तित किया । मर्दान से 10 मील दूर शाहबाजगढी से प्राप्त होने वाले अशोकीय लेख से इसकी पुष्टि होती है । व्यापारियों ने भी गधार क्षेत्र की सस्कृति के मिश्रित स्वरूप के निर्माण में योग दिया । व्यापारिक कारणों से आने वाले श्रेष्ठी एव सार्थवाहों के साथ उनकी धार्मिक मान्यताओं तथा सामाजिक परम्पराओं का इस क्षेत्र की सस्कृति में प्रवेश सर्वथा स्वाभाविक था । यवन शक एव कुषाण राजाओं द्वारा समय समय पर जिन धर्मों एव सम्प्रदायों को सरक्षण दिया गया उनका भी प्रभाव यहाँ की सस्कृति पर पडा । गधार कला के विशिष्ट स्वरूप को उक्त मिली जुली सस्कृति की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है ।

गधार को उद्यान अथवा उड्डीयान स्वात देश भी कहा गया है । इस क्षेत्र का महत्व व्यापारिक कारणों से भी बहुत अधिक था । पूर्वी भारत में पाटलिपुत्र से काशी प्रयाग कौशाम्बी मथुरा साकल होते हुए तक्षशिला तक जाने वाला व्यापारिक मार्ग एशियाई व्यापार का मेरुदण्ड था । शाहबाजगढी होतीमर्दान, चारसद्दा तथा ओहिन्द (प्राचीन काल का उदभाण्ड) भी इस मार्ग से जुडे हुये थे । तक्षशिला अथवा भद्रशिला (रावलपिडी जिला) पुष्कलावती (चारसद्दा) नगरहार (जलालाबाद अफगानिस्तान) स्वातघाटी (पाकिस्तान) बामियान् (अफगानिस्तान) बाह्लीक (बैक्ट्रिया अफगानिस्तान) तथा कापिशी (बेग्राम अफ0) गन्धार कला के सात प्रसिद्ध केन्द्र थे ।

गन्धार कला का नाम स्वरूप एव तिथि– गधार क्षेत्र में विकसित होने वाली कुषाणयुगीन कला के महत्त्व की ओर विद्वानों का ध्यान 1870 ई में डॉ लिटनर (Leitner) के प्रयासों के परिणामस्वरूप गया । वह कला के पर्याप्त नमूने अपने साथ ब्रिटेन ले गया था जिन्हें उसने 'ग्रेको– बुधिस्ट' नाम दिया था । उक्त कला के जो खुदरा नमूने जेरार्ड प्रिंसेप बेले आदि ने इसके पूर्व देखे थे उनसे इस विशिष्ट

11 देखिए रायचौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आव एन्शएन्ट इण्डिया, सातवा सस्करण, पृ० 131

12. रघुवश 15 88-89

प्रकार की कला की जानकारी को प्रसारित नही किया जा सका। अत शिक्षित जगत को यह विश्वास दिलाने का श्रेय लिटनर को ही जाता है कि ईसाई सवत की प्रारंभिक शताब्दियों में पश्चिमोत्तर भारत में यूनानी कला का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था ।

गन्धार कला के नाम को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान यहाँ की कृतियों में रोमन प्रभाव देखते हैं तथा कुछ अन्य को यूनानी प्रभाव दिखाई देता है। पर्सी ब्राउन ने इसे ग्रेको बैक्ट्रियन' अथवा ग्रेको बुधिस्ट नाम से वर्णित किया है जो बौद्ध आदर्शों तथा यूनानी तत्वों क मिश्रण को प्रदर्शित करता है। मार्शल ने कला के यूनानी पक्ष पर बल दिया है। स्मिथ ने इस ग्रको रोमन कला की उपज कहा है।[13] कुमारस्वामी गधार कला को मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से आशिक रूप में किन्तु अभिघटन (प्लास्टिक) की दृष्टि से लगभग पूणत हेलनिक कला क ऐसे स्थानीय चाण क रूप में देखते थे जिसने भारतीय मूल के विषयों का अकन किया[14] इसके विपरीत बेंजामिन रोलैण्ड तथा बुकयल ने उपर्युक्त मतों का खण्डन किया है। रोलैण्ड के अनुसार गन्धार की मूर्तियों का यूनानी कला के हेलेनिक अथवा हेलेनिस्टिक चरणों से कोई सम्बन्ध नही है। यह रोमन कला के अधिक निकट लगती है।[15] बुकयल ने भी कला के रोमन पक्ष पर बल देते हुए लिखा है कि प्रथम बुद्ध प्रतिमा रोमन सम्राट ऑगस्टस की मूर्ति की नक्ल करते हुए निर्मित हुई। वस्तुत यह एक मिश्रित कला थी।

ग्रेको बुधिस्ट अथवा गधार की कला का स्वरूप एक मिश्रित कला का (ऐक्लिक्टिक आर्ट) है। यह मिश्रण शैली और विषयों का है। यहाँ की कला में शिल्पाकन के विषयों में वैविध्य होना नितान्त स्वाभाविक था। यह क्षेत्र ईरानी यूनानी तथा भारतीय राजाओं के आधिपत्य में रहा। कनिष्क के सिक्कों में यूनानी ईरानी तथा ब्राह्मण धर्म के देवताओं का जिस उदारता से अकन हुआ है उससे कुषाणों की सहिष्णुता एव खुलेपन का आभास होता है। फारसी यवन शक पहलव और कुषाण यहाँ आये और बस गये। परिणामत यहाँ मिश्रित सस्कृति का उद्‌भव हुआ जिसकी अभिव्यक्ति यहाँ की कला में हुई। गधार कला को प्राय ग्रेको-बुधिस्ट आर्ट कहा जाता है । उल्लेखनीय है कि यहाँ कला आन्दोलन तब प्रारम्भ हुआ जब इस प्रदेश में यवन शासन पुराना इतिहास बन चुका था। इस कला के सरक्षक शक-कुषाण थे। इस कला की तकनीक हेलेनिक है जिसमें ईरानी और शक तत्वों का समावेश है। गन्धार कला की तकनीक विदेशी होते हुए भी कला के वर्ण्य विषयों में प्रधानता बौद्ध धर्म से सम्बद्ध विषयों की है। फुशे ने तो यहाँ तक कहा है कि गन्धार में मूर्तिकार के विषयों की पूर्ण सूची तैयार करना वस्तुत बुद्ध के विस्तृत जीवन चरित लिखने के समान होगा।[16]

गन्धार के कलाकार ने अपनी कला को व्यापक आधार प्रदान करन की दृष्टि से विविध स्रोतों से ली गई सामग्री का खुलकर उपयोग किया है। निःसन्देह कुषाणों के शासनकाल में यहाँ बौद्धधर्म का वर्चस्व था। इसी कारण बुद्ध बोधिसत्वों एव बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं तथा जातकों से लिए गये कथानकों का व्यापक रूप से शिल्पाकन किया गया। इस केन्द्र में बुद्ध की बैठी मुद्रा में प्रतिमा का

---

13 स्मिथ, अर्ली हिस्टरी ऑव इण्डिया पृ 241

14 कुमारस्वामी पूर्वोक्त पृ॰ 52

15 बेंजामिन रोलैण्ड, पूर्वोक्त, पृ॰ 125 उसके अनुसार इसे गधार कला कहना अधिक उपयुक्त होगा।

16 स्मिथ, अ हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, 1969 सस्करण, पृ॰ 51

निर्माण शुद्ध भारताय विचार है। प्रारम्भिक यूनानी विजताओं क पुरान स्मारकों पश्चिम स आयातित यूनानी कलाकृतियों तथा कुषाणों द्वारा नियुक्त यूनानी कलाकारों ने गधार कला में यूनानी तत्वों की उपस्थिति को सम्भव बनाने में समान रूप से योगदान दिया। रोम के भारत के साथ होने वाले व्यापार के कारण रोमन प्रभाव पडना स्वाभाविक था। कुषाणों के सिक्कों में उत्कीर्ण अग्नि पूजा दृश्यों में पारसी प्रभाव का सकेत है।

गधार कला अपनी प्रभूत सामग्री के लिए विख्यात है। मूर्तियों का निर्माण प्राय गहर भूरे स्लटी पत्थर से हुआ है। परन्तु अपेक्षाकृत बाद में मिट्टी एव प्लास्टर की (टराकोटा/स्टको) मूर्तिया बनाई गई।

गधार कला की तिथि निर्धारण की समस्या गभीर है। उसके विभिन्न केन्द्रों से प्राप्त होने वाली कला सामग्री से इस प्रश्न के निराकरण में कोई विशेष सहायता नही मिलती। मार्शल के अनुसार हजारों प्रतिमाओं में से एक में भ●तिथि नहा है। उनकी निमाण शैली के आधार पर भा उनका निश्चित समय नही बताया जा सकता। मार्शल और फुशे क अनुसार इसकी उत्पत्ति प्रथम शताब्दी ई पूर्व शकों द्वारा गन्धार अधिकृत किये जाने के समय हुई। एस के सरस्वती की धारणा में मार्शल के तक्षशिला आदि स्थलों क उत्खनन के आधार पर प्रारम्भिक बौद्ध कला कृतियों क साथ सम्बन्धित व्यक्ति प्रथम अजस (एजेस फर्स्ट) है। उसे स्थूलत प्रथम शती ई पूर्व क मध्य रखा जाता है। कुमारस्वामी के अनुसार यह कहना निरापद है कि गधार की ग्रको बुधिस्ट मूर्तिकला का प्रारम्भ प्रथम शताब्दी ई पूर्व हुआ। सम्भवत इसकी तिथि कनिष्क से पुरातन है किन्तु इसका अधिकतम विस्तार निश्चित ही उसके शासन काल में हुआ। रोलैण्ड के अनुसार सम्भवत इसका प्रारम्भ प्रथम शताब्दी ईसवी के बाद के दशकों में कुषाण वश के प्रारभिक शासकों के सरक्षण म हुआ। वासुदवशरण अग्रवाल के मत में वेम कनिष्क आदि राजाओं के राज्यकाल में गन्धार और मथुरा दोनों कलाओं का अभ्युदय हुआ जान पडता है।[17] इसके अतिरिक्त गधार कला के पुष्पण (फ्लॉरेसेन्स) काल के सम्बन्ध में भी मतैक्य नही है। मार्शल कुमारस्वामी रोलैण्ड आदि कनिष्क के शासन काल में इसका पुष्पण हुआ मानते हैं। वोगिल इस धारणा से सहमत नही था। स्वय कनिष्क की तिथि भी विवादों के घेरे से पूर्णत अलग नही है। यहाँ उसके शासनकाल के प्रारम्भ का 78 ई स माना गया है। गधार कला में पाषाण शिल्प प्रथम से तीसरी शती तक और गचकारी का काम 4 5 शती ई० में हुआ।

गन्धार कला का विस्तार — पश्चिमोत्तर सीमान्त अथवा गधार क्षेत्र में विकसित होने वाली कला का विस्तार बहुत बडे भू भाग में था। गधार कला के महत्वपूर्ण अवशेष आधुनिक अफ़गानिस्तान के जलालाबाद हड्डा तथा बामियान से स्वात घाटी से तक्षशिला तथा पेशावर एव उसक आस पास के क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। इस कला के अवशेष खोतान (चीन) से भी मिले हैं। पेशावर के पूर्वोत्तर में यूसुफजाई क्षेत्र स (जिसमें जमालगढी सहरी बहलोल, तख्त इ बाही आदि अनेक स्थल सम्मिलित हैं) गन्धार कला की समृद्ध सामग्री प्रकाश में आई है। इन सभी क्षेत्रों से प्राप्त होने वाली कलाकृतियों में सामान्यत शैलीगत एकरूपता पाई जाती है। वक्षु नदी के उत्तर तट पर तेरमेज (रूस में) भी गन्धार कला का एक केन्द्र था। यहाँ प्रथम शती ई का बौद्ध मदिर मिला है। इसके

17 वासुदेव शरण अग्रवाल भारतीय कला पृ 334

अतिरिक्त बोधिसत्वों आदि की मूर्तिया भी मिली हैं । कुन्दुज से भी जन्डियाल जैसा मदिर व कला के नमूने मिले थे ।

बीमरान (जलालाबाद) के तबर्रूकपात्र (रलिक्वरी) में खडी मुद्रा में बुद्ध तथा उनके पूजकों की आकृतियाँ बनाई गयी हैं । पेंदी में भारतीय कमल का अलकरण है । साधारणत इसे ग्रेको बुधिस्ट कला के प्राचीनतम नमूने के रूप में गिना जाता है । जलालाबाद से प्राप्त होने वाला खयेम्त स्तूप अलकृत आलों एव मूर्तियों से सज्जित था । हड्डा का टप्पा क्लान विहार वस्तुत गधार मूर्तिकला का सग्रहालय था । यहाँ से भग्न प्रतिमाएँ प्राप्त हुयी हैं । बौद्ध कला का एक समृद्ध केन्द्र बामियान था । यहाँ अनेक विहार तथा बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ निर्मित की गयी । इस स्थल पर चट्टान काटकर 35 मीटर ऊँची (लगभग 114 फुट) बुद्ध की विशाल मूर्ति का निर्माण एक आले में किया गया है । इसके आले में सूर्य की आकृति भी चित्रित है । यहाँ से एक मील की दूरी पर इससे भी बडी 53 मीटर ऊँची (लगभग 173 फुट) बुद्ध प्रतिमा तिपतिया आले (ट्रिफॉयल निच) के अन्दर निर्मित की गई है । इन मूर्तियों के मूलत चित्रित होने के प्रमाण मिले हैं । चीनी यात्री श्वान च्वाड ने वामियान का उल्लेख किया है । यहाँ मूर्तियों के पृष्ठभाग के अतिरिक्त दोनों ओर की गुफाओं से भित्ति चित्र भी प्राप्त हुए हैं ।

स्वात घाटी (उद्यान) तथा अन्य अज्ञात स्थलों से प्राप्त मूर्तियाँ विश्व के अनेक सग्रहालयों में बिखरी हुई हैं । गधार के केन्द्र में स्थित यूसुफ जाई क्षेत्र के तख्त इ बाही नामक स्थल से प्रचुर मात्रा में मूर्तियाँ प्राप्त हुयी हैं । इन्हें तीसरी चौथी शती ईसवी का माना जाता है । कनिष्क के काल का सर्वाधिक उल्लेखनीय स्मारक पेशावर के निकट बना स्तूप था । चीनी यात्रियों के सम्मिलित विवरण के आधार पर इसकी कुल ऊँचाई 638 फुट थी । इसका काष्ठनिर्मित पैगोडा सरीखा 13 मजिला ढाचा 400 फुट ऊँचा था ।

गधार की राजधानी तक्षशिला एक महत्वपूर्ण कला केन्द्र था । यहाँ के तीन केन्द्रों में भीर मौर्ययुगीन सिरकप यवन–पहलव और अन्तिम छोर में कुषाण नगरी तथा सिरसुख मात्र कुषाण युगीन है । मार्शल ने भीर टीले को 6 7 वी शती ई पूर्व से सिकन्दर तक के मध्य रखा है । यहाँ से आहत मुद्राएँ तथा सिकन्दर का सिक्का मिला था । तक्षशिला एव आस पास के स्थलों से 50-60 स्तूपों एव अनेक विहारों के अवशेष मिले हैं । उल्लेखनीय स्मारकों में कुषाण युग में पुन सस्कारित धर्मराजिक या चीर स्तूप तथा जण्डिआल के जरथुस्मी अग्नि मदिर की गणना की जा सकती है ।

तेरमेज तक्षशिला मार्ग पर कुछ पूर्व की ओर हटकर हैबक में चट्टान काट कर स्तूप निर्मित किया गया है ।

पश्चिमी गधार की राजधानी पुष्कलावती नगर की पहचान सम्भवत मीर जियारत अथवा बला हिसार नामक स्थल से की जा सकती है । बला हिसार से कुणाल स्तूप मिला है । यहाँ से कनिष्क के सिक्के आदि मिले थे । मीर जियारत से मेनेन्द्र हर्मियस एजेस के सिक्के मिले थ । इसके आस पास के स्थलों से प्राप्त होने वाली कृतियों में किसी अज्ञात सवत वाली तिथियुक्त दो मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं । चारसद्दा से तीन शिर तीन आख तथा छ भुजाओं वाली शिव की प्रतिमा भी प्राप्त हुई है । त्रिमूर्ति को डमरू त्रिशूल और कमण्डलु लिए नन्दी के सम्मुख खडी मुद्रा में अकित किया

गया है। रावलपिण्डी से लगभग 20 मील दक्षिण पूर्व में माणिक्याल से 15 स्तूपों के अवशेष मिले हैं।

गन्धार कला का महत्व — कुमार स्वामी के अनुसार गन्धार कला को एक दृष्टि से हेलेनिक सभ्यता का पूर्व में विस्तार ईरानी तत्वों सहित तथा दूसरी दृष्टि से भारतीय संस्कृति का पश्चिमी लबादे में पश्चिम में विस्तार कहा जा सकता है। गधार बुद्ध की प्रतिमा शैली की दृष्टि से हेलेनिक है किन्तु इसके निर्माण में भारतीय मूर्ति निर्माण व मौखिक परम्परा का अनुकरण किया गया है। एस के सरस्वती के विचार में भारतीय धर्मों की सेवा में निरत किन्तु मुख्यत बाह्य और मिश्रित कला परम्परा का अनुसरण करने वाली गधार कला वस्तुत भारतीयकरण की अवस्था एव प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है।

गधार कला के सौन्दर्य शास्त्रीय गुणों तथा भारतीयकला के इतिहास में उसकी भूमिका के महत्त्व को लेकर विद्वानों में पर्याप्त वाद विवाद हुआ है। इसका अल्प महत्व वाली एक दूषित कला के रूप में अथवा बिना सौन्दर्य शास्त्रीय एव सास्कृतिक महत्व की घटना के रूप में भी उल्लेख किया गया है। दूसरी ओर भारतीय कला के प्रारभिक लेखकों ने इसको भारतीय मूर्ति शिल्प का चरम बिन्दु माना है।

गन्धार कला के अन्तर्गत बामियान में बुद्ध की आदमकद से भी बीस गुना अधिक ऊंची प्रतिमाओं क निर्माण न बौद्ध मूर्ति कला क इतिहास में विशाल मूर्तियों के निर्माण की सर्वथा नई परम्परा का श्रीगणेश किया। इसका उद्देश्य सभवत बुद्ध को अतिमानव एव महापुरूष के रूप में प्रदर्शित करना रहा होगा। सुदूर पूर्व की बौद्ध कला इन महायान प्रतिमाओं से बहुत अधिक प्रभावित हुई। उदाहरणार्थ चीन को युनकाग तथा लुग मेन (yun Kang तथा Lung Men) की विशाल प्रतिमाओं तथा जापान की वैरोचन (कॉस्मिक बुद्ध) की कास्य मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। गधार कला विदेशी तत्वों को ग्रहण करके उन्हें आत्मसात करने के उदार भारतीय दृष्टिकोण की परिचायक है। यहाँ यूनानी ईरानी और भारतीय विषयों अभिप्रायों तथा शैली के मध्य सामजस्य स्थापित किया गया है। यह कला सहिष्णुता एव सहअस्तित्व का चिरन्तन सदेश प्रसारित करती है। कुछ विद्वानों के विचार में गधार कला का महत्व बुद्ध की मानव रूप में मूर्ति के निर्माण क लिए है।[18]

गन्धार कला की विषय वस्तु— गधार कला के नाम महत्व उपलब्धि आदि के सबध में विद्वानों की धारणाएँ भिन्न हो सकती हैं किन्तु कला में बौद्ध विषयों की प्रधानता को निर्विवाद स्वीकार किया गया है। फुशे ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुये लिखा है कि गन्धार में मूर्तिकार के विषयों का पूरा विवरण तैयार करने का अर्थ वस्तुत बुद्ध के विस्तृत जीवन चरित को लिपिबद्ध करना होगा। *सम्राट अशोक के काल में बौद्ध धर्म ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। कुषाण शासक प्रथम कनिष्क के* बौद्धधर्म के प्रति झुकाव के कारण उसके शासन काल में बौद्ध विषयों का व्यापक रूप मे शिल्पाकन होना स्वाभाविक था। शिल्पी ने बुद्ध और बोधिसत्वों की खडी और बैठी दोनों ही प्रकार की मूर्तिया

18. इसकी चर्चा पिछले पृष्ठ में की जा चुकी है।

तैयार की। बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बद्ध जातक कथानकों के शिला फलक (पैनेल्स) भी निर्मित किये गये हैं। यहाँ एक ओर बुद्ध के जन्म निष्क्रमण सबोधिलाभ धर्मचक्रप्रवर्तन परिनिर्वाण सरीखे बौद्ध विषयों का अकन है तो दूसरी ओर नरमस्तक वाले काल्पनिक पशु सपक्षसिंह ताराकित मुकुटयुक्त देवी नानी एव जडियाल के अग्निमदिर सरीखे ईरानी तथा कोरिन्थी आयोनी डोरिक आदि स्तम्भ अभिप्राय देवी एथिना रोमा देवी दिमित्रा हारीती मालाधारी यक्ष आदि यूनानी रोमक मूर्तियों के निर्माण में कलाकार ने हस्तकौशल प्रदर्शित किया है।

कलाकार द्वारा मूर्तिया उत्कीर्ण करने के लिए प्रयुक्त बौद्ध विषयों में मायादेवी का स्वप्न उनका लुम्बिनी उद्यान में जाना सिद्धार्थ का जन्म उनकी सप्तपदी सिद्धार्थ का बोधिसत्व रुप बोधिसत्व की शिक्षा सिद्धार्थ की विद्याओं में परीक्षा सिद्धार्थ और यशोधरा का विवाह ससार त्याग के लिए देवों की सिद्धार्थ से प्रार्थना अभिनिष्क्रमण कन्थक अश्व से विदाई आभूषणादि ग्रहण करता हुआ छन्दक सारथि तपश्चर्या मार कन्याओं द्वारा प्रलोभन उपवासरत बोधिसत्व सबोधिलाभ त्रपुष और भल्लुक का बुद्ध को भोजन दान देवताओं द्वारा बुद्ध से धर्मोपदेश की प्रार्थना धर्मचक्र प्रवर्तन बुद्ध पर देवदत्त द्वारा घातक प्रहार श्रेष्ठी अनाथपिण्डथ द्वारा श्रावस्ती में बुद्ध को जेतवन का दान बुद्ध का कपिलवस्तु में आगमन राहुल को दीक्षा देना मगध नरेश बिम्बिसार का बुद्ध क दर्शनार्थ आगमन त्रयस्त्रिश देवस्वर्ग में बुद्ध का अवतरण अम्बपाली द्वारा बुद्ध का आम्रवन का दान अगुलिमाल का हृदय परिवर्तन कुशीनगर में बुद्ध का परिनिर्वाण बुद्ध के शव का अग्निकर्म धातुओं का बटवारा धातु पूजा आदि बुद्ध के जीवन से सबधित 61 दृश्यों का अकन हुआ है। शिल्पी को निसदेह बुद्ध के जीवन की छोटी बडी सभी घटनाओं में रुचि थी।

गधार क शिल्पी ने यूनानी ईरानी रोमन तथा बौद्ध विषयों के शिल्पाकन के अतिरिक्त यक्षराज पञ्चिक और हारीती का अलग एव सम्मिलित प्रतिमाकन भी किया पञ्चिक वस्तुत मध्यदेश के वैश्रवण अथवा कुबेर का गधारी रूप है। यहा साचीं और मथुरा की भाति वृक्ष का अथवा शालभजिका नारी तथा पूर्णघट आदि का भा अकन किया गया है। शालभजिका के शिल्पाकन में कलाकार असफल रहा है। यहाँ की कुछ प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। तपस्या में लीन उपवासग्रस्त बुद्ध की ककाल मूर्ति (इमैसियेटेड बुद्ध) तथ्यात्मक ज्ञान के साथ ही तपस्या के आदर्श का भी प्रतिनिधित्व करती है। सहरी बहलाल से प्राप्त बुद्ध की 8 फुट 8 इच ऊँची खडी प्रतिमा छायामण्डल उष्णीश एव सघाटी युक्त है। बुद्ध की पद्मासन में तख्त इ बाही से प्राप्त सघाटी युक्त (बुधिस्ट मेंटल) मूर्ति अभयमुद्रा में हैं (चित्र -60)। यहाँ की अधिकाश प्रतिमाएँ लाहौर सग्रहालय में है।

गधार कला के अतर्गत आपान गोष्ठी नृत्य गीत वाद्य सगीत खान पान तथा विलास लीलाओं के चित्रयुक्त सोन चादी की तश्तरियाँ तक्षशिला से मध्य एशिया तक के विस्तृत क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। यहा की उल्लेखनीय मूर्तियों में हारपोक्रेटिस की कास्य प्रतिमा की गणना की जा सकती है। गधार से गचकारी (स्टको) क मस्तक तथा बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। यह सुन्दर प्रतिमाएँ चौथी पाचवी शती में निर्मित हुयी।

गधार कला क कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु — गधार कला को ग्रेको बुधिस्ट आर्ट (यवन बौद्ध कला) नाम से सबाधित किया जाता है। इसका विस्तार जलालाबाद हड्डा बामियान स्वातघाटी **तक्षशिला** पेशावर यूसुफजाई क्षेत्र खोतान तेरमज आदि स्थलों तक था। इस कला की **सास्कृतिक आत्मा**

बौद्धधर्म म आबद्ध है। कला में बौद्ध विषयों का प्राधान्य है। यह एक मिश्रित कला है जिसमें विषयों अभिप्रायों एव शैलियों का उदार मम्मिश्रण हुआ है । यह कला ईरानी यूनानी तथा भारतीय सस्कृतियों के मम्मिलन की प्रतीक मानी जा सकती है। यह मूर्तियों के प्रचुर मात्रा में निर्माण की दृष्टि स उल्लेखनीय है। यहा के शिल्पी ने मथुरा और मध्यदेश की कला के शालभजिका जैसे कुछ अभिप्रायों (मोग्फि) का शिल्पाकन किया है। इसक अतिरिक्त पूर्णघट एव स्तम्भ अलकरणों का भी अनुकरण किया गया है। इन सबका शिल्पाकन सौन्दर्य विहीन एव नीरस ही कहा जायेगा। बुद्ध के जीवन दृश्यों को उकेरी सजीव शैली में की गयी है। किन्तु बुद्ध और बोधिसत्वों की मुखाकृति अध्यात्म भावना शून्य है । वस्तुत यहाँ की मूर्ति में योगीश्वर बुद्ध की उस छवि का सर्वथा अभाव है जो मथुरा की बुद्ध प्रतिमाओं में पाई जाती है । यहाँ की मूर्तियों में भावात्मकता एव स्वाभाविकता (इमोशैनेलिटी एण्ड स्पॉन्टेनिटी) है ही नहीं । इन प्रतिमाओं में उस अध्यात्मिता का भी अभाव है जो मथुरा बुद्ध की मुखाकृति से झलकती है । यद्यपि गधार बुद्ध में भारतीय परम्परा के मूर्ति विज्ञान सम्बन्धी गुण हैं तथापि उनका प्रयोग ग्रेको-रामन पेनथिअन (देवकुल) की मूर्तियों की भाति किया गया है । इसी कारण बुद्ध बोधिसत्वों की प्रतिमाओं में कुछ अभारतीय विशेषताएँ झलकती हैं (चित्र 61) । यहाँ की बौद्ध प्रतिमाओं में केश विन्यास भारतीय परम्परा स भिन्न है । बाल घुघराले दिखाये गये हैं बुद्ध मूर्ति को मोटा वस्त्र अथवा सघाटी ओढाये हुये चित्रित किया गया है । शरीर की सुडौलता मुखाकृति आदि भी भारतीय नहा है । बुद्ध बोधिसत्त्वों की मूर्तियों में कही कही पगडी और मूँछों का अकन भी किया गया है जो सर्वथा अभारतीय है । वस्तुत गधार क कलाकार ने बुद्ध को अपालो की भाति चित्रित किया है । गधार कला की मूर्तियाँ अपनी विशेष सज्जा अभिव्यक्ति तथा शारीरिक सुडौलता के कारण सरलता स पहचानी जा सकती हैं । यहाँ के शिल्पी ने यूनानी अभिप्रायों तथा विषयों का अकन सफलता के साथ किया है । उदाहरणार्थ लाहौर सग्रहालय में सुरक्षित एथिना या रामा देवी की मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है । अग्रवाल ने रोमा देवी की प्रतिमा को गधार कला की सर्वोत्तम मूर्तियों म माना है ।

जॉन मार्शल ने अपने ग्रथ (ए गाइड टु टैक्सिला) में भारतीय और यूनानी दृष्टिकोण का अन्तर समझाते हुए लिखा है यूनानी क लिए मानव मानवीय सान्दर्य तथा मानवीय बुद्धि ही सब कुछ था इस सौन्दर्य एव इस बुद्धि का गुणगान (अपोथिओसिम) ही अद्यापि यूनानी कला का पूर्व में मूल सिद्धान्त बना रहा । भारतीय की दृष्टि नश्वर मे नहीं बल्कि अनश्वर स सीमित स नही बल्कि असीमित से आबद्ध थी । जहाँ यूनानी विचारणा नीतिपरक थी उसकी (भारतीय की) आध्यात्मिक जहाँ यूनानी बुद्धि सगत थी वहीं उसकी भावात्मक । 19

---

19 To the greek man man s beauty man s intellect was everything and it was apotheosis of this beauty and this intellect which still remained the key note of Hellenistic art even in the orient The vision of the Indian was bounded by the immortal rather than the mortal by the infinite rather than the finite Where greek thought was ethical his was spiritual where Greek was rational his was emotional

अध्याय 9

मन्दिर स्थापत्य (गुप्त, चालुक्य, पल्लव एवं राष्ट्रकूट युग)

मदिर भारतीय स्थापत्य कला का एक महत्वपूर्ण पक्ष है । इसका सम्बन्ध हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदायों के अतिरिक्त भारतीय मूल के जैन एव बौद्ध धर्मों क साथ भी है । हिन्दू मदिरों के साथ साथ जैन एव बौद्ध मन्दिरों का प्राचीन भारत में निर्माण इस अनुमान को बल प्रदान करता है कि मूर्ति पूजा की भावना से ही मदिर का विकास हुआ न कि किसी सम्प्रदाय विशष से । मानव ने अपनी धार्मिक आस्थाओं को अभिव्यक्त करने के लिए जिन प्रतीकों या लाछनों का निर्माण किया उनसे मूर्ति पूजा का आरभ हुआ । ईश्वर की विविध रूपों में कल्पना की गई । देवी देवताओं के मूत रूपों की पूजा हेतु स्थापना क लिए जो सुन्दर भवन निर्मित हुए वही भवन मदिर कहलाये । यद्यपि मदिर एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक वास्तुसरचना है किन्तु इसकी उत्पत्ति के प्रश्न पर आज भी अस्पष्टता बनी हुई है ।

वैदिक युग में यज्ञ वेदियाँ बनाई जाती थी जिन्हें शतपथ ब्राह्मण के अनुसार चारों ओर से चटाई स ढका जाता था । यज्ञशाला को प्रवेशार्थ पूर्व की ओर से खुला रखा जाता था । तैत्तिरीय सहिता में इस झापडी सदृश्य सरचना को गर्भगृह कहा गया है । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार यह सरचना वेदिका को शष स्थल से विलग करता थी । यज्ञशाला के उक्त स्वरूप से ही सम्भवत मदिर वास्तु के विकास को प्रेरणा मिली[1] ।

अशाक द्वारा लुम्बिनी में पूजा स्थल क चतुर्दिक बनवाई गयी दीवार तीसरी-चौथी शताब्दी ई० पूर्व कुछ रजत मुद्राओं पर अकित वृक्ष चैत्य के लाछन अहिच्छत्रा (रामनगर जिला बरली) के आस-पास से मिले पाचाल शासकों के ताबे के सिक्कों पर उत्कीर्ण चबूतरे पर विष्णु एव वेदिका से आवृत्त चबूतरे पर अन्य देवताओं के अकन पचाल क्षेत्र स ही जयगुप्त इन्द्रगुप्त आदि की मुद्राओं पर उत्कीर्ण उन्नत चबूतरे पर वर्तुलाकार छतयुक्त कक्ष एवँ उसके उपर उभरा कलश जैसा एव छत के दोनों ओर आग को निकले छज्जों आदि की आकृतियों ने मदिर वास्तु के स्वरूप निर्धारण एवँ विकास को प्रेरित किया होगा । इस सदर्भ में कुषाण नरेश कनिष्क के समय के सारनाथ और श्रावस्ती से प्राप्त अभिलेखों में भिक्षुबल द्वारा बोधिसत्व की मूर्तियों के निमित्त छत्रयष्टि लगवाने का उल्लेख अनुपयुक्त नही हागा । छत्रादि उत्खनन में अनेक स्थानों से प्राप्त होते हैं । प्राय छत्रयष्टि वास्तु का प्रारम्भ कुषाण युग से हुआ माना जाता था । किन्तु वक्षु काठे में (अफगानिस्तान रूस सीमा पर) अइ खानुम से अगथुक्लेय नामक भारतीय यवन नरश के (125 ई पूर्व के लगभग) चादी के द्रख्म प्राप्त हुए हैं जिन पर छत्रयष्टि के नीचे चबूतरे पर एक आर खडे वासुदेव कृष्ण का और दूसरी ओर बलराम सकर्षण का मूर्तन है[2] ।

मदिर वास्तु का आभिलेखिक स्वरूप — तृतीय शताब्दी ई पूर्व से आगे को भारत के विभिन्न

O

1 गुप्त परमेश्वरा लाल, भारतीय वास्तुकला वाराणसी 1989 पृ० 68

2 वही पृ० 69 से 74 तक विविध मुद्राओं में उत्कीर्ण आकृतियों के आधार पर मदिर वास्तु की गुप्त पूर्व युगीन पृष्ठभूमि के लिए ।

सम्प्रदायों से सम्बन्धित हजारों अभिलेख अब तक प्रकाश में आ चुके है । इनमें से अधिकाश प्राचीन लेख बौद्ध एव जैन धर्म से सम्बन्धित हैं बहुत कम ब्राह्मण धर्म से सम्बन्ध रखते हैं । तृतीय शताब्दी ईसवी के पश्चात ब्राह्मण धर्म (हिन्दू) से सम्बन्धित अधिकाधिक अभिलेख उत्कीर्ण किये जाने लगे । नि सन्देह यह अभिलेख मदिर वास्तु के ऐतिहासिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं ।

वेसनगर (भिल्सा विदिशा मध्यप्रदेश) से प्राप्त गरुड स्तम्भ अभिलेख में कहा गया है कि वह स्तम्भ (सम्भव है कभी स्तम्भ शाष पर गरुड मूर्ति रही हो) देवों के देव वासुदेव के गरुड ध्वज के रूप में भागवत हलियोदार (डियॉन पुत्र हेलियाडोरॉस) नामक तक्षशिला वासी यवनदूत जो महाराज अन्तलकित (एन्टियल्किडॉस) क दरबार से राजन काशीपुत्र भागभद्र के शासन के चौदहवें वर्ष में आया न निर्मित करवाया था । यह अभिलेख दूसरी पहली शताब्दी ई पूर्व का है । विदिशा की एक गला स प्राप्त एक अष्टमुखी गरुड स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख से यह ज्ञात होता है कि वहाँ पर कोई मदिर विद्यमान था । यह लख महाराज भागवत के समय का है जिसके अनुसार भगवत के प्रासादोत्तम का यह गरूड स्तम्भ गौतमीपुत्र द्वारा महाराज भागवत के शासन के 12 वें वर्ष में स्थापित किया गया । इस वाक्य में प्रासाद शब्द का प्रयोग नि सन्देह मदिर के लिए हुआ है । यह भी स्पष्ट है कि इस काल में मदिर के साथ स्वतत्र स्तम्भ स्थापित किये जाते थे ।

घासुण्डी स प्राप्त (मूल रूप स नागरी प्राचान मध्यमिका भूतपूव उदयपुर राज्य में) तथा सवतात क ब्राह्मी अभिलेख में दो दवताओं के एक मदिर (सकषण और वासुदव का मदिर) का उल्लख है । इसके चतुर्दिक पत्थर की दीवार थी और पूजा के निमित्त दो प्रतिमाएँ भी रही होंगी । इस मदिर को नारायण वाटिका कहा जाता था । महाक्षत्रप राजुवुल के पुत्र स्वामी महाक्षत्रप पोडाश के समय के मोर कुआ अभिलेख स भी ज्ञात होता है कि इस काल में मदिर पाषाण से भी निर्मित होते थे । अभिलेख के अनुसार राजुवुलस क पुत्र स्वामी (महाक्षत्रप पाडाश) के समय वृष्णियों के पञ्चवीरों (सकर्षण वासुदव प्रद्युम्न साम्ब एव अनिरुद्ध) की मूर्तियाँ पाषाण निर्मित दवगृह (अर्थात मदिर) में स्थापित का गई ।[3] शैल देवगृह का उल्लेख पचतन्त्र में भी हुआ है ।

नानाघाट (पूना के समीप कोंकण जुन्नार मार्ग पर) से प्राप्त श्री सातकर्णि प्रथम की रानी नायनिका (नागन्निका) के अभिलेख में धर्म सकर्षण वासुदेव इन्द्र सूर्य चन्द्र तथा चतुर्दिक्पालों यथा वासव कुबेर वरुण एव यम की उपासना का उल्लेख हुआ है । हालकृत गाथा सप्तशती से भी शिव स्कन्द कुमार गौरा गणश का पूजा का परिचय मिलता है । नागार्जुनकोंड की खुदाई में वीर पुरुषदत्त द्वितीय (इक्ष्वाकुवश) के समय का एक अभिलेख मिला है । लगभग तृतीय शती ई के अन्तिम चरण क इस लख स ज्ञात होता है कि वहाँ पर महादव शिव (पुष्प भद्रस्वामी) का एक मदिर बनवाया गया था। उस मदिर क साथ वह ध्वज स्तम्भ भी स्थापित किया गया था जिसमें उक्त अभिलेख मिलता है । नागार्जुनीकोंड की खुदाई में बाध क दक्षिण की ओर प्राप्त स्तम्भ युक्त भवन की पहचान अभिलेखों के आधार पर कार्तिकेय के मदिर स की गई है । मदिर का निर्माता सम्भवत्त चण्डशक्तिकुमार था । यह भग्न मदिर सम्भवत मूलरूप में द्वितल था । यहाँ से एक अन्य परिस्तम्भित भवन के अवशेष भी मिलते हैं जिसमें कार्तिकेय की मूर्ति उल्लेखनीय है । इसके

3 एपाग्रफिया इण्डिका वाल्यूम 24 पृ० 194 से आगे ।

अतिरिक्त इस स्थान से कार्तिकेय की एक खडी मूर्ति 1 फुट 10 इच ऊँची भी प्राप्त हुई है । यह मूर्ति भी कार्तिकेय के किसी मदिर की प्रतीत होती है । उपर्युक्त अवशेषों और अभिलेखों के अधार पर एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि प्राचीनतम हिन्दू मदिरों के साथ ध्वज स्तम्भ आवश्यक रूप से होते थे और दूसरा दक्षिण भारत के मदिरों के परिस्तम्भित मण्डपों का प्रारम्भ इक्ष्वाकु कालीन उपर्युक्त मदिरों से हो चुका था । इस स्थान से पुन उत्खनन में मदिरावशेष व अभिलेख मिले हैं । एक भग्न मदिर जिसके सम्मुख एक ध्वज स्तम्भ है । राजा इहुवल चान्तमूल के समय का है जो भगरवर (?) देव का जिक्र करता है । यह एक शैव मदिर था ।

आभीर राजा वासिष्ठीपुत्र वसुषेण क शासन काल का एक अभिलेख (तृतीय शती ई सन का अन्तिम भाग) अष्टभुजस्वामी की एक काष्ठ प्रतिमा का उल्लेख करता है । इस अभिलेख के प्राप्ति स्थल से एक ध्वज स्तम्भ एक मदिर के तीन कक्ष तथा दो शख भी उपलब्ध हुए है एक के उपर चक्र कीर्तित है जिसके एक ओर अकुश और दूसरी ओर छत्र है ।

अष्टभुजस्वामी सम्भवत विष्णु के उग्ररूप की उपाधि है । पी आर श्रीनिवासन का कहना है कि यह प्रथम और प्राचीनतम अभिलेख है जो दक्षिण भारत में विष्णु प्रतिमा के स्थापित किये जाने का उल्लेख करता है । यद्यपि विष्णु चतुर्भुजी मूर्तियाँ सुविदित है परन्तु अष्टभुजी विष्णु की मूर्तिया कम पायी जाती है । उपर्युक्त काष्ठमयी अष्टभुजस्वामी (विष्णु) की मूर्ति सम्भवत विष्णु के उग्ररूप त्रिविक्रम को चित्रित करती थी । लकडी की होने के कारण यह अब नष्ट हो गई है ।

अभिलेखों में प्राप्त होने वाले मदिर निर्माण के सदर्भों के उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि तृतीय शताब्दी ईसवी तक बहुत कम हिन्दू देवालयों का निर्माण हुआ । तृतीय शताब्दी के पश्चात हिन्दू पौराणिक धर्म का व्यापक रूप स विकास और प्रसार हुआ । गुप्तकाल वैदिक धर्म और ब्राह्मण सस्कृति के पुनरूत्थान का काल था बौद्ध धर्म के चरमोत्कर्ष के दिनों का अवसान निकट आ गया था । शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की महान बौद्ध धर्म के साथ विशेष रूप से स्पर्द्धापूर्वक प्रगति होने लगी थी । बौद्ध स्तूपों विहारों और चैत्यगृहों के साथ– साथ हिन्दू मदिरों का विकास भी होने लगा ।

समुद्रगुप्त के समय का एरण अभिलेख पाषाणमय किसी मदिर अथवा अन्य धार्मिक वस्तु के स्थापित होने का उल्लेख करता है । कनिघम और फ्लीट का विचार था कि अभी भी विद्यमान विशाल विष्णु प्रतिमा सम्भवत इस स्थान पर निर्मित मदिर की मूर्ति है मदिर का कोई स्पष्ट अवशेष अब वर्तमान नही है । कनिंघम द्वारा प्रकाशित सम्भाव्य मदिर की वास्तु योजना जिसमें उक्त विष्णुमूर्ति प्रतिष्ठित रही होगी एक दीर्घ गर्भगृह तथा उसके सामने दो स्तम्भों वाले बरामदे को चित्रित करती है । भिल्सा के निकट उदयगिरि में शैलकृत गुफाओं (रॉक कट केव्ज) में दो अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के हैं । एक गुफा वैष्णवधर्म से सम्बन्धित है इसका निर्माण चन्द्रगुप्त द्वितीय के अधीनस्थ सनकानिक महाराज सोढल (आत्मज विष्णुदास) ने करवाया था । दूसरी गुफा शैवधर्म से सम्बन्धित है इसका निर्माण चन्द्रगुप्त द्वितीय के मन्त्री वीरसेन की आज्ञानुसार शिव के लिए करवाया गया था ।

पाचवी शताब्दी के प्रारम्भ का तुशामगिरि अभिलक आचार्य सोमत्रात द्वारा भगवान विष्णु (भगवत) के प्रयोगार्थ एक गृह तथा दो जलाशयों के निर्माण की सूचना देता है । कुमार गुप्त प्रथम के

समय का बिल्सड (एटा जिला उ प्रदेश) से प्राप्त पाषाण स्तम्भ लेख ध्रुव शर्मन नामक व्यक्ति द्वारा स्वामी महासेन (कार्तिकेय) के मदिर में किसी निर्माण कार्य अथवा वस्तु प्रदान करने का उल्लख करता है । स्कन्दगुप्त (लगभग 455-467 ई) के समय का बिहार (जिला पटना) पाषाण स्तम्भ लेख उस स्थान पर स्कन्द कार्तिकय तथा मातृदेवियों (मातृभिरच) के मदिर की सूचना देता है ।

स्कन्दगुप्ताधीन महाराज भीमवर्मन का कोसाम (कौशाम्बी जिला इलाहाबाद) प्रस्तर प्रतिमा लेख (458-459 ई) शिव पार्वती की मूर्तियों के अधोभाग पर पाया गया है । यहाँ पर कदाचित कोई शैव मदिर था जिसमें उक्त प्रतिमाएं थी । स्कन्दगुप्त के समय का भीतरी (सैदपुर से 5 मील उ पूर्व जिला गाजीपुर) स्तम्भ लेख (किसी वैष्णव मदिर में) एक विष्णु मूर्ति (शार्ङ्गिन की मूर्ति शृग धनुषधारी की मूर्ति) स्थापित करने की सूचना देता है । उसी शासक के समय का जूनागढ से एक मील पूरब स्थित गिरनार पर्वत (गुजरात) के प्रस्तर खण्ड (जिस पर महाक्षत्रप रुद्रदामा का अभिलेख है) पर उत्कीर्ण अभिलेख चक्रपालित द्वारा विष्णु मदिर (चक्रभृत = चक्रधारी = विष्णु) के निर्माण का वणन करता है । विष्णु के इन ध्यातव्य स्वरूपों शार्ङ्गिन और चक्रभृत की पूजा के य ऐतिहासिक उल्लेख वैष्णव मूर्तिकला तथा प्रतिमाविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए महत्वपूर्ण हैं । दिनेशचन्द्र सरकार एव पी आर श्रीनिवासन के अनुसार बाकुडा गिरि अभिलेख (जिला बाकुडा बगाल लगभग चौथी शताब्दी ई सन) में चन्द्रवर्मन द्वारा जिस शैल देवगृह का निर्माण करवाने का उल्लख है वह सम्भवत चक्रस्वामी (विष्णु का एक रूप) के निमित्त था।[4] दक्षिण भारत में कुम्भकोणम (मद्रास राज्य) में आज भी दो विष्णु मदिर विद्यमान हैं जिनमें पूजा होती है। इनमें से एक मदिर विष्णु शार्ङ्गपाणि और दूसरा विष्णु चक्रपाणि (चक्रभृत) का है।[5] इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि महायान बौद्ध साहित्य और कला में सुविज्ञात बोधिसत्व की उपाधि स्वरूप चक्रपाणि वज्रपाणि और पद्मपाणि[6] शब्दों का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ बोधिसत्व अवलोकितेश्वर को पद्मपाणि कहा जाता है।

प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल में जब बन्धुवर्मन मन्दसौर (दशपुर भूतपूर्व ग्वालियर राज्य) पर शासन कर रहा था मन्दसौर के रेशम निर्माताओं ने एक सूर्य मदिर बनवाया था। उक्त सूर्य मदिर को लेख में अतुलनीय भवन एव उत्तुग और विस्तृत शिखर वाला मदिर कहा है।

स्कन्दगुप्त के समय का एक ताम्रपत्राभिलेख जो इन्दौर से (इन्द्रपुर जिला बुलन्दशहर उत्तर प्रदेश) उपलब्ध हुआ है किसी देवविष्णु ब्राह्मण द्वारा एक सूर्य मदिर में स्थाई दीप दान का प्रबन्ध करने का वर्णन करता है। अनन्तस्वामी नाम से विष्णु मूर्ति प्रस्थापित करने का उल्लेख एक अन्य शिलालेख में हुआ है जो गढवा से प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख भी स्कन्दगुप्त के समय का है। इस अभिलेख में विष्णु का दूसरा नाम चित्रकूट स्वामी भी दिया हुआ है। कुमारगुप्त प्रथम के समय का गगधार पाषाण लेख (भूतपूर्व झालावाड राज्य) राजा विश्ववर्मन के मत्री मयूराक्ष द्वारा एक विष्णु मदिर तथा एक देवी माताओं (मातृभिरच) के मदिर निर्मित करवाने का उल्लेख करता है। बुद्धगुप्त के शासन काल का 484 ई का एरण (जिला सागर मध्यप्रदेश) से प्राप्त एक अभिलेख विष्णु जनार्दन के निमित्त एक ध्वज स्तम्भ के निर्माण का वर्णन करता है।

4 सरकार दिनेशचन्द्र, सेलेक्ट इनस्क्रिप्शन्स, पृ 32

5 अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन, 1962 (वाल्यूम 26) पृ० 5

6 द्रष्टव्य इन्साइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड एथिक्स (सम्पा जेम्स हेस्टिंग्स) वाल्यूम 2

बुद्धगुप्त के समय (लगभग 476-494-5) का दामोदरपुर (जिला दीनाजपुर बगाल) से प्राप्त ताम्रपत्र लेख दो मदिरों (देवकुल) एक शिव (कोकामुखस्वामी ?) तथा दूसरा विष्णु (श्वेतवराह स्वामी ?) के निर्माण के लिए भूमिदान करने का उल्लेख करता है। दोनों मदिरों के साथ कोष्ठिकाएँ (सम्भवत प्राकार) भी थी। दामोदरपुर से प्राप्त एक अन्य ताम्रपत्राभिलेख (543 ई) में मदिर की मरम्मत बलि तथा सत्र आदि के लिए दिये गये दान का उल्लेख हुआ है। बेमाम (जि बोमा बगाल) मे प्राप्त 448 ई का ताम्रपत्राभिलेख एक विष्णु मदिर (गोविन्द स्वामी) का विवरण प्रस्तुत करता है। खोह (नागौड मध्यप्रदेश) से प्राप्त 496 ई का एक ताम्रपत्राभिलेख महाराज जयनाथ द्वारा ब्राह्मणों को एक विष्णु मदिर के लिए धवषण्डिका नामक ग्राम के उपहारस्वरूप दिये जाने का उल्लेख करता है। उसी स्थान पर भगवती पिष्टपुरिका देवी का एक मदिर होना इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि महाराज शर्वनाथ ने धवषण्डिका ग्राम का आधा भाग उक्त देवी के मदिर के पोषण हेतु दान दिया था। पिष्टपुरिका देवी भगवती का ही नाम प्रतीत होता है। सरकार के विचार में उक्त देवी अन्नपूर्णा थी जो पार्वती का एक रूप है। श्रीनिवासन ने पिष्टपुरिका देवी का तादात्म्य भगवती दुर्गा से किया है। पिष्टपुरी देवी का एक अन्य मदिर भी खोह ग्राम के निकट ओपाणि में था जिसके लिए परिव्राजक वश के महाराज सक्षोभ ने दान व्यवस्था की थी। पिष्टपुरी पिष्टपुरिका का ही सक्षिप्त नाम प्रतीत होता है।[7] 533 34 ई का खोह से प्राप्त एक और ताम्र पत्र लेख मानपुर नामक नगर में पिष्टपुरिका देवी के एक और मदिर का होना प्रमाणित करता है। उच्छकल्प वशी महाराज शर्वनाथ के शासन काल में आश्रमक नामक गाव में विष्णु (भगवत) और सूर्य के मदिरों का होना खोह से प्राप्त 513 ई के एक ताम्रपत्राभिलेख से सिद्ध होता है। एरण में वराह (विष्णु) की एक विशाल प्रस्तर प्रतिमा (11 फुट ऊची) एक भग्न मदिर के मण्डप पर स्थित है। इस मूर्ति पर अभिलेख हूण राजा तोरमाण के शासन (लगभग 500 515 ई) का उल्लेख करता है और दिवगत महाराज मातृविष्णु के अनुज धन्यविष्णु द्वारा उक्त वराह प्रतिमा वाले मदिर के निर्माण का वर्णन करता है। मूर्ति को वराहमूर्ति और मदिर को नारायण शिलाप्रासाद कहा गया है। स्पष्ट है कि यह भी एक वैष्णव (भागवत) देवालय था।

ग्वालियर से उपलब्ध मिहिर कुल (515 535 ई) के शासन काल का एक पाषाण अभिलेख गोप पर्वत पर मातृचेट नामक व्यक्ति द्वारा एक सुन्दर सूर्य मदिर के निर्माण का उल्लेख करता है।

मौखरी राजा अनन्तवर्मन (छठी सदी का पूर्वार्ध) के तीन अभिलेख विष्णु और शिव के मदिरों का परिचय देते हैं।[8] इनमें से एक अभिलख बराबर पर्वत पर बनी गुफा में अवन्तिवर्मन द्वारा विष्णु के कृष्ण अवतार रूप की एक मूर्ति की स्थापना का उल्लेख करता है। अन्य दो अभिलेख गया जिले में नागार्जुनी पर्वत की गुफा में राजा द्वारा भूपति (शिव) और देवी (पार्वती) की प्रतिमा की प्रस्थापना तथा कालायनी (पार्वती भवानी) की मूर्ति की प्रस्थापना का वर्णन करते हैं।

निर्मण्ड (जिला कागडा) से प्राप्त एक ताम्रपत्र लेख (लगभग 612 13 ई) में कहा गया है कि इस वर्ष में पहले से विधमान कपालेश्वर (शिव) के मदिर में शिव त्रिपुरान्तक की मिहिरेश्वर नाम की एक प्रतिमा महासामन्त महाराज समुद्रसेन की माता मिहिर लक्ष्मी द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी।

---

7 पिष्ट का अर्थ है पिसा हुआ भोजन आटा पिष्ट शब्द ब्राह्मणों में एव अथर्ववेद में आया है (वैदिक इण्डेक्स 1 पृ० 534) अत पिष्टपुरी या पिष्टपुरिका अन्न या भोजन की देवी प्रतीत होती है।

8 द्रष्टव्य, हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑव द इण्डियन पीपुल वॉल्यूम 3, द क्लसिकल एज, बम्बई 1954 पृ० 67-70

कदम्ब राजा मयूरशर्मन (चौथी सदी का मध्य) के समय का एक अभिलेख मदिर के द्वार के निकट के पाषाण पर कीर्तित है। यह चन्द्रवल्लि (जिला चितलद्रुग मैसूर राज्य) से उपलब्ध हुआ है। इस लेख में राजा द्वारा एक तालाब बनवाने का उल्लेख है। इसके आधार पर यह माना गया है कि चन्द्रवल्लि का भैरवेश्वर मदिर चौथी शताब्दी का है। मयूरशर्मन के समय का मूलवल्लि अभिलेख मलपलिदेव के उपभोगार्थ भूमि दान का उल्लेख करता है। मलपलिदेव श्रीनिवासन के अनुसार शिव का स्थानीय नाम हो सकता है। उक्त स्थान में इस देवता के मदिर की विद्यमानता का सकेत वहीं पर चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में उत्कीर्ण वैजयन्ती (बनवासी) के राजा मानव्यगोत्र हरीतिपुत्र विराहुकड्ड चुटुकुलानन्द सातकर्णि के अभिलेख से भी होता है।

कदम्बराजा शातिवर्मन (455-457 ई) के समय का तालगुण्ड पाषाण स्तम्भ लेख काकुस्थवर्मन द्वारा निर्मित एक जलाशय का उल्लेख करता है। यह जलाशय भगवान भव (शिव) के सिध्यालय (मदिर) के लिए बनवाया गया था। तालगुण्ड में स्थित पर्णेश्वर के मदिर के द्वार पर उत्कीर्ण लेख उस मदिर को कदम्ब राजवश से सम्बन्धित करता है।

कदम्ब राजा रविवर्मन का सिर्सी अभिलेख (5वीं शताब्दी ई) महादेव के एक मदिर की सत्ता सिद्ध करता है। बेन्नूर स प्राप्त कदम्ब राजा कृष्णवर्मन द्वितीय क समय का ताम्र पत्राभिलेख इगुण ग्राम में महादेव के एक मदिर का उल्लेख करता है।[9] यह अभिलेख लगभग छठी शताब्दी का है। बादामी की (वातापी कर्नाटक) गुहा सख्या 3 में कीर्तित एक अभिलेख (578 ई) कीर्तिवर्मन प्रथम के भाई मगलीश द्वारा निर्मित एक शैल कृत मदिर का उल्लेख करता है। यह मदिर महाविष्णु को समर्पित किया गया था। यह एक से अधिक मजिल युक्त कलापूर्ण रचना थी। इस मदिर में विष्णु प्रतिमा स्थापित की गई थी।

शालकायन राजवश के शासक नन्दिवर्मन द्वितीय (लगभग 420-445 ई) के समय का पेद्दवेगि तामपत्र लेख विष्णु गृहस्वामी के देवहल (देवालय) का वर्णन करता है। पाचवी शताब्दी का चेजार्ल (जिला गुटूर) से प्राप्त एक लेख कपोतीश्वर के एक मदिर का उल्लेख करता है।

पल्लव वश का एक प्राचीन अभिलेख (तथाकथित ब्रिटिश म्यूजियम कापर प्लेट इनैस्क्रप्शन) पल्लव राजकुमार बुद्धवर्मन की रानी चारूदेवी द्वारा दालूर में नारायण देव के मदिर के निमित्त किये गये भूमिदान का उल्लेख करता है। यह लेख चतुर्थ शताब्दी के मध्य का है। उरूवपल्लि ताम्रपत्राभिलेख (चौथी सदी ई के मध्य) एक विष्णु मदिर (विष्णुहार देवकुल) का वर्णन करता है। पल्लवराजा महेन्द्रवर्मन प्रथम (600-630 ई) के मण्डगप्पट्टु में स्थित शैलकृत मदिर पर उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि यह ईंट रहित दारू रहित धातुविहीन एव सिमेन्ट विहीन मदिर राजा विचित्रचित्त द्वारा ब्रह्मा ईश्वर तथा विष्णु के आयतन के रूप में निर्मित करवाया गया। यह मदिर चट्टान को काटकर बना है। ब्रह्मा ईश्वर (शिव) एव विष्णु तीनों महान हिन्दू देवताओं के निमित्त बना हुआ दक्षिण भारत का यह पूर्णरूपेण पाषाणमय चट्टान को काटकर विनिर्मित प्रथम मदिर है। बेरुर अभिलेख (विष्णुवर्मन कदम्बराजा का अभिलेख) में भी उक्त देव त्रयी की एक साथ वन्दना हुई है।

9 एपीग्रफिया इण्डिका वाल्यूम 16 पृ० 264 अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन 1962 पृ० 16

वहाँ पर उनके नाम हर' नारायण' और ब्रह्मा दिये हुए हैं । पल्लवनरेश महेन्द्रवर्मन विचित्र चित्त ने अनेक मदिर बनवाये थे ।

श्वान च्वाड् कृत वर्णन — श्वानच्वाड (ह्वेन साग) ने भारत में अनेक मदिरों का उल्लेख किया है। लगभग प्रत्येक नगर में बौद्ध विहारों के साथ उसने हिन्दू देव मदिरों को पाया । उसके यात्रा वृतान्त से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक देश में बहुत बडी सख्या में मदिरों का निर्माण हो चुका था ।

गन्धार प्रदेश में एक पर्वत पर महेश्वर देव का मदिर था । जिसके निकट महेश्वर की प्रिया भीमादेवी की गहरे नीले रग की प्रस्तर प्रतिमा थी ।[10] सिंहपुर (केतास) में एक देव मदिर जैन धर्म से सम्बन्धित था । राजपुर अथवा राजौरी में एक देव मदिर और टक्क देश में सैकडों देव मदिर विद्यमान थे। चीनाभुक्ति[11] (चीन भुक्ति) में 9 देव मदिर जालन्धर में 3 देवमदिर कुल्लू की घाटी में 15 देव मदिर पार्यात्र में 10 देवालय मथुरा में 5 देवालय स्थानेश्वर (स्थाणवीश्वर) में 100 मदिर श्रुघ्न (सुघ थानेश्वर के पास) में भी 100 देव मदिर थे ।

मतिपुर (मोतीपुर बिजनौर के निकट मन्दावर) में 50 देवालय थे। मतिपुर के उत्तर पश्चिम में गगा के तीर गगाद्वार' (सम्भवत हरिद्वार) में एक विशाल देवालय प्राकार और शिलाखण्डों से निर्मित जलाशय थे । ब्रह्मपुर में (गढवाल में) 10 देवालय गोविशन (काशीपुर) में 30 से अधिक देव मदिर अहिच्छत्रा (रामनगर) में 9 देवालय पिलोशन (बिलसन अतरजिखेडा एटा के निकट) में 5 देवालय सकाश्य (सकिसा फर्रूखाबाद जिले में) में 10 शैव मदिर थे। श्रीहर्ष की राजधानी कन्नौज में 200 देवालय थे । नगर में सूर्य एव महेश्वर के अत्यन्त सुन्दर मदिर थे । अयोध्या में 10 देव मदिर हयमुख (काकपुर दौण्डियाखेडा) में 10 मदिर प्रयाग में सैकडों देवालय थे । कोसाम (कौशाम्बी) में 50 से अधिक देवालय थे । पिशोक में 50 से अधिक मदिर और श्रावस्ती में 100 देवालय थे ।

कपिलवस्तु में भी 2 हिन्दू देवालय थे । नगर द्वार के बाहर ईश्वर देव (शिव) का एक मदिर था । वाराणसी प्रदेश में 100 से अधिक हिन्दू मदिर थे । वाराणसी नगर में लगभग 20 बहुमजिले मदिर थे जिनकी छतों के झुके हुए भागों पर प्रस्तर एव लकडी में पच्चीकारी द्वारा अलकरण किया गया था । एक मदिर में 100 फुट ऊँचा शिवलिंग था । चन्चु में 20 देवालय और वैशाली तथा वृजि में बहुसख्यक मदिर थे । मगध प्रदेश में भी बहुत से देव मदिर बने थे । हिरण्यपर्वत जनपद में 20 से अधिक देवालय चम्पा (भागलपुर) में गगा के तट पर एक देव मदिर काजगल (राजमहल) में 10 देवालय और पुण्ड्रवर्धन में 100 मदिर थे । समतट में 100 हिन्दू मदिर ताम्रलिप्ति में 50 देवमदिर कर्णसुवर्ण में 50 मदिर उडीसा में 50 मदिर कलिंग में 100 मदिर धान्यकटक (श्रीपर्वत) में 100 देवमदिर चोलदेश में कई मदिर द्रविड देश (मद्रास) में 80 देवमदिर, मलकूट (तजोर मदुरा जिले) में सैकडों देवालय मालवा में भी सैकडों देवालय कच्छ वल्लभी सूरत गुर्जर उज्जैन खजुराहो तथा सिन्ध में बहुसख्यक मदिर थे ।

---

10 वाटर्स, टामस, ऑन युवान-च्वाड्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया (2 भाग, दिल्ली से 1961 में पुन प्रकाशित) भाग 1 पृ॰ 221

11 इन स्थानों की भौगोलिक पहिचान के लिए देखिए कनिंघम कृत एन्शियेन्ट ज्याग्रफी ऑव इण्डिया (एस एन मजूमदार द्वारा सम्पादित, पृ॰ 330 से आगे) कलकत्ता 1924)

गुप्त वर्द्धन युग के मदिर और मदिर स्थापत्य का आरम्भ — गुप्तकाल भारतीय इतिहास में विविध सास्कृतिक क्षेत्रों में एक समुन्नत एव रचनात्मक युग था । समुद्रगुप्त के समय से लेकर श्रीहर्ष के शासन काल तक भारत के प्रमुख धर्मों दर्शनों साहित्य और कलाओं न जो चिरस्थायी प्रगति की उसकी समता परवर्ती काल में कभी नहीं हो पायी ।

स्थापत्य के क्षत्र में इस युग में नवीन प्रेरणा नवीन पद्धति और नवीन योजना का उन्मीलन हुआ । गुप्तकाल से बहुत पहले भक्ति का विकास देवी देवताओं की प्रतिमा पूजा और शैव भागवत धार्मिक सम्प्रदायों की पौराणिक धर्म की दिशा में प्रगति हो चुकी थी । देवताओं के मानवरूप की अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप उनकी विविध प्रकार की मूर्तियों का निर्माण होना स्वाभाविक था तथा उन कृत्रिम देवताओं की पूजा और प्रतिष्ठा के लिए देवालय देवगृह देवायतन अथवा गर्भगृह का निर्माण भी सास्कृतिक आवश्यकता थी । गुप्तकाल क मदिरों के उदाहरण उनकी निर्माण विधि और कलाकृति की विविधताओं के परिचायक हैं । सादगी सन्तुलन और उपयोगिता उनकी विशेषताएँ हैं । अधिकाश मदिर चपटी छत वाले तथा वर्गाकार हैं । गोलाकार और शिखर वाले मदिरों के उदाहरण भी उपलब्ध हुए हैं । मदिरों के सामने साधारणतया कम ऊँचाई का उथला द्वार मण्डप कुछ उदाहरणों में स्तम्भों पर आधारित मण्डप भी इन मदिरों की एक विशेषता है । इनमें स अधिकाश मदिर सुधरे हुए शिलाखण्डों से निर्मित हैं । कुछ गुप्तयुगीन मदिर शैलकृत (गिरि कीर्तित) हैं और बहुत कम ईंटों से बनाये हुए हैं । लगभग सभी गुप्त काल के मदिर साधारण आकार साधारण लम्बाई चौडाई के हैं । इसमें सन्देह नहीं कि गुप्तयुगीन हिन्दू मदिर स्थापत्य में बौद्ध स्थापत्य विशेषरूप से स्तूप और चैत्य गृह की परम्पराओं का प्रभाव पडा था ।

गुप्तकाल के मदिरों में निम्नलिखित मदिर उल्लेख्य हैं (1) मदिर सख्या 17 साची का बौद्ध मदिर (2) भूमरा का शिव मदिर (नागोद राज्य मध्यप्रदेश) (3) तिगवा का विष्णु मदिर (अजयगढ राज्य) (4) देवगढ का दशावतार विष्णु मदिर (झासी जिला) (5) खोह का शिव मदिर (नागोद राज्य) (6) दर्रा का शिव मदिर (मालवा) (7) नालन्दा का पत्थर पट्टी बौद्ध मदिर (8) राजगीर का मणियार मठ (मणिनाग मदिर) (9) नालन्दा का मुख्य बौद्ध मदिर (10) बुद्धगया का महाबोधि मदिर (11) कानपुर का हिन्दू मदिर (12) बेमाम का विष्णु मदिर (दीनाजपुर जिला) (13) दह पर्वतिया कि हिन्दू मदिर (दर्रम असम) (14) खोह तथा एरण के ध्वस्त मदिर (15) मुण्डेश्वरी का मदिर (झबुआ आरा जिला विहार) (16) उदयगिरि (विदिशा) के गुफा मन्दिर ।

उपर्युक्त सूची का विस्तार किया जा सकता है । परन्तु नष्टप्राय मदिरों के अवशेषों के आधार पर उनकी ऐतिहासिक अथवा कलात्मक समीक्षा करना कठिन है । उपर्युक्त सूची में परिगणित सभी मदिर अब सुरक्षित नहीं है । यहाँ ऐतिहासिक महत्त्ववाले एव मदिर स्थापत्य कला की विकास क्रिया पर प्रकाश डालने वाले कुछ मदिरों का सक्षिप्त विवरण देना असगत न होगा ।

चपटी छत वाले वर्गाकार मदिरों में सर्वप्रथम उल्लेख्य साची का 17वा बौद्ध मदिर है (चित्र 67) । यह प्रस्तर खण्डों का बना एक तले का चपटी छत व वर्गाकार गर्भगृह युक्त साधारण मण्डप है । मण्डप के चार स्तम्भों और दो भित्ति स्तम्भों में प्रत्येक में एक दण्ड घण्टाकार कमल केवल पट्टी युक्त गर्दन तथा शीर्ष फलक के उपर सिंह शीर्षक है । प्रवेश द्वार के तिरछे पाखे (धरन) में खडी फूलपत्ती और गुलाबवत् डिजायन बनी हुई हैं । मदिर में कोई मूर्ति नहीं है । यह मदिर पाचवीं सदी
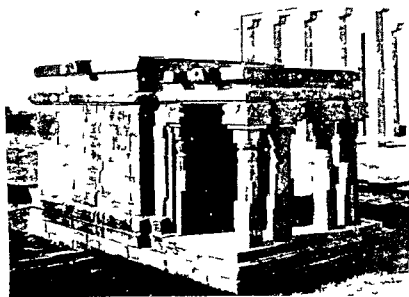
चित्र–67 चपटी छतवाला साची का १७ वा मन्दिर

के पूर्वाद्ध का माना जाता है ।

भूमा (नागोद राज्य मध्यप्रदेश) का शिव मंदिर भी पाचवा शताब्दी का है । इसमें एक वर्गाकार गर्भगृह के चारों ओर चार दीवारें थी जो गर्भगृह का प्रदक्षिणापथ बनाती थी । इसके सामने एक मण्डप था । यह मंदिर ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है ।

तिगवा (जिला जबलपुर) का विष्णु मंदिर गुप्तकालीन मंदिर का उत्तम नमूना है । इसका गर्भगृह 12 1/2 वर्ग फुट है जिसके भीतर 8 फुट व्यास वाला कक्ष है । सामने का मण्डप 7 फुट बड़ा है । इसमें भी चार स्तम्भ मण्डप के और दो भित्ति स्तम्भ है । मण्डप के स्तम्भों के मुख्य भाग वही हैं जिनका उल्लेख साची के 17वें मंदिर के सम्बन्ध में किया गया है । एक सादा वर्गाकार आधार (पाद पीठ) एक छोटा अष्टमुखी दण्ड एक पूर्ण कलश (शीर्ष) तथा एक शीर्षफलक जिसके ऊपर सिंह हो ये गुप्त युग के मन्दिरों के स्तम्भों के मुख्य अंग हैं । प्रवेशद्वार कलापूर्ण रहता है पत्रवल्ली अथवा गंगा यमुना की मूर्तिया तथा मानव मूर्तिया द्वारा पाखों में उत्कीर्ण की गई है ।

गंगा यमुना का यह चित्रण पूर्ववर्ती बौद्ध तोरणों के तिरछे प्रस्तर पादांगों (आर्किट्रेव्स) पर उत्कीर्ण शालभंजिका के चित्रों से प्रभावित प्रतीत होता है । यह स्मरणीय है कि कालिदास के कुमारसम्भव में गंगा यमुना की मूर्तियों का उल्लेख हुआ है ।

देवगढ़ (झासी) के दशावतार मंदिर में गुप्त वास्तुशिल्प के लगभग सभी गुण विद्यमान हैं। बेतवा नदी के तट पर उपलब्ध होने वाले इस भग्न विष्णु मंदिर का निर्माण लगभग 5 फुट ऊंचे चबूतरे पर किया गया है। यह लगभग साढ़े पैतालीस (45 1/2) फुट वर्गाकार भूमि के मध्य में बना है । गर्भगृह बाहर से 18 फुट और भीतर से 9-3/4 फुट है ।[12] मंदिर के चबूतरे पर चढ़ने के लिए सोपान बने हैं । मंदिर की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता उसका ह्रासोन्मुखी ऊपरी शरीर है जिसे शिखर का प्रारम्भ माना जा सकता है । मंदिर का ऊपरी भाग अब नष्ट हो गया है । अपने पूर्ण रूप में मंदिर की ऊंचाई लगभग ४० फुट रही होगी । मंदिर के भित्ति स्तम्भों पर बनी कलाकृतिया बौद्ध स्तूप की वेदिका (वैलस्ट्रेड) चैत्य वातायन तथा रथिक बिम्बों (इमेजेज इन निचेज) से स्पष्ट रूप से प्रभावित हैं । द्वार पाखे पर अनेक भांति की मूर्तियाँ रचित हैं इनमें प्रतिहारी मूर्तिया मंगल विहग श्री वृक्ष स्वस्तिक पूर्णघट पत्रवल्ली मिथुन दम्पति आदि का अंकन उल्लेखनीय है । वस्तुतः देवगढ़ का यह मंदिर शिल्प और वास्तु के समन्वय का एक उच्चकोटि का नमूना प्रस्तुत करता है ।

नाचनाकुठारा (अजयगढ़ के निकट मध्यप्रदेश) का पार्वती मन्दिर[13] सम्भवतः पाचवी सदी में निर्मित हुआ था । लगभग इसी काल का शिव मन्दिर भूमा (नागोद मध्यप्रदेश) में था जो अब नष्ट हो गया है । पार्वती मंदिर की छत भी चपटी है । इस मंदिर की योजना सरल है । सम्पूर्ण मंदिर 35 फुट चौड़े वर्गाकार पादपीठ अथवा चबूतरे पर स्थित है । 15 फुट वर्गाकार भवन के भीतर 8-1/2 फुट व्यास का गर्भगृह बना है । चबूतरा सामने की ओर 12 फुट बाहर को विस्तृत है जिसमें चढ़ने के लिए सीढ़िया बनी है । मंदिर के गर्भगृह के बाहर एक सुरक्षित प्रदक्षिणापथ था । प्रथम प्रवेश द्वार के ठीक ऊपर एक विस्तृत चौकोर वातायन है । प्रवेश द्वार पर गुप्तयुगीन अलंकरण भूमा के शिव मंदिर की

12. गुप्त परमेश्वरी लाल, गुप्त साम्राज्य, वाराणसी, 1970 पृ० 607

13 बनर्जी राखलदास, (द एज ऑव इम्पीरियल गुप्त ज, पृ० 138-39) ने उसे शिव मंदिर कहा है ।

भाति आकर्षक है । यहाँ गगा यमुना के अतिरिक्त मिथुनों का भी अकन हुआ है । मुहार (फैकेड) पर उत्कीर्ण चित्र शैल कृत कला के अनुरूप हैं ।

बेग्राम (दिनाजपुर बगाल) में ईटों से निर्मित भगवान गोविन्द स्वामी का मन्दिर भी भूम्रा और नाचनाकुठारा मदिरों की ही योजना पर बना प्रतीत होता है । नाचनाकुठारा का महादेव मदिर तथा सिरपुर का लक्ष्मण मदिर समकालिक रचनाएँ हैं । भूम्रा एव नाचना कोठारा के मदिर सम्भवत परिव्राजक महाराजाओं के समय बने थे । इन मदिरों के गर्भगृह के उपर बनी कोठरी इनकी अनन्य विशेषता है । बहुत कम लेखकों ने झबुआ के निकट मुण्डेश्वरी मदिर (शाहाबाद अथवा आरा बिहार) का वर्णन किया है । एक अभिलेख के अनुसार यह मदिर सातवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में विद्यमान था। मूलरूप स यह विष्णु मण्डलेश्वर मदिर था जिससे मुण्डेश्वरी नाम बना है । सम्भवत पालयुग में इसमें अनेक परिवर्तन हुए तथा मौलिक मदिर का विन्यास स्मरणीय है । राखलदास बनर्जी ने सर्वप्रथम इस मदिर के चित्र प्रकाशित किए और इसका सक्षिप्त परिचय दिया ।

आधार कुर्सी (प्लिन्थ) पर बने कीर्ति मुखों के मुँह से लटकी हुई मालायें प्रवेश द्वार के पाखे पर अकित गगा यमुना की मूर्तिया द्वार के दोनों ओर के लम्बवत दण्डों के अधोभाग पर उत्कीर्ण मानव मूर्तिया स्तम्भों तथा भित्ति स्तम्भों पर कीर्तित चैत्य वातायन पक्तिया इस मदिर में भी उपलब्ध हैं और श्री हर्ष के शासन काल की स्थापत्य एव तक्षण कला का परिचय प्रस्तुत करती हैं ।

तेजपुर के पास दह पर्बतिया (जिला दर्रम असम) का गुप्त कालीन मदिर ध्वस्तावस्था में है । इसका प्रवेश द्वार उल्लेखनीय है जिसमें पाच चैत्यवातायन हैं ।

प्रारम्भिक गुप्तयुग के मदिरों में दर्रा (कोटा जिला राजस्थान) का प्रस्तर निर्मित शिव मदिर एक उल्लेखनीय वास्तु रचना है । पश्चिमी मालवा का यह मदिर 74 फुट लम्बे तथा 44 फुट चौडे उठे हुए आसन पर स्थित है । उस पर चढने के लिए सामने की ओर दो सोपान बने हुए हैं । सम्पूर्ण छत एक शिलाखण्ड से ढक दी गई है । छत के भीतरी भाग में कमल के अलकरण का प्रयोग हुआ है । मदिर के चतुर्दिक प्रदक्षिणापथ है निकट में मुख मण्डप के अवशेष हैं । निकट ही आधुनिक चबूतरे पर स्थापित एक विशाल शिवलिंग प्राचीन मदिर का ही प्रतीत होता है । वासुदेव शरण अग्रवाल के विचार में बनावट की सादगी छोटा गर्भगृह चपटी छत तथा अलकरण व वास्तु विन्यास के लक्षणों के आधार पर इस मदिर को गुप्तकाल के प्रारभिक वर्षों में रखा जा सकता है ।

कानपुर के निकट भीतरगाव का प्रसिद्ध मदिर ईटों का बना हुआ है । चौथी या पाचवी सदी में निर्मित यह हिन्दू प्रासाद हिन्दू और बौद्ध स्थापत्य की शैलियों का उत्तम सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है । इसके तथा बुद्ध गया के बौद्ध मदिर (महाबोधि) के विन्यास में बहुत साम्य है यद्यपि महाबोधि मदिर भीतरगाव के मदिर से कहीं अधिक बडा और श्रेष्ठतर है । भीतरगाव के मदिर की एक प्रमुख विशेषता उसमें मेहराब (आर्च) का होना है । यह पिरामिडीय मदिर प्रारम्भ में शिखर युक्त था । एक ऊँची कुर्सी (प्लिन्थ) पर खडा यह 70 फुट ऊँचा मदिर मीनार की भाति ऊपर को ह्रासोन्मुखी है । इसके विस्तार का परिमाप 36 फुट वर्गाकार है । भीतरी कक्ष 15 फुट चौकोर है । पूर्व की ओर एक मुखमण्डप है । इस मुखमण्डप तथा गर्भगृह को मेहराब द्वारा मिलाया गया है । दीवारों के बाहरी भाग पर मृण्मय अलकरण तथा उत्कीर्ण ईटों की सहायता से बनी शिल्पकला दर्शनीय है ।

भारत के विभिन्न भागों में किया गया। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल में प्राकृतिक चट्टानों को काट कर भी मदिरो का निर्माण किया गया। इस प्रकार के मदिरों को गुफा मदिर अथवा शैल दवगृह कहा जाता है। भिलसा बेसनगर या विदिशा (मध्यप्रदेश का मालवा क्षेत्र) नामक स्थान स लगभग 2 माल दूर उदयगिरि में 9 गुफा मदिर उत्कीर्ण हैं। एक स नौ तक गणना-क्रम सम्भवत इनकी रचना का कालक्रम भी सकेतित करता है। प्रथम एव नवें के अतिरिक्त बीच के सभी शैल कृत मदिरों की वास्तु योजना साधारण है। उनके कक्ष गुप्तयुगीन उपर्युक्त मदिरों की भाति सादगीपूर्ण और चौकोर हैं। गुफा मदिर न 1 को झूठी गुफा (फॉल्स केव) कहा जाता है। यह न पूर्णत प्राकृतिक है और न ही पूर्णत कृत्रिम। इस गुफा (लयण) का सामने का भाग एव एक किनारा चिनाई कर खडा किया गया है। इसकी छत नैसर्गिक पर्वत क आगे निकले भाग से बनी है। इसकी छत भी चपटी है। सामने क चार स्तम्भों को पक्ति को कुशलतापूर्वक व्यवस्थित किया गया है। उदयगिरि की यह गुफा हिन्दू शैल देवगृह का प्राचीनतम उदाहरण है।[16] उदयगिरि गुफा मदिर नौ अमृत गुफा कहलाती है। यह सर्वाधिक विसक्ति गुफा है। गुफा सख्या 2 और 3 शैल कृत मदिर शिल्प का विकास सकेतित करती है। तीसरी गुफा में सामने के मुखमण्डप के चार स्तम्भों के अतिरिक्त दोनों ओर दो छोटे स्तम्भ भी हैं। लगभग सभी गुफा मदिर के प्रवेश द्वार विपुल और प्रशस्त पच्चीकारी से भर हैं। सभी स्तम्भ गुप्त शैली के हैं वर्गाकार कुर्सी पर अष्टमुखी दण्ड तथा उसके उपर पूर्णकलशशीर्ष। अमृत गुफा सबसे बाद की और सर्वाधिक कलापूर्ण है। इसका गर्भगृह 22 फुट लम्बा तथा 19 फुट 4 इच चौडा है। चारों स्तम्भ 8 फुट ऊची चट्टान काट करके बनाये गये हैं। प्रवेश द्वार कलापूर्ण है मुखमण्डप स्वतत्र शिला खण्डों का बना है जिसमें तीन वातायन हैं। इसमें एक स्तम्भ युक्त मण्डप भी जोडा गया है। इसके प्रवेशद्वार में समुद्र मन्थन के दृश्य के अतिरिक्त मकरवाहिनी का अकन किया गया है।

उदयगिरि की चतुर्थ गुफा की दीवार पर वराह का विख्यात उच्चित्रण हुआ है। वराह के दोनों ओर मकर वाहिनी गगा एव कूर्म वाहिनी यमुना का घटयुक्त नारी रूप में शिल्पाकन दर्शनीय है। पाचवी गुफा में द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सामन्त सनकानिक का गुप्त सवत् के 82 वें वर्ष (401 ईसवी) का अभिलेख उत्कीर्ण है। यह गुफा 14 फुट लम्बी एव 12 फुट 6 इच चौडी है। उक्त गुफा से कुछ दूरी पर पर्वत काटकर छठी गुफा निर्मित की गयी है। इसकी छत तवानुमा पत्थर की हाने के कारण इसे तवा लयण भी कहा जाता है। गुफा क आयताकार कक्ष की दीवार पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात हाता है कि उसे द्वितीय चन्द्रगुप्त क मत्री वीरसेन (पाटलिपुत्र निवासी) ने निर्मित कराया था। सातवी गुफा में की गई शिल्पकारी विख्यात है। वहाँ अनन्त शय्या का शिल्पाकन दर्शनीय है। भगवान विष्णु शेषनाग पर लेटे हुए हैं और गरुड तथा सात अन्य आकृतिया उनके निकट हैं। आठवीं गुफा में गणेश और माहेश्वरी का उच्चित्रण उल्लेखनीय है। उदयगिरि की 9 वीं गुफा जैनधर्म से सम्बन्धित है जिसमें कभी पार्श्वनाथ की स्थापना की गई थी। इसका निर्माण गुप्त सवत् के 106 वें वर्ष में हुआ था। इन गुफाओं की एक विचित्रता यह है कि इनमें सरचनात्मक एव गुहा वास्तु का सम्मिलित रूप दिखाई देता है जो एक विरल प्रयोग ही है।

गुप्तकालीन ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित एक अन्य गुफा मदिर का निर्माण बिहार प्रान्त के

16 ब्राउन पर्सी इण्डियन आर्किटेक्चर बम्बई 1959 1 पृ० 49 ।

भागलपुर जिल स्थित मन्दारगिरि में किया गया था। पहाडी के भग्न विष्णु मदिर से पश्चिम की ओर एक 15 फुट लम्बा एव 10 फुट चौडा कक्ष है। इसकी छत कुब्ज पृष्ठ है। यहाँ पवत में नृसिह की उकेरी गयी मूर्ति है। इस गुफा में प्राप्त हान वाला अन्य मूर्तियों की पहचान वामन मधु और कैटभ से की गई है। यहाँ म चौथी पाचवी शताब्दी ईसवी की गुप्तयुगीन ब्राह्मी लिपि में एक अभिलेख मिलता है। यह भूभाग गुप्तों के राज्य में सम्मिलित था। अत उक्त अभिलेख में उल्लिखित वर्ष 30 की तिथि क गुप्त सवत की तिथि होने की सम्भावना अधिक है।

गुप्तकाल में ही सम्भवत ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने सर्वप्रथम बौद्धों की भाति प्राकृतिक गुफाओं का मदिर वास्तु के रूप में विकास किया। लयण चैत्य एव विहार निर्माण की जिस नवीन वास्तुपरम्परा का प्रारम्भ बौद्धों ने किया उसी की अनुकृति पर जैन एव ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों ने गुहावास्तु के विकास में अपनी रचनात्मक भूमिका निभाई।

गुप्तकालीन कुछ महत्वपूर्ण स्तम्भ -- गुप्तकालीन स्थापत्य कला क वणन में उस युग के कुछ महत्वपूर्ण स्वतत्र स्तम्भों का उल्लख समीचीन हागा। इनमें से एक प्रस्तर निर्मित तथा दूसरा लौह निर्मित है। मध्यप्रदेश के सागर जिल में एरण नामक स्थान से गरुड स्तम्भ प्राप्त होता है। अभिलख के अनुसार गुप्त सवत् के 165 वें वर्ष (ई 484-485) में बुद्धगुप्त के शासनकाल में मातृविष्णु द्वारा उक्त स्तम्भ विष्णु भगवान को समर्पित किया गया था। एक ही पाषाण खण्ड म निर्मित यह सुन्दर वैष्णव स्तम्भ 43 फुट ऊचा है। स्तम्भ का 20 फुट तक का निचला भाग 2 फुट 10 ईच वर्गाकार है। उसके उपर 8 फुट तक अठपहल है। इसके उपर 3 फुट व्यास वाला 3 फु 6 इच ऊचा कटावदार घण्ट की आकृति का शीर्ष है। उसके ऊपर डेढ फुट ऊची प्रस्तर चौकी है तथा उसके उपर तीन फुट की दूसरी चौकी है जिसका नीचे का आधा भाग सादा है। उसक उपर क आधे भाग में चारों आर बैठे हुए सिंह युग्म हैं। इन सबके उपर 5 फुट ऊची गरुड की दोरुखी मूर्ति है। इस मूर्ति क पीछ चक्र का अकन है। इसके पास ही दूसरा कुछ छोटा स्तम्भ है जिसका शीर्ष भाग गिर गया है इस पर भानुगुप्त क सेनापति गोपराज के हूणों के साथ युद्ध में काम आन की सूचना उत्कीर्ण है।

स्कन्दगुप्त के काल का एक ध्वजस्तम्भ कहाँव (जिला देवरिया) मे मिला है। प्रस्तर निर्मित इस स्तम्भ का निचला भाग चौकोर है। इसक कटावदार घटानुमा उसी प्रकार का शीर्ष है जैसा महरौला स्तम्भ में है। इसमें शीर्ष पर बनी चौकी में चार तीर्थंकरों का उच्चित्रण है। गाजीपुर जिले के भितरी नामक स्थल से भी स्कन्दगुप्त की प्रशस्तियुक्त प्रस्तर स्तम्भ प्राप्त हुआ है। यह भी सम्भवत ध्वज स्तम्भ ही था। मन्दसौर से यशोधर्मन विष्णुवधन का कार्ति स्तम्भ मिला था।

गुप्त युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव बहुचर्चित कीर्तिस्तम्भ दिल्ली से 19 किलोमीटर दूर मेहरौली की कुतुब मस्जिद के प्रागण में स्थित है। यह पाचवी शताब्दी ई का स्तम्भ स्थूलत माना जाता है। इस लौह स्तम्भ में चन्द्र नामक राजा का अभिलेख उत्कीर्ण है। चन्द्र की पहचान सामान्यत द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य स की जाती है। सम्भवत यह स्तम्भ मूलत मथुरा में था जहाँ स 1050 ई में तामर राजा अनगपाल द्वितीय द्वारा दिल्ली नगर की स्थापना क समय दिल्ला लाया गया। इस स्तम्भ की शीर्ष सहित ऊचाई 23 फुट 8 ईच है। शुद्ध लचीले लोहे से विनिर्मित इस स्तम्भ का कुल भार 6 टन से अधिक आका गया है। आरम्भ में इस स्तम्भ के शीर्ष में विष्णु वाहन गरुड प्रतिमा थी जो अब लुप्त हो गयी है। स्तम्भ का सबसे ऊपरी भाग चौकोर है। उसके नीचे खरबूजे की आकृति का

भाग है जो कलश के विकास-क्रम की ओर सकेत करता है। इसके नीचे घट की आकृति सरीखा (पद्मकोश ?) भाग है जिसकी रचना में पर्सिपोलिस की शिल्पकला का प्रभाव बताया गया है। यह स्तम्भ धातु परिशोधन एव धातु को पिघलाकर विशाल स्तम्भ ढालने की कला में प्राचीन भारत में हुयी प्रगति का प्रतीक है। लगभग 15 सौ वर्षों से प्रकृति के मुक्त वातावरण में आधी तूफान वर्षा आदि झलने के पश्चात् भी इस स्तम्भ में जग नहीं लगी है।

भारत में विशाल स्तम्भों के निर्माण की परम्परा का ऐतिहासिक प्रारम्भ मौर्य सम्राट अशोक क काल में निर्मित एकाश्मक स्तम्भों से माना जाता है। अशोकीय एकाश्मक स्तम्भों से परवर्ती शासक भी प्रभावित हुए। सामान्यत दो प्रकार के स्तम्भ निर्माण की परम्परा मौर्येतर युग में दिखाई देती है कीर्तिस्तम्भ निर्माण एव ध्वज स्तम्भ निर्माण। समुद्रगुप्त ने प्रथमत अशोकीय स्तम्भ पर इलाहाबाद में अपनी प्रशस्ति उत्कीर्ण कराई थी। मेहरौली में चन्द्र नामक राजा की कीर्ति का विवरण लौहस्तम्भ में उत्कीर्ण है। धार्मिक भावनाओं के द्योतक ध्वज स्तम्भों के निर्माण की परम्परा (स्वतत्र रूप स अथवा मदिर के सम्मुख) का प्रारम्भ द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में बेसनगर (प्राचीन विदिशा दशार्ण अथवा पूर्वी मालवा की राजधानी आकर मध्यप्रदेश) में दिखाई दता है। वहा से यवनराज अतलिकित (एण्टियाल्किडास) के द्वारा शुग नरेश भागभद्र के पास भजे गये यवन दूत हलियादोर का गरूड स्तम्भ मिला है। यह भागभद्र के शासनकाल के 14 वें वर्ष में लिखवाया गया था। लेख में हेलियोदोर अपने को भागवत कहता है। यहाँ स एक और विष्णु मदिर क आगन में स्थापित गरुड ध्वज क अवशष भी मिलत हैं। एरण में बुधगुप्त के शासनकाल में मातृविष्णु एव धन्यविष्णु नामक भाईयों ने जो गरुड ध्वज स्थापित किया था वह स्तम्भ निर्माण की द्वितीय परम्परा का उल्लेखनीय उदाहरण है।

प्राचीन चालुक्य मन्दिर स्थापत्य का विकास — मदिर निर्माण की जो प्रक्रिया गुप्तकाल में उत्तरी भारत के विस्तृत क्षेत्रों मे प्रारम्भ हुयी उससे दक्षिणी भारत अछूता नही रहा। नागार्जुनीकोण्ड के उत्खनन में तीसरी शताब्दी ईसवी के इक्ष्वाकु युगीन मदिरों क अवशेष प्राप्त हुये हैं। उन अवशेषों स ज्ञात होता है कि उस समय दक्षिण भारत के मदिरों में गर्भगृह के साथ महामण्डप व अर्धमण्डप बनन लगे थे। गापुर प्राकार एव ध्वजस्तम्भ का भी विधान मदिर के साथ हा गया था।[17] कृष्णा तुगभद्रा के काठे में अयहोल पट्टडक्ल आदि स्थलों में नागर एव द्रविड दोनों शैलियों क मदिर निर्मित किये गये। कर्नाटक प्रान्त में बादामी अयहोल और पट्टडकल नामक प्राचीन नगरों में प्रारम्भिक पूर्वी चालुक्य एव प्रारम्भिक पश्चिमी चालुक्य राजाओं के शासन काल मे अनेक मदिरों का निर्माण किया गया। यह मदिर चालुक्यों की शक्ति सामर्थ्य एव कलात्मक अभिरुचि के प्रतीक होने के साथ साथ भारतीय वास्तुकला की एक विशिष्ट शैली के परिचायक हैं।

प्रारम्भिक चालुक्य मदिर स्थापत्य के विकास केन्द्र अयहोल बादामी (वाटापी) तथा पट्टडकल बीजापुर जिले तक ही सीमित हैं। अयहोल में लगभग 70 देवालय हैं जिनमें से लगभग 30 मदिर एक बुर्जदार घेरे में अन्तर्निहित हैं। इनमें अधिकाश हिन्दू मदिर हैं थोडे से जैन मदिर हैं। बादामी के मदिर शैलकृत हैं। अयहोल तथा बादामी के मदिर समकालीन हैं परन्तु पट्टडक्ल के मदिर सातवी तथा आठवी शताब्दियों के हैं। निसन्देह चालुक्य मदिर स्थापत्य के विकास में दो अवस्थाएँ अथवा

17 भारतीय वास्तुकला पृ० 147–48

युग ध्यातव्य है। प्रारम्भिक मदिर गुप्तकालीन मदिरों से साम्य रखते हैं उनकी छतें चपटी हैं अथवा थोडी सी झुकी हुई हैं। परन्तु विकसित मदिरों में दो मजिलें प्रतीत होती हैं शिखर ने ही दूसरी मजिल का रूप ले लिया है। अयहोल के मदिरों के साथ मुखमण्डप अथवा स्तम्भयुक्त मण्डप आवश्यक रूप से हैं। दक्षिण भारतीय मन्दिर स्थापत्य का प्रारम्भिक रूप पट्टडकल के मन्दिरों में देखा जा सकता है। पाचवी शताब्दी के मध्य में निर्मित लाद खान मन्दिर (अयहोल पट्टडकल से 22 किलोमीटर दूर) यहाँ का प्राचीनतम मन्दिर माना जाता है। यह सामान्य ऊचाई का चपटी छत का भवन है इसका आयोजन 50 फुट भूमि पर विस्तृत लगभग वर्गाकार है। उपरी भाग में एक छोटी दूसरी मजिल है। इसके तीन ओर से पत्थर की दीवारें हैं। इनमें दो ओर की दीवारों पर जालीदार पर्दे की तरह के शिलाखण्डों का प्रयोग हुआ है ताकि भीतर प्रकाश पहुँच सके। पूर्व की ओर प्रवेश द्वार है जिसके सामने खुला स्तम्भ मण्डप बना है। भीतर एक कक्ष है जो स्तम्भ युक्त मण्डप की तरह लगता है क्योंकि इसमें दो वर्गाकार स्तम्भ समूह हैं एक स्तम्भ समूह के अन्दर दूसरा स्तम्भ समूह बनाया गया है जिससे चारों ओर दोहरा पार्श्व बन गया है। मध्य में एक विशाल नन्दि प्रतिमा बनी हुई है। मूलरूप से यह वैष्णव मन्दिर था परन्तु बाद में जोडी गई नन्दिमूर्ति से यह शैव मन्दिर बन गया है। इस मन्दिर की यह असामान्य वास्तुयोजना पर्सी ब्राउन के विचार में प्राचीन सभागृह (सथागार) पर आधारित है। बुद्धकालीन गणराज्यों के सथागार पालि साहित्य में सुविदित है।

लाद खान मदिर के स्तम्भ सादे चौकोर दण्ड वाले हैं उनके उपर चौकोर दोहरा फलक रहता है परन्तु भित्ति स्तम्भों के उपरी भाग कुछ पतले हो गये है जिनके उपर गद्दी शीर्ष (कुशन केपिटल) है। मुखमण्डप में बना हुआ पाषाण आसन उल्लेख्य है मण्डप के स्तम्भ भारी और विशालकाय हैं। मन्दिर की दीवारें समानुपातिक नहीं हैं। छत की रचना विशिष्ट है। लाद खान मन्दिर की शैली में बने हुये *अयहोल के अन्य मन्दिरों में कान्तगुडी मन्दिर उल्लेख्य है।*

अयहोल में दुर्गा मन्दिर बौद्ध चैत्य गृह के विन्यास पर बनाया गया है। छठी शताब्दी में बना यह मन्दिर गज पृष्ठाकार है। बाहर से यह 60 फुट लम्बा और 36 फुट चौडा है परन्तु इसके अतिरिक्त इसके पूर्व मुख के सामने एक विस्तृत बरामदा है जो 24 फुट है इस प्रकार सम्पूर्ण मन्दिर की लम्बाई 84 फुट होती है। ऊची कुर्सी पर निर्मित चपटी छत वाले इस मदिर की ऊचाई 30 फुट है। इस मन्दिर की छत चपटी और गज पृष्ठ (अप्से) की भाति है। इस गज पृष्ठ के उपर एक पिरामिडीय शिखर है इस शिखर के शिलाखण्डों पर विविध प्रकार की तक्षण कला है। मन्दिर की गवाक्ष वातायन के आकार की ताखें (निचेज्) उल्लेखनीय है। मन्दिर के आकर्षक अग के रूप में परिस्तम्भित बरामदे का उल्लेख किया जा सकता है (पेरिप्टरल एक्स्टेरियर)। यह बरामदे की स्तम्भावलि (कोलोनेड) से बना एक प्रकार का प्रदक्षिणापथ है जो भवन के चारों ओर होकर मुखमण्डप में मिलता है। उक्त बरामदे में पहुँचने के लिए सामने के भाग में दोनों ओर सोपान (सीढियाँ) हैं। बरामदे के अन्दर एक अन्तराल (वेस्टिबुल) है। यह भी परिस्तम्भित है। इसके अन्दर प्रवेशद्वार है। भीतरी कक्ष 44 फुट लम्बा है जो स्तम्भों की दो पक्तियों द्वारा एक नाभि (निवे) और दो पार्श्वों में विभक्त हो गया है। गर्भगृह उल्टे कटोरे की तरह हो गया है।

इस श्रेणी का दूसरा मन्दिर हुच्छीमल्लीगुडी नाम का है परन्तु इसमें दुर्गा मदिर की तरह गज पृष्ठ तथा स्तम्भित बरामदा नही है। पर्सी ब्राउन के अनुसार अयहोल के मदिरों के **शिखर** परवर्ती काल

में निर्मित किये गये है। इस मदिर का शिखर दुर्गामदिर से अधिक स्पष्ट है। मुख्य मदिर के उपर का यह भाग पिरामिडीय है और बहुकोन शिखर (एपिसस) की तरह लगता है। इस मन्दिर की दीवारें तथा स्तम्भ भी सादगीपूर्ण हैं परन्तु मुखमण्डप के आसन की तिरछी पक्तियों में फूल पत्ती सहित कलश अथवा गुलदस्ते की सजावट उल्लेख्य है। केन्द्रीय गर्भगृह के चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ है। गर्भगृह वर्गाकार है। भीतर के मुख्य कक्ष और गर्भगृह के बीच यह अन्तराल सर्वप्रथम हुच्छीमल्लीगुडी मन्दिर में दिखाई देता है।

अयहोल के अन्य उल्लेख्य मन्दिरावशेषों में मेगुती जैन मन्दिर है जो वहा उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार 634 ई में बना था। इसके निर्माण में लघु शिलाखण्डों का प्रयोग हुआ है। बाह्य भित्ति स्तम्भों के कोष्ठकीय शीर्षकों (ब्रेकेट) का निर्माण कुशल और अलकृत है। इस मन्दिर में भी केन्द्रीय देवगृह के बाहर स्तम्भयुक्त सभागार है। भवन के कई भागों में तक्षणकला अपूर्ण है इससे यह परिलक्षित होता है कि शिल्पी तथा स्थपति पहले भवन को निर्मित कर लेते थे और तदुपरान्त काट छाट और पच्चीकारी करते थे। इससे यह भी स्पष्ट है कि अयहोल के इन मन्दिरों की निर्माण कला में बौद्ध गिरि कीर्तित चैत्य गृहों की निर्माण कला का प्रभाव पडा था।

अयहोल के अतिरिक्त प्रारम्भिक चालुक्य स्थापत्य का दूसरा प्रसिद्ध केन्द्र बादामी (प्राचीन (वाटापी) है जो चालुक्यों की राजधानी था। छठी शताब्दी के बहुत से भवनों के अवशेष यहाँ पर विद्यमान है। पट्टडकल से 13 किलोमीटर दूर स्थित इस पुरातन चालुक्य राजनगरी के चार शैल कृत मन्दिर सर्वाधिक आकर्षक एव महत्वपूर्ण हैं। इनमें से एक जैन धर्म म तथा तीन हिन्दू धर्म से सम्बन्धित हैं । तीसरे नम्बर के (हिन्दू) गुफा मन्दिर पर पुलकेशी प्रथम के पुत्र मगलेश (597 98-610 11) के समय का अभिलेख है। यह ऐतिहासिक एव विश्वसनीय तिथि हिन्दू शैल कृत मन्दिरों के विकास के अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गुप्त युगीन उदयगिरि के शैलकृत मन्दिरों के पश्चात हिन्दुओं के गुफा मन्दिरों तथा शैलकृत मण्डपों के उदाहरण सर्वप्रथम बादामी में ही उपलब्ध होते हैं ।

इन चारों गुहा मन्दिरों के समक्ष पहले एक खुला प्रागण था। सबसे बडे गुहा मन्दिर के चारों ओर एक प्राकार है। उपर जाने के लिए सीढिया हैं । प्रवेश द्वार की सुन्दर तराशे हुए पत्थरों की सगीन चिनाई प्रशसनीय है। अपने बाह्यरूप एव आन्तरिक रचना में ये सभी गुहा मदिर एक स हैं । सभी के तीन मुख्य विशेताए हैं (1) एक परिस्तम्भित बरामदा (2) एक स्तम्भावलि वाला कक्ष (3) एक लघु वर्गाकार गर्भगृह । प्रत्येक गुहा मन्दिर के पादपीठ पर नृत्य करते हुए गणों की कतार उत्कीर्ण हैं । भीतरी कक्ष की दीवारों पर उत्कीर्ण प्रतीकात्मकबिम्ब परिकल्पित दृश्य और रहस्यमय जगत वस्तुत निष्णात कला का नमूना प्रस्तुत करते हैं । अविकसित वास्तु की कमियों को उत्कृष्ट एव समृद्ध मूर्तिशिल्प ने ढक दिया है।

बादामी के इन गुफा मन्दिरों के स्थापत्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं इनके बरामदों के स्तम्भ । गुहा न 3 की स्तम्भावलि के स्तम्भ बहुमुखी हैं परन्तु अन्य सभी दण्डों के खण्ड चौकोर हैं । स्तम्भों के शीर्षक (कैपिटल) द्विविध हैं ब्रेकेट अथवा कोष्ठकीय शीर्ष तथा कुशन अथवा गद्दी के आकार के शीर्ष । गुहा मन्दिर न 1 शैव मन्दिर है न 2 और न 3 वैष्णव मन्दिर हैं । गुहा मन्दिर न 3 सबसे बडा और सबसे पहले का है । इसके बरामदे अथवा मुहार की चौडाई 70 फुट है प्रत्येक कोने

के भित्ति स्तम्भ के अतिरिक्त इसकी स्तम्भावलि में छ स्तम्भ हैं । यह गुहा मन्दिर चट्टान के भीतर गर्भगृह तक 65 फुट गहरा है , इसका सभागृह जिसमें 14 स्तम्भ हैं गहराई का दोगुना चौडा है सम्पूर्ण गुफा 15 फुट ऊँची है । गुहा मदिर के प्रत्येक भाग पर प्रशस्त तक्षण कला है । बरामदे के स्तम्भों पर बडे परिश्रम और कुशलतापूर्वक शिल्प सचय हुआ है ।

अन्य दो (हिन्दू) गुफा मन्दिरों का द्वार मण्डप चार चार स्तम्भों का है । न 1 गुफा मन्दिर 42 फुट चौडा और भीतर की ओर 50 फुट (चट्टान के अन्दर) है । न 2 गुफा मदिर केवल 33 फुट चौडा है । बादामी में चौथी गुफा जैन मन्दिर का उदाहरण प्रस्तुत करती है । यह सम्भवत 7 वीं सदी की रचना है । इसकी रचना में उक्त हिन्दू गुहाओं का स्पष्ट प्रभाव है । इसके द्वार मण्ड अथवा मुहार में 4 स्तम्भ है ।

अयहोल के मन्दिरों के उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि चालुक्य नगरी हिन्दू प्रासाद (मन्दिर) के स्थापत्य शिल्प के जन्म स्थलों में से एक थी । यहाँ पर हमें मन्दिर के विमान के विकास के लक्षण दिखाई देते हैं । मदिर का उपरी भाग पिरामिडीय होता हुआ शिखर बनाता है जिसके उपर एक पसलीदार गोल पत्थर अथवा आमलक रख दिया जाता है। अयहोल का दुर्गामन्दिर इसी प्रकार का था। उसका आमलक नीचे गिरा हुआ है। हुच्छीमल्लीगुडी मन्दिर में भी उक्त प्रकार का शिखर था। यह दोनों मन्दिर उत्तरी शैली अथवा इण्डो आर्यन शैली के माने गये है। परन्तु अयहोल में दक्षिणी अथवा द्रविडियन शैली के मन्दिरों के उदाहरण भी विद्यमान है उदाहरणार्थ मेगुती मन्दिर 39 वा नम्बर का जैन मन्दिर तथा 53 वा नम्बर का मन्दिर।

बादामी में महाकूटेश्वर मन्दिर शिखर का पूर्ण विकास प्रस्तुत करता है। इसका गुम्बदी शीर्ष (डोमिकल फिनियल) अष्टमुखी है और चतुर्दिक छोटे छोटे मन्दिर मजिलों द्वारा घिरा हुआ है जो दक्षिणी शैली के मन्दिरों की विशेषता है। पर्सी ब्राउन का यह कथन कि महाकूटेश्वर मन्दिर अभिलेखानुसार 600 ई से पहले निर्मित हुआ सत्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि महाकूट के मन्दिर पर एक अभिलेख वीणापोति नामक वेश्या के दान का उल्लेख करते हुए यह सूचित करता है कि यह वेश्या चालुक्य राजा विजयादित्य (693 733 ई) की प्रिया भी थी। अतएव उक्त मन्दिर सातवीं आठवीं सदी में बना हागा। जिमर के अनुसार बादामी में मालेगित्तिशिवालय द्रविडियन शैली में निर्मित प्राचीनतम सरचनात्मक मन्दिर है जो 625 ई का है। कुमारस्वामी का यह कथन कि मालेगिति शिवालय मामुल्लपुरम रथों की शैली में बना एकमात्र अवशिष्ट मन्दिर है यह प्रारम्भिक पल्लव शैली का है और पुलकेशी द्वितीय द्वारा 611 ई में वेंगि विजय के परिणामस्वरूप चालुक्य नगरी में यह विशिष्ट प्रकार का मन्दिर प्रवेश पाया हागा उपयुक्त है । उस शिवालय के शिखर पर भी अष्टमुखी गुम्बदी शीर्ष (स्तुपिका) है जिसके चारों ओर लघु देवालय पक्ति है। 56 फुट लम्बे इस भवन के तीन प्रमुख अग हैं — गर्भगृह सभा मण्डप और द्वार मण्डप। इसके भारी व एकाश्मक स्तम्भ विशालकाय कोष्ठकीय शीर्षक लटक हुए गोल कगुरे (रॉल कार्निस) आदि सभी शैलकृत परम्परा का प्रभाव इगित करते हैं । मन्दिर की शिल्पकला प्रगतिशीलता की परिचायक होने के साथ ही सयमित भी है। उक्त मदिर के निकट एक और टूटा हुआ मन्दिर है जो इसी शैली का है।

अयहाल और बादामी के पश्चात चालुक्य स्थापत्य का तीसरा विकास केन्द्र पट्टडकल है जो बादामी स 13 कि मीटर दूर है यहाँ पर उत्तरी तथा दक्षिणी शैलियों में निर्मित उच्चकोटि के मदिर

उपलब्ध हैं । वस्तुत प्रारम्भिक चालुक्यों के मन्दिर स्थापत्य का चरम विकास पट्टडकल के मन्दिरों में देखा जा सकता है। पट्टडकल में दस मुख्य मन्दिर हैं (1) पापनाथ मन्दिर (2) जम्बूलिंग मन्दिर (3) कर सिद्धेश्वर मन्दिर (4) काशी विश्वनाथ मन्दिर (5) सगमेश्वर मन्दिर (6) विरूपाक्ष मन्दिर (7) मल्लिकार्जुन मन्दिर (8) गलगनाथ मन्दिर (9) सुन्मेश्वर मन्दिर (10) एक जैन मन्दिर। पर्सी ब्राउन के अनुसार प्रथम चार मन्दिर उत्तरी शैली के (इण्डो आर्यन नागर) और शेष छ मन्दिर दक्षिणी अथवा द्रविडियन शैली के हैं। इनमें पापनाथ मन्दिर (सातवीं सदी का अन्तिम चरण) प्राचीनतम प्रतीत होता है। प्रारम्भ में यह विष्णु और शिव को समर्पित था परन्तु कालान्तर में इसमें शिव की पूजा होने लगी। उपर्युक्त सभी मन्दिरों में पापनाथ और विरूपाक्ष अधिक बडे और महत्वपूर्ण हैं। यह स्मरणीय है कि प्रारम्भिक चालुक्य वश के अन्तिम राजाओं में कुछ शैव धर्म के अनुयायी थे जबकि आदिकाल के राजा विष्णु के उपासक थे। पट्टडकल में पापनाथ मन्दिर उत्तरी शैली का और विष्णु के निमित्त निर्मित था परन्तु विरूपाक्ष मन्दिर दक्षिणी शैली का और शिव के निमित्त निर्मित किया गया है।

पापनाथ मन्दिर सामान्य रचना का लगभग १० फुट लम्बा है । पूर्वी छोर के उपर नीचोच्च (अपसाइडल) बहुभुजी तथा पिरामिडीय शिखर है। नीचे के विस्तृत विन्यास के अनुपात में यह शिखर अत्यन्त छोटा और सकीर्ण लगता है । इसका अन्तराल जिसमें दूर दूर चार स्तम्भ हैं वस्तुत अन्तराल न होकर एक बडा कमरा है। इस असयत योजना के कारण ऊंचाई भी असयत हो गई हैं। मंदिर की बाह्य दीवार के उपर एक भारी कगूरा है जिसके उपर अलकृत मन्दिरों की प्राकार है। भवन के उपरी तथा निचले हिस्सों के बीच की सतह पर आश्चर्यजनक वास्तुशिल्प उत्कीर्ण है यह एक प्रकार के मन्दिरों से निर्मित अध्युच्चित्र (बास रिलिफ) का उदाहरण है। इसमें प्रत्यक ताख (निच) में दो स्तम्भ एक कगूरा (कार्निस) तथा एक खुली प्रस्तर वितान (ट्रेसरीड केनॉपी) है। इस प्रकार के लगभग तीस समूह सम्पूर्ण मन्दिर में हैं ।

स्थापत्य विन्यास वास्तु आयोजना और सगीन चिनाई की दृष्टि से विरूपाक्ष मन्दिर विकसित अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। अभिलेखों और स्थापत्य शैली के तत्वों के आधार पर स्थापत्य कला विशेषज्ञों की धारणा है कि पट्टडकल के पापनाथ और विरूपाक्ष के निर्माण में पल्लवों के दक्षिणी स्थपतियों की सहायता ली गई है। अभिलेखों में दक्षिणी स्थपतियों का उल्लेख इस धारणा को बल प्रदान करता है।

अन्तराल और गर्भगृह तथा स्तम्भ युक्त मण्डप के पारस्परिक अनुपात विरूपाक्ष मन्दिर में सुयोजित और सयत है। इस मन्दिर के सर्वांगों का समष्टिगत सौन्दर्य बाहर से दर्शनीय है। पापनाथ से बडा यह मन्दिर डयोढी (पोर्च) के सामने से मन्दिर केपीछे तक 120 फुट लम्बा है। मन्दिर पर सम्पन्न शिल्पकला वास्तुविषयक पशुआकृतिया लता पत्रवल्ली छिद्रदार वातायनों की गढन नाना प्रकार के पुरा कथा विषय बिम्बादि दीर्घकालीन शिल्पानुभव विशिष्ट प्रशिक्षण धार्मिक पृष्ठभूमि का ज्ञान और कलाकार की तन्मयता की ओर अभ्रान्त सकेत करते हैं। ताखों पर उत्कीर्ण नर नारी अथवा देव देविया अथवा फूल पत्तिया उच्च कोटि के तक्षकों की रचनाएँ हैं । स्थापत्य एव तक्षणकला का जो सामन्जस्य विरूपाक्ष मन्दिर में है वह अन्यत्र विरल है।[18]

18. जिमर, एव द आर्ट ऑव इण्डियन एशिया भाग 2 फलक 304-307

प्रारम्भिक चालुक्य मन्दिर स्थापत्य के सन्दर्भ में आलमपुर (जिला रायचुर मैसूर) के मन्दिर समूह का उल्लेख करना अनुपयुक्त नही होगा। तुगभद्रा नदी के पश्चिमी तीर पर स्थित इस स्थान पर एक चारदीवारी के भीतर कुल छ मन्दिर हैं जो ऊपर वर्णित मन्दिरों की कोटि में आते हैं। ये विरूपाक्ष और पापनाथ की भाति उत्तरी शैली के शिखरयुक्त मन्दिर हैं । यह मन्दिर कालक्रम की दृष्टि से उक्त दो मन्दिरों के समकालिक प्रतीत होते हैं। इनमें सबसे बडा मन्दिर 75 फुट लम्बी और 50 फुट चौडी भूमि घेरता है।

अधिकाश मन्दिरों के शीर्ष पर अब भी आमलक (अमल शिला) है । परिस्तम्भित कक्षों की स्थिति और स्वरूप एलोरा की रावण की खाई नामक शैलकृत मन्दिर से मिलती जुलती है । फूल पत्ती सहित कलश वाले स्तम्भ शीर्ष यहा भी उपलब्ध हैं ।

पल्लव स्थापत्य के विकास का इतिहास (600-900 ई.) — पल्लव राजाओं के शासनकाल में निर्मित दक्षिण भारत का शैलकृत और सरचनात्मक मन्दिर स्थापत्य द्रविड शैली अथवा दक्षिणी शैली का प्रतिनिधित्व करता है । वस्तुत पल्लव स्थापत्यकला ही द्रविड शैली की जन्मदात्री है । छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी ई का समय दक्षिण भारत के इतिहास और सस्कृति के विकास में एक महत्त्वपूर्ण काल था । इस काल में न केवल तीन प्रमुख राजवशों बादामी का चालुक्य राजवश काची का पल्लव राजवश और मदुराई का पाण्डय राजवश का अभ्युदय हुआ वरन नायनमार तथा आलवार सन्तों द्वारा शैवधर्म और वैष्णव धर्म का पुनरूत्थान भी हुआ । यद्यपि जैनधर्म कुछ समय तक उक्त धर्मों का प्रतिद्वन्दी बना रहा परन्तु बौद्धधर्म का ह्रास होता गया । इस युग में दक्षिण भारत ने असाधारण स्थापत्य और मूर्तिशिल्प को जन्म दिया दक्षिण भारतीय कला की शैली का स्वरूप विषय और वह सैद्धान्तिक पक्ष निर्धारित किया जो मध्यकाल में विजयनगर साम्राज्य के अवसान काल तक कलाकारों का पथ प्रदर्शन करता रहा

पल्लव परिवार के लोग काची के निकट तीसरी चौथी शताब्दियों से ही विद्यमान थे । समुद्रगुप्त के अभिलेख में काची के विष्णुगोप का उल्लेख हुआ है जो सम्भवत पल्लव था । यद्यपि पल्लव राजवंश का इतिहास सिंहविष्णु (लगभग 550 580 ई) के समय से प्रारम्भ होता है क्योंकि वह स्वतत्र पल्लव राज्य का प्रथम शासक था परन्तु पल्लव स्थापत्य का इतिहास उसके महान पुत्र महेन्द्रवर्मन प्रथम (लगभग 580-630 ई) के समय से प्रारम्भ होता है । राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम 'विचित्र चित्त' स्वय कलाकार और कलाप्रेमी था । वही पल्लव स्थापत्य और तक्षण शिल्प का जन्मदाता था ।

मण्डगप्पट्टु में निर्मित ब्रह्मा विष्णु और महेश को समर्पित शैलकृत देवायतन पर उत्कीर्ण अपने लेख में यह सम्राट समुचित स्वाभिमान के साथ कहता है यह इष्टकाविहीन काष्ठविहीन धातुविहीन, और सीमेंट विहीन लक्षितायतन राजा विचित्रचित्त द्वारा ब्रह्मा ईश्वर और विष्णु के निमित्त किया गया है। इससे पहले के मन्दिर ईंट लकडी सीमेन्ट आदि के साथ धातुओं के सहयोग से बनते थे जो कालान्तर में नष्ट हो जाते थे परन्तु इस विचित्रचित्त और लक्षित' (विशिष्ट) नृप ने इन सब परम्परागत रूढियों का अतिक्रमण करके सर्वप्रथम कठोर पाषाणों और चिरस्थायी शैलों को कटवा कर देवायतनों का निर्माण करवाया । न केवल निर्माण सामग्री में अपितु निर्माण विधि में भी पल्लव स्थापत्य विशिष्ट और लक्षित है ।

के आर श्रीनिवासन ने पल्लव स्थापत्य को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है (1) शैल कृत मन्दिर (रॉक कट टेम्पल्स) (2) एकाश्मक मन्दिर (मोनोलिथिक टेम्पल्स) तथा (3) सरचनात्मक मन्दिर (स्ट्रक्चरल टेम्पल्स) शैलकृत मन्दिर की दो शैलिया हैं (अ) महेन्द्र शैली तथा (आ)मामल्ल शैली । महेन्द्र शैली के मन्दिर महेन्द्रवर्मन प्रथम के समय के हैं मामल्ल शैली के मन्दिर नरसिंहवर्मन प्रथम मामल्ल (अथवा महामल्ल 630-660 ई) के समय के हैं । महेन्द्रवर्मन प्रथम विचित्रचित्त (580-630 ई) के समय के मामल्ल शैली के मन्दिरों के क्रमिक विकास में तीन अवस्थाएँ या युग हैं प्रथम द्वितीय और तृतीय ।[19]

शलकृत मन्दिर (अ) महन्द्र शैली — महेन्द्रवर्मन प्रथम द्वारा निर्मित शैलकृत देवायतन सरल उत्खनन क्रिया द्वारा मम्पन्न हुए हैं । प्रत्येक मन्दिर में एक गर्भगृह और एक स्तम्भयुक्त बरामदा है। पल्लव शैलकृत मन्दिरों को मण्डप कहा जाता है । इनकी छतें साधारणतया चपटी हैं और इनके मण्डपों में स्तम्भों का होना आवश्यक विशेषता है । इस शैली के शैलकृत मन्दिरों में निम्नलिखित मन्दिरों की गणना की जा सकती है (1) लक्षितायतन (त्रिमूर्ति) मण्डगप्पट्टु में (2) पच पाण्डव मन्दिर पल्लवरम में (3) रूद्रवालीश्वर मन्दिर ममण्डुर में (4) कल मण्डकम मन्दिर कुरगनिल्युत्तम में (5) वसन्तेश्वर मन्दिर वल्लभ में (6) महेन्द्र विष्णु गृह मदिर महेन्द्रवडी में (7) विष्णु मन्दिर ममण्डुर में (8) ललिताकुर पल्लवश्वर गृह मदिर तिरुचिरप्पल्लि में (9) शत्रुमल्लश्वरालय दलवनुर में तथा (10) अवनिभाजन पल्लवेश्वर गृह सियमगलम में । इनमें से 8 वें मदिर (तिरूचिरप्पल्लि) के अतिरिक्त सभी मन्दिर पल्लवों के प्रदश तोण्डै मण्डलम में स्थित हैं ।

इन पल्लव मण्डपों में भवन के दो भाग पाये जाते हैं आन्तरिक भाग अथवा अर्द्ध मण्डप तथा बाह्य भाग अथवा महामण्डप । महामण्डप के सामने स्तम्भों की पक्ति है अधिकाश में चार स्तम्भों की (कभी कभी छ या आठ स्तम्भों की) । दोनों छोरों पर परिस्तम्भ हैं बीच में स्तम्भ है इसी प्रकार स्तम्भों की आन्तरिक पक्ति महामण्डप को अर्द्ध मण्डप से अलग करती है । गर्भगृह पीछे की ओर की दीवार में निर्मित किया गया है । इस प्रकार की योजना रुद्रवालीश्वर मण्डगप्पट्टु कलमण्डकम तथा महेन्द्रवडी एव सियमगलम के मण्डपों में पायी जाती है ।

कुछ मन्दिरों में एक देवायतन (देवगृह गर्भगृह) तथा कुछ मन्दिरों में एक से अधिक देवायतन है। उदाहरणार्थ बसन्तेश्वर तथा विष्णु मदिर में एक दवगृह (श्रायन) है परन्तु मण्डगप्पट्टु के त्रिमूर्ति मण्डप रूद्रवालीश्वर एव कल मण्डकम में त्रिविध देवगृह हैं । पल्लवरम क शैलकृत मण्डप में पाच दवगृह हैं । इनमें से अधिकाश मन्दिर पूर्व की ओर मुह वाले हैं परन्तु पल्लवरम् के मन्दिर का मुह दक्षिण को है ।

प्रत्येक मण्डप के मुहार (फैकेड) की ऊचाई क अनुपात के अनुसार शैलकाट कर एक अधिष्ठान निर्मित किया गया है जिसमें सामने शैलकृत सीढियाँ उस पर चढने के लिए हैं इस अधिष्ठान के उपर स्तम्भ एव भित्ति स्तम्भ हैं । प्रत्येक स्तम्भ औसतन 7 फुट ऊचा और दो फुट व्यास का है । स्तम्भ के दण्ड चौकार हैं परन्तु बीच का तीसरा भाग अष्टभुजी बनाया गया है । कुछ स्तम्भों के उपर कपोत (कगूरे कॉर्निस) हैं । स्तम्भों क उपर भारी पोतिकायें (कदलिका कॉर्बेल्स) हैं । पल्लवरम् तथा

19 एशियेन्ट इण्डिया न 14 1959 पृ० 114–138

दलवनुर के मन्दिरों में कुडु मेहराब (आरनामेन्टल आर्च) से सुसज्जित कपोत उल्लेख्य है । दलवनुर शैल कृत मन्दिर के स्तम्भों में फलक (एबेकस) जिस पर कमलाकार चिन्ह है उल्लेखनीय है । प्रारभिक उदाहरणों में यथा मण्डगप्पट्टु तथा दलवनुर के मण्डपों के मुहार के दोनों ओर द्वार पालों की मूर्तिया हैं। सियमगलम के मण्डप के स्तम्भ तोरण में ताख पर द्वारपालों की मूर्तिया बनी हुई हैं। तिरूचिरप्पल्लि के मन्दिर में द्वार पालों की मूर्तियों के अतिरिक्त एक अध्युच्चित्र मे गगावतरण का दृश्य भी उत्कीर्ण है । सियमगलम तथा दलवनुर के मन्दिरों क मुहार पर मकरों के चित्र हैं । ये कदाचित मकर तोरण अथवा मकर पोतिकायें हैं । उपर्युक्त किसी भी मन्दिर के गर्भगृह में अब विष्णु या शिव की कोई मूर्तियाँ नही पायी जाती मूर्तियों से युक्त भित्ति चित्र क सकेत मात्र हैं । महेन्द्रशैली क शैल कृत मन्दिरों के विकास के दूसरे युग में नरसिंहवर्मन प्रथम मामल्ल (630-668 ई) परमेश्वरवर्मन प्रथम (672 700) तथा नरसिंह वर्मन द्वितीय राजसिंह (700 728 ई) के द्वारा निर्मित मण्डप हैं । यह मण्डप निम्नलिखित हैं — महाबलीपुरम् के कोल्किल मण्डप एव धर्मराज मण्डप सिङ्गवरम के रगनाथ मण्डप सिङ्गप्पेरूमलि के नरिसह मण्डप तिरूक्कलुक्कुनरम के ओरूकल मण्डप सलुवन्कुप्पम के अतिरणचण्डमण्डप ।

उपर्युक्त मन्दिरों में शैव वैष्णव एव शाक्त तीनों ही धर्मों से सम्बन्धित मन्दिर हैं । शिव मन्दिर में शैलकृत लिंगम नहीं हैं। वैष्णव मन्दिरों में विष्णु की गच मूर्तियाँ (स्टका फिगर्स) हैं । अतिरणचण्डमण्डप में मदिर की पिछली दीवार पर सोमास्कन्द का अध्युच्चित्र है । पहले वर्णित पल्लव मण्डपों के सामान्य लक्षण इस युग क मण्डपों में भी पाय जाते हैं । पहले की अपेक्षा अब स्तम्भ पतले और अधिक ऊँचे हो गय हैं । रगनाथ मन्दिर धर्मराज मण्डप तथा आरूकल मदिर में स्तम्भों और भित्ति स्तम्भों की पक्ति द्वारा मण्डप का विभाजन अर्द्ध मण्डप तथा महामण्डप में हुआ है परन्तु अन्य सभी मन्दिरों में केवल एक ही मण्डप है । अन्य मन्दिरों के दोनों पार्श्वों में द्वार पालों की मूर्तिया है परन्तु कोल्किलमण्डप के दोनों ओर द्वार पालिकाओं की मूर्तियाँ हैं क्योंकि यह मन्दिर दुर्गा का है । सिङ्गवरम के मन्दिर के मुहार के निकट महिष मर्दिनी की सुन्दर प्रतिमा है जो पल्लवकाल की सर्वश्रेष्ठ दुर्गामूर्ति है ।

महेन्द्र शैला के तृतीय युग के मन्दिर अत्यन्त साधारण है । इस युग के मुख्य उदाहरणों में क्लिमविलङ्गै के शैल-कृत मन्दिर का उल्लेख किया जा सकता है । यह एक साधारण शैल कृत मन्दिर है । इसम मण्डप नही है । मन्दिर के अन्दर विष्णु की अध्युच्च मूर्ति है । वल्लम में दो छोटे मन्दिर एक शिव का दूसरा विष्णु का भी इसी युग के हैं ।

शलकृत मन्दिर (आ) मामल्ल शली — महेन्द्रवर्मन प्रथम के उत्तराधिकारी राजा नरसिंहवर्मन प्रथम मामल्ल (महामल्ल योद्धा) (630-668 ई) के समय में कुछ मन्दिर महेन्द्र शैली में भी बने परन्तु नवीन प्रकार के विमानों रथों अथवा मन्दिरों का निर्माण और उन पर समृद्ध तक्षण कला उसके समय की स्थापत्य कला की विशेषताएँ हैं । मामल्ल शैली की रचनाएँ महाबलीपुरम तक ही सीमित हैं । महेन्द्र शैली के शैलकृत मन्दिरों की अपेक्षा मामल्ल शैली के शैल कृत मन्दिरों के मण्डप अधिक विकसित हैं और प्रस्तर पादागों (एन्टैब्लेचर) की रचना महेन्द्रशैली की भाति अपूर्ण न हो कर पूर्ण है उनक कुडु महराब भी पूर्णरूप से विकसित हैं । मामल्लशैली के मन्दिरों में छोटे छोटे मन्दिरों (शालाओं) की अवलि (हार) का होना भी उल्लेखनीय प्रगति है । इस शैली के स्तम्भ भी पहले की

अपेक्षा अधिक पतले और लम्बे हैं उनके दण्डों के शीर्ष भाग में विविध शीर्षक पाये जाते हैं यथा कलश ताडि कुम्भ पद्म और फलक । कोनेरी मण्डपम् के मुहार के स्तम्भ महेन्द्र शैली के हैं ,परन्तु स्तम्भों की आन्तरिक पक्ति के शीर्षक मामल्ल शैली के हैं । स्तम्भों की कुर्सिया (आधार) बहुधा बैठे हुए व्यालों के आकार की हैं । मन्दिर का कक्ष मण्डप तक समुचित रूप से बढा रहता है । वह विमान की भाति है—उसके सभी अग विमान की भाति हैं (अधिष्ठान कुडय स्तम्भ, प्रस्तर पादाग कपोत तथा कुडु मेहराब) और मन्दिर के प्रस्तर मण्डप को स्पर्श करते हैं ।

इस शैली के विकास–क्रम एव काल–क्रम के अनुसार आठ मन्दिर इस प्रकार हैं (1) कोनेरी मण्डपम मन्दिर (2) वराह मण्डप (3) महिषमर्दिनी मण्डप (4) पुलिपुदर मण्डप,(5) कोनेरी मण्डप के निकट एक अधूरा मदिर, (6)पचपाण्डव मण्डप (7) आदिवराह अथवा परमेश्वर महावराह विष्णुगृह तथा (8) रामानुज मण्डप । इनमें से वराह मण्डप और रामानुज मण्डप (2 व 8) में केवल एक मण्डप है यह महा और अर्द्ध मण्डप में विभक्त नहीं है परन्तु कोनेरी मण्डप तथा आदिवराह (1 और 7) में अर्द्ध और महामण्डप है । महिषमर्दिनी मण्डप के मुख्य कक्ष के सामने के महामण्डप के फर्श पर एक परिस्तम्भित बराम्दा है । पच पाण्डव मण्डप अपूर्ण है वराह मण्डप और आदिवराह मण्डप में एक ही देव गृह है *। महिष मर्दिनी और रामानुज मण्डप में तीन तीन देवायतन हैं परन्तु कोनेरी मण्डप में एक* पक्ति में पाच देवगृह हैं ।

वास्तु विन्यास के अतिरिक्त सुघटय कला (प्लास्टिक आर्ट) की दृष्टि से भी मामल्ल शैली महेन्द्र शैली से अधिक विकसित अवस्था का परिचय देती है । अधिकाश तक्षण कला समूह हिन्दू धर्म सम्बन्धी पुराकथाओं का दिग्दर्शन करते हैं महिष मर्दिनी अनन्तशायी भू वराह त्रिविक्रम गज लक्ष्मी दुर्गा ब्रह्मा हरि हर इत्यादि । राजाओं और रानियों की भी मूर्तिया हैं सिंह विष्णु महेन्द्रवर्मन नरसिंहवर्मन इत्यादि । द्वारपालों की प्रतिमाए सदैव मन्दिर के मुख्य कक्ष के द्वार के दोनों ओर हैं । रामानुज धर्मराज और आदिवराह मण्डपों में परमेश्वर वर्मन प्रथम के अभिलेख उत्कीर्ण हैं जिससे ज्ञात होता है कि ये परमेश्वरवर्मन प्रथम द्वारा बनवाये गये थे ।

सलुवन्कुप्पम में मालिमण्डपम (व्यालिमण्डप टाइगरकेव) नरसिंहवर्मन द्वितीय राजसिंह (700 728 ई) के समय का मन्दिर है । यह एक बेडौल मण्डप है जो सिंह मूर्तियों से आच्छादित है । इसके अधिष्ठान पर चढने के लिए सोपान हैं । दो स्तम्भों के बीच इसका वर्गाकार प्रवेश द्वार है उपर 11 सिंहो (व्यालों) के मस्तकों से बनी गोलार्द्ध पक्ति है । उसी शैल पर दक्षिण में (दायी ओर) दो गज मूर्तियों के मध्य में एक ध्वज स्तम्भ है निकट में एक अश्वमूर्ति है ।

राजा मामल्ल द्वारा निर्मित एकाश्मक विमान अथवा रथ पल्लव स्थापत्य और तक्षण के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । इन रथों की सख्या नौ है और ये सभी महाबलीपुरम में विद्यमान हैं । इसी *श्रेणी के मन्दिरों में हम त्रिमूर्ति शैल कृत मन्दिर को भी रख सकते हैं* । इस प्रकार के एकाश्मक मन्दिर निम्नलिखित हैं

(1) द्रौपदी रथ (2) नकुल सहदेव रथ (3) अर्जुन रथ (4) धर्मराज रथ (5) भीम रथ (6) गणेश रथ (7) पिडारी रथ (द) (8) वलैयन्कुट्टै रथ (9) पिडारी रथ (उ) तथा (10) त्रिमूर्ति शैल कृत मन्दिर जिसमें तीन प्रवेश द्वार हैं ।

विशिष्ट वास्तु रचना के कारण ये रथ बाहर और भीतर विमान रचना के पहलुओं पर वाछनीय प्रकाश डालते हैं । इनका निर्माण उपर से नीचे को हुआ है इसके विपरीत सरचनात्मक मन्दिरों और भवनों का निर्माण नीचे से उपर को होता है । यही कारण है कि कुम्भाभिषेक की स्तूपी इन मन्दिरों में एकाश्मक भवन का अभिन्न अग नहीं है अपितु शिखर से नीचे का सम्पूर्ण विमान निर्मित हो जाने के बाद स्तूपी को अलग से बनाकर स्थापित किया गया है ।

रामानुज मण्डप तथा अर्जुन की तपस्या साधारण एक तल विमान के सभी (छ) अगों को प्रदर्शित करते हैं अधिष्ठान पाद अथवा भित्ति धरन (प्रस्तर पादाग) ग्रीवा शिखर एव स्तूपी । त्रिमूर्ति मण्डप सम्भवत द्वितल विमान का प्रतिनिधित्व करता है । द्रोपदी अर्जुन भीम और धर्मराज रथों को ह्वेल मछली की पीठ के आकार के एक ही शैल को काट कर बनाया गया है । द्रौपदी रथ और अर्जुन रथ का अधिष्ठान लगभग साझी है । ये रथ सम्भवत काष्ठ-निर्मित विमानों का एकाश्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं । निसन्देह ये पल्लव मन्दिर दक्षिण भारतीय स्थापत्य के अनोखे उदाहरण हैं । ये बहुत बडे आकार के नहीं हैं । सबसे बडा रथ 42 फुट लम्बा सबसे चौडा रथ 35 फुट चौडा और सबसे ऊचा 40 फुट ऊचा है ।

इन रथों के वास्तु में हम परवर्ती काल के मन्दिर वास्तु का विकास पाते हैं । द्रौपदी रथ एक प्रकार का कूटागार है । इसका शिखर गुम्बदी है जिसके उपर समचतुश्र स्तूपी है । इस रथ में शिखर के नीचे प्रस्तर और ग्रीवा नहीं है । परन्तु अर्जुन रथ और रामानुज मण्डप इसी प्रकार के अधिक विकसित मदिर हैं क्योंकि उनमें सभी अग विद्यमान हैं । ये समचतुश्र कूटागार एक तलीय नागर शिखर की ओर सकेत करते हैं । नागर शिखर के द्वितलीय प्रकार के उदाहरणों का सकेत उत्तरी पिडारी रथ तथा वलैयन्कुट्टै रथ करते हैं इन दोनों में अन्तर यह है कि उत्तरी पिडारी रथ के दूसरे तल के प्रस्तर पादाग पर लघुमन्दिरावलि (हार) नहीं है परन्तु वलैयन्कुट्टै रथ के दोनों तलों में शाला हार है । दक्षिणी पिडारी रथ और अर्जुन रथ द्वितल विमान के उदाहरण हैं । इनके शिखर दक्षिणी शैली के अष्टभुजी शिखर हैं। धर्मराज रथ जो त्रितल का उदाहरण है मैं भी इसी प्रकार का शिखर है ।

भीम रथ एकतल है परन्तु गणेश रथ द्वितल का उदाहरण है । दोनों के ढाल पर अनेक स्तूपिया हैं । नकुल सहदेव रथ द्वितल विमान का उदाहरण है । इसका आकार हाथी की पीठ की भाति है अतएव यह गज पृष्ठ कहलाता है । भीम रथ को बेंजामिन रोलैण्ड वेसर शैली का बताता है । जो विमान एक से अधिक तल वाले हैं उनके प्रत्येक तल के प्रस्तर पादाग पर लघु विमानों की पक्ति होती है इसमें कूट (समचतुश्र विमान जिसकी छत गुम्बदी हो) अथवा मदिर के शीर्ष के छोर पर होने के कारण कर्ण कूट शाला' अथवा कोष्ठक (आयताश्र विमान जिनमें शाला शिखर हो और जो एक से अधिक स्तूपों वाले हों) तथा कूट और शाला के मध्य में पजर' (नीड नासिका = लघु गज पृष्ठ-विमान) होते हैं ये सभी मिलकर हार' बनाते हैं । उल्लेखनीय है कि पजर केवल नकुल सहदेव रथ तथा धर्मराज रथ के प्रथम तल के मुख मण्डप पर ही है परन्तु कूट और शाला महाबलीपुरम के सभी रथों में पाये जाते हैं ।

महाबलीपुरम के रथों में पल्लव मूर्तिकला के कुछ अत्युत्तम उदाहरण उपलब्ध हैं इस दृष्टि से धर्मराज और अर्जुन रथ सर्वाधिक धनी हैं । द्रौपदी रथ के भीतर के कक्ष की दीवार पर दुर्गा अध्युच्चित्र धर्मराज रथ में परमेश्वरवर्मन प्रथम का सोमारस्कन्द फलक त्रिमूर्ति मन्दिर में गुरू
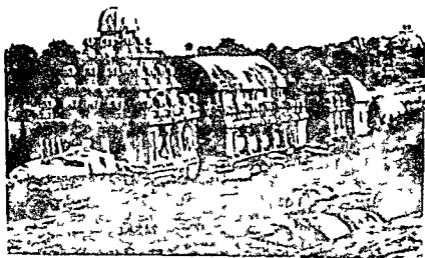
चित्र–68 मामल्लपुरम के रथ मंदिर

मूर्ति शिव तथा विष्णु के अध्युच्चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं । किसी भी मन्दिर में शैलकृत लिंगम के अवशेष नही है । अधिकाश स्तम्भ भित्ति स्तम्भ हैं इनके शीर्षकों के इधर उधर बढे हुए भाग तरग की भाति हैं । धर्मराज भीम अर्जुन तथा नकुल सहदेव रथों के अर्द्ध मण्डपों के सामने क भित्ति स्तम्भों तथा स्तम्भों के आधार व्यालाकार हैं ।

शैलकृत मन्दिरों तथा एकाश्मक रथों के अतिरिक्त पल्लव नरेशों न स्तम्भों का प्रयोग कुछ सरचनात्मक मण्डपों में भी किया था यह मण्डप ईंट तथा लकडी से निर्मित मन्दिरों से सलग्न थे । परन्तु प्रस्तर खण्डों से सरचनात्मक मन्दिरों का निर्माण पल्लव स्थापत्य क इतिहास में परमेश्वरवर्मन प्रथम (672 700 ई) के समय से हुआ ।

वेदगिरीश्वर मन्दिर तीन विशाल शिलाखण्डों से निर्मित है । तीन प्रस्तरों से तीन ओर की दीवारें बनी हैं और एक प्रस्तर से छत बन गई है । दीवार प्रस्तरों के भीतरी भागों पर सोमस्कन्द दक्षिणामूर्ति नन्दि तथा चण्डिकेश्वर आदि के अध्युच्चित्र बने हैं । कुरम में स्थित गज पृष्ठाकार शिव मन्दिर भी सरचनात्मक है और परमेश्वरवर्मन प्रथम का बनवाया हुआ है । इस मन्दिर की दीवारें ध्वस्त हो गई हैं । परन्तु इसी शैली का एक सरचनात्मक मन्दिर क्लक्म्बक्कम में स्थित है ।

पल्लव युगीन अधिक विख्यात और महत्वपूर्ण मन्दिरों मं काची का कैलाशनाथ तथा वैकुण्ठपेरूमाल मन्दिर तथा महाबलीपुरम का शोर मन्दिर उल्लेखनीय है । कैलाशनाथ मन्दिर की रचना राजसिंह तथा उसके पुत्र महेन्द्रवर्मन तृतीय (720 728 ई) ने करवाई थी । काची के वैकुण्ठपेरूमाल मन्दिर का निर्माण नन्दिवर्मन द्वितीय पल्लवमल्ल ने (731 796 ई) करवाया था । महाबलीपुरम में शोर मन्दिर वस्तुत तीन मन्दिरों मण्डपों और प्रकारों का समूह है इसकी रचना का प्रारम्भ सम्भवत राजसिंह न (परमेश्वरवर्मन प्रथम का पुत्र नरसिहवर्मन द्वितीय) किया था । इस मन्दिर समूह का सबसे बडा मन्दिर क्षत्रियसिंहेश्वर है जो एक शैव विमान है इसका मुह समुद्र की ओर पूर्व को है । छोटा वाला विमान पश्चिम मुखी है यह भी शिव को समर्पित है और राजसिहश्वर कहलाता है। इन दो मन्दिरों के बीच में एक मन्दिर है जिसमें उपरी पिरामिडीय भाग नही है । इसमें अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति है । इस आयताश्र विमान के सामने मुखमण्डप है । पश्चिमी शिव मन्दिर समचतुश्र त्रितल विमान था और पूर्वी शिव मन्दिर समचतुश्र चतु शाला विमान का उदाहरण है । इस अन्तिम मन्दिर के चारों ओर एक प्राकार है जिसमें कूटाहार और शालाओं की पक्ति है । इन दोनों शैव मन्दिरा की स्तूपिया अष्टभुजी हैं जो द्रविड शैली के विमानों की विशेषता है ।

कैलाशनाथ मन्दिर 8वीं सदी में निर्मित बडा पल्लव मन्दिर है । इसका प्रमुख विमान समचतुश्र चतुशाला विमान है जिसमें द्रविड शैली का शिखर है इसके निकट क उपमन्दिर इसके अभिन्न अग प्रतीत होते हैं । इसका अन्तराल एक प्रकार का अर्द्ध मण्डप है उपमन्दिरों में आयताश्र और समचतुश्र दोनों ही प्रकार के मन्दिर हैं जो भद्रशालाओं और कर्णकूटों की परम्परा में हैं । मुख्य मदिर को सात उप मन्दिर घेरे हुए हैं जिनमें शिव के विभिन्न रूपों के अध्युच्चित्र हैं । मुख्य मन्दिर के सामने एक आयताश्र स्तम्भयुक्त एव भित्तिस्तम्भयुक्त मण्डप है जिसमें चालुक्य राजा विक्रमादित्य का अभिलेख है जिसमें इस राजा द्वारा काची पर आक्रमण का उल्लेख है । मुख्य विमान और मुख्य मण्डप के चारों ओर 58 मन्दिरों का समूह है जो सीमा प्राकार को स्पर्श करते हैं इस प्राकार में एक प्रवेश गोपुर है । हिन्दू मन्दिर के द्रविड शैली के विकास में कैलाशनाथ मन्दिर महत्वपूर्ण है । इसके सभी विमानों के समक्ष स्थिर

व्याल अथवा गज व्याल स्तम्भ हैं । महेन्द्रवर्मेश्वर मन्दिर के चारों ओर एक चौकोर प्राकार है, सामने एक छोटा गोपुर हे । इस प्रकार यह कैलाशनाथ मन्दिर विकास की तीन अवस्थायें प्रस्तुत करता है— प्रथम अवस्था राजसिंह के समय की है जिसमें मुख्य विमान और स्तम्भयुक्त मण्डप बने थे, दूसरा अवस्था राजसिंह के पुत्र महेन्द्र के समय की है, जब विमान और मण्डप के चारों ओर प्राकार महेन्द्रवर्मेश्वर गोपुर तथा 58 लघुतर मन्दिर बने थे । तृतीय अवस्था में महेन्द्रवर्मेश्वर के सामने का गोपुर और प्रागण निर्मित हुए थे । पल्लव नरेशों द्वारा निर्मित संरचनात्मक मन्दिरों में दूसरा प्रमुख मन्दिर वैकुण्ठपेरूमाल मन्दिर है जो काची में नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल ने निर्मित किया था । यह विष्णु मन्दिर है । यह सुन्दर प्रासाद समचतुश्र चतुशाला विमान का उत्तम उदाहरण है । योजना में वर्गाकार 90 फुट भूमि पर विस्तृत इस मन्दिर का सामने (पूर्व) का भाग 28 फुट आगे को बढा हुआ है जो प्रवेश बरामदा बनाता है । बाह्य भित्ति के भीतर व्याल स्तम्भावलि है इस व्याल स्तम्भावलि और गर्भ गृह के बीच प्रदक्षिणापथ है । मन्दिर का बरामदा एक प्रकार का मण्डप है जो 21 फुट 6 इच वर्गाकार है। इसके पार्श्व में आठ स्तम्भ हैं इस मण्डप से होकर एक उप मण्डप (अन्तराल) में पहुँच कर भीतरी कक्ष में पहुँचते हैं । इस भीतरी कक्ष (गर्भगृह) के उपर से पिरामिडीय विमान शिखर उपर उठता है । यह विमान बाहर से 47 फुट वर्गाकार है और इसका शिखर भूमि से 60 फुट ऊचा है । यह चार तलों में उपर उठता है नीचे के तीन तलों में विष्णु की बैठा हुई खडी तथा अनन्तशायी मूर्तिया हैं । इनमें से प्रत्येक तल एक मन्दिर है । प्रत्येक में मुखमण्डप है और उपर चढने के लिए सोपान हैं । चतुर्थ तल चारों आर से बन्द है इसके उपर एक ग्रीवा और अष्टमुखी शिखर है । अभिलेखों और तक्षित फलकों के अतिरिक्त इस मंदिर में पल्लव नरेशों का नन्दिवर्मन द्वितीय के समय तक का इतिहास भी उत्कीर्ण है।

पल्लवयुगीन अन्य सरचनात्मक मन्दिरों में मुक्तेश्वर मातगेश्वर ऐरावतेश्वर वालीश्वर त्रिपुरान्तकेश्वर इरवातनेश्वर तथा पिरवातनेश्वर सभी काजीवरम (काची) में हैं । ये सभी मन्दिर छोटे आकार के हैं और उपर वर्णित मन्दिरों की शैलियों का मिश्रण प्रस्तुत करते हैं ।

राष्ट्रकूट कालीन शैल कृत मन्दिर — भारतवर्ष में कुल 1200 शैलकृत भवन है जिनमें विहार चैत्यगृह मण्डप एव मन्दिर अथवा देवालय सम्मिलित हैं । इनमें से केवल 100 ब्राह्मण धर्म (हिन्दूधर्म) से व 200 जैनधर्म से सम्बन्धित हैं शेष 900 बौद्धधर्म से सम्बन्धित है । बौद्ध शैलकृत स्थापत्य का इतिहास 300 ई पूर्व से 600 ई तक के समय में विस्तृत है । परन्तु ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने शैलकृत स्थापत्य का प्रारम्भ 5वीं सदी में आरम्भ किया और 8वीं सदी में ही इस परम्परा को छोड दिया । गुप्तों प्रारम्भिक चालुक्यों एव पल्लवों के समय में निर्मित पर्वतीय भवनों व देवगृहों का वर्णन किया जा चुका है । इसी क्रम में गुहा मन्दिर निर्माण के अगले चरण के रूप में एलौरा तथा एलीफेन्टा में राष्ट्रकूट नरेशों के समय में निर्मित शैलकृत मन्दिरों का उल्लेख किया जा सकता है ।

एलौरा में हिन्दू शैलकृत मन्दिरों की सख्या सोलह है ये पहाडी के पश्चिमी ढाल पर लगभग आधे मील पर विकीर्ण हैं और न 13 से न 29 तक हैं (ये नम्बर भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा निश्चित किये गये हैं) । इनमें से निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण हैं रावण की खाई नं 14 दसअवतार न 15 कैलास न 16 रामेश्वर नं 21, तथा सीता नानी (अथवा दूमरलेण) न 29 । उपर्युक्त उदाहरण शैलकृत मन्दिर के चार प्रकार प्रस्तुत करते हैं (1) जो सर्वाधिक प्रारम्भिक हैं बौद्ध

विहार की रचना से प्रभावित हैं और जिनमें एक स्तम्भ युक्त मण्डप और गर्भगृह है जैसे दशअवतार (2) रावण को खाई यद्यपि पहले प्रकार से समानता रखती है परन्तु इसका गर्भगृह चारों ओर रास्ते के द्वारा स्वतत्र है (3) सीता नानी (सीता का स्नान) में एक से अधिक प्रवेश द्वार है और गर्भगृह एक क्रूसाकार (स्वस्तिकाकार) कक्ष के मध्य में स्थित है तथा (4) एकाश्मक मन्दिर यथा कैलास मन्दिर ।

मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ है दसअवतार । इसमें जाने के लिए एक शैलकृत प्रवेश द्वार है जो एक बडे प्रागण में पहुचाता है जिसके मध्य में मन्दिर है । इस प्रागण के बाये एक द्वार है जो छोटे कक्षों से घिरे एक वर्गाकार कक्ष में पहुँचाता है । बाहर का स्वतन्त्र (अलग) मन्दिर सम्भवत नन्दि का निवास है । यह एक वर्गाकार परिस्तम्भित मण्डप है जिसके चारों ओर बरामदा है और सामने तथा बगल से सीढिया हैं । इसके उपर मन्दिर का मुहार है जिसको द्वितल कहा जा सकता है । दो तलों का भेद वर्गाकार स्तम्भों की दो पक्तियों (एक पक्ति के उपर दूसरी पक्ति) से हो जाता है । एक छोटी सी सीढी पहले तल पर पहुचाती है जो 97 फुट लम्बा और 50 फुट गहरा तथा 14 चौकोर स्तम्भों स युक्त है । बायी ओर के सोपान द्वारा उपरी तल पर पहुँचते हैं । यह 104 फुट x 95 फुट का सुन्दर लगभग वर्गाकार कक्ष है । इसकी चपटी छत 40 से अधिक स्तम्भों पर आधारित है । ये स्तम्भ नौ स्तम्भों की छ पक्तियों में व्यवस्थित हैं । इनके अतिरिक्त दो स्तम्भ केन्द्रीय पार्श्व पर एक उथला अन्तराल बनाते हैं जो चौकोर गर्भगृह में मिलता है जहाँ पर लिंगम स्थापित है । ये दो स्तम्भ कलापूर्ण और फलक शीर्षयुक्त हैं । दश अवतार मन्दिर के ये स्तम्भ सादगी और अलकरण की सरलता के लिए श्लाघनीय हैं । परन्तु शिल्पी ने अपनी कुशलता का सुन्दर दिग्दर्शन मन्दिर की भित्तियों तथा भित्ति स्तम्भों पर उत्कीर्ण चित्रात्मक फलकों द्वारा किया है । दीवार पर एक ओर वैष्णव तथा दूसरी ओर शैव पुराकथा सम्बन्धी उत्कृष्ट मूर्तिया उत्कीर्ण की गई हैं ।

शैलकृत मन्दिरों की दूसरी श्रेणी के दो सुन्दर उदाहरण न 14 रावण की खाई तथा न 21 रामेश्वर नाम के मन्दिर हैं । उनकी विशेषता है मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणापथ का होना । रावण की खाई का विन्यास सरल है । यह 52 फुट चौडा तथा 87 फुट गहरा (चट्टान के भीतर) है । इसके सामने दो तिहाई भाग में स्तम्भयुक्त कक्ष (परिस्तम्भित मण्डप) और शेष भाग में मन्दिर है । इस परिस्तम्भित मण्डप के चतुर्दिक एक स्तम्भावली है । सामने की ओर एक दोहरी स्तम्भावली है जो एक प्रकार का बरामदा बनाती है । प्रत्येक स्तम्भ के शीर्ष पत्रवल्ली सहित पूर्णकलश (वास एण्ड फोलिएज केपिटल) से सुशोभित है । कक्ष के अन्तिम भाग के बीच में एक एकाश्मक कक्ष काटा गया है जिसमें भवानी अथवा दुर्गा की एक खण्डित प्रतिमा है । इसके प्रवेश द्वार के दोनों ओर अनेक मूर्तिया बनी हुई हैं जिनमें द्वारपालों की मूर्तिया उल्लेख्य हैं । परिस्तम्भित कक्ष की भीतरी दीवारों पर भित्ति स्तम्भों के बीच दक्षिण की ओर शैव मूर्तिया और उत्तर की ओर वैष्णव मूर्तिया हैं ।

रामेश्वर मन्दिर (न 21) का विन्यास भी सरल है परन्तु इसकी प्रमुख विशेषता है तक्षण कला की प्रचुरता । सामने एक प्रागण है जिसके मध्य में एक ऊची कुर्सी है जो विस्तृतरूप से अलकृत है इस पर नन्दि की मूर्ति है । उपर मुहार है और एक निचली दीवार पर 4 मोटे स्तम्भ हैं । इनमें से बीच के दो स्तम्भ मण्डप का प्रवेश द्वार बनाते हैं । यह मण्डप गुहा मन्दिर की सम्पूर्ण चौडाई तक फैला हुआ है दोनों ओर दो छोटे कमरे हैं । इस मण्डप की चौडाई 69 फुट है और गहराई (चट्टान के भीतर) 25 फुट है । मुख मण्डप के अन्दर के स्तम्भ गद्दी डाट वाले हैं । मन्दिर का आकर्षक कला पक्ष बाह्यभाग की

अलकृत रचना प्रस्तुत करती है । स्तम्भों की बनावट उनके पत्रवल्ली व पूर्णकलश द्वारपाल तथा लावण्यमयी नारी मूर्तियाँ रामेश्वर शैलकृत मन्दिर में विशेष आकर्षक हैं ।

एलौरा के शैलकृत मन्दिरों में तीसरे प्रकार के मन्दिर का उदाहरण सीता नानी (घूमर लेणा) अथवा न 29 है । इसकी विशेषता यह है कि इसमें कक्ष समूहों को क्रूसाकार आयोजित किया गया है और उन्ही के मध्य में मुख्य मन्दिर निर्मित किया गया है । इस मन्दिर की योजना से प्रभावित दो अन्य शैलकृत मन्दिर एलीफेन्टा तथा सालसेत में योगेश्वर है । घूमर लेणा में अन्य शैलकृत मन्दिरों की रचना परम्परा का अतिक्रमण हुआ है । इसमें तीन मुख मण्डप अथवा प्रवेश द्वार हैं— एक सामने और अन्य दो दोनों पार्श्वों में । यह नवीनता इस मन्दिर की विशेषता है । तीन मुख्य प्रवेशों के कारण भीतर प्रकाश की समस्या सरलता से हल हो गई है ।

आकार की विशालता एव शैलकृत वास्तु विन्यास की दृष्टि से घूमर लेणा एलौरा के प्रमुख मन्दिरों में से है । कई प्रवेश द्वारों वाला इसका विशाल गर्भगृह विशाल प्रतिमाओं से घिरा हुआ है । इसका मुख्य कक्ष 150 फुट लम्बा और 50 फुट चौडा आयताकार है जो नाभि और पार्श्व में दोनों ओर से पाच पाच स्तम्भों की स्तम्भावली से विभक्त हुआ है । बाह्य भाग में तीन स्वतत्र प्रवेश द्वार हैं *प्रत्येक परिस्तम्भित एव विस्तृत है जिसमें चढने के लिए सोपान हैं* प्रत्येक पर एक ऊची कुर्सी पर बैठे हुये सिंह की मूर्ति है जिसका एक पजा उठा हुआ है । स्तम्भ अति विशाल है आधार पर पाच फुट ओर ऊचाई में 15 फुट । कुछ प्रतिमाएँ भी 15 फुट ऊची हैं । यह उल्लेख्य है कि इस मन्दिर के मुख्य कक्ष की छत 17 फुट 8 ईच ऊची है जो 26 विशाल स्तम्भों पर आधारित है । सम्पूर्ण मन्दिर का कटाव 240 फुट (80 गज) के करीब है । बाहरी और भीतरी प्रवेश द्वारों पर द्वारपालों शिवपार्वती तथा अन्य मूर्तिया मन्दिर की शाभा बढाती हैं । इस गुफा मन्दिर की तुलना बहुधा एलीफेन्टा के गुहा मन्दिर से की गई है ।

एलीफेन्टा के शैल कृत शैव मन्दिर की याजना भी क्रूसाकार है । इसका परिमाप 130 x129 फुट है । इसमें तीन प्रवेश द्वार हैं । मुख्य मन्दिर पार्श्व में स्थित है । अनुपात शैली और स्थिति में एलीफेन्टा शैलकृत मन्दिर के स्तम्भ घूमर लेणा क स्तम्भों की तरह हैं । उनकी स्थिति मुख्य कक्ष को नाभि और पार्श्व में विभाजित करती है । घूमर लेणा की भाति एलीफेन्टा का मन्दिर भी विशाल मूर्तियों स अलकृत किया गया है । यहाँ भी प्रवेश द्वार पर सिंह मूर्तियों के होन का सकेत पूर्व की ओर के एक छाट कक्ष से होता है । परन्तु अपनी विशिष्ट तक्षण निधि और सुविख्यात महेश मूर्ति के कारण एलीफेन्टा का मन्दिर श्रेष्ठतर है ।

आठवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निर्मित राष्ट्रकूट नरेशों की कीर्ति को चिरस्थायी बनाने वाला यह शिव मन्दिर भीतरी भाग में 130 फुट वर्गाकार है । इसका प्रवेश द्वार 54 फुट चौडा है जो उत्तर *(हिमालय की ओर) को खुलता है । मन्दिर का आकर्षण* केन्द्र है शिव महेश्वर त्रिमूर्ति 23 फुट ऊची और साढे उन्नीस फुट चौडी—एक आश्चर्यजनक एव उत्कृष्ट रचना । दर्शक के सामने बायी ओर पुरूष का मुख और दायी ओर स्त्री का मुख है बीच में विश्वव्यापी लोकोत्तर एव शून्यवत् अव्यक्त मूर्ति है जा सम्पूर्ण सृष्टि का सत्त्व है ।

शैलकृत हिन्दू स्थापत्य का चरमोत्कर्ष एलौरा का कैलास मन्दिर प्रस्तुत करता है । वास्तु

विन्यास रचना शैली एव एकाश्मकीय स्वभाव की दृष्टि से यह अद्वितीय कला कृति है । शैलकृत स्थापत्य की पूर्वगामी परम्पराआ का अतिक्रमण करके इस आश्चर्यमय कैलास के रचयिताओं ने इसे सरचनात्मक आकृति प्रदान की है । अभी तक के शैलकृत मन्दिर अथवा मण्डप भूमि (चट्टान) के अन्दर थे परन्तु यह खडी चट्टान को काटकर भूमि के उपर प्रस्तुत किया गया है मानों हाथी दात से बनी मूर्ति हो । इस मन्दिर का प्रारम्भ राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने (लगभग 757 ई से 783 ई) किया था । दो सौ छिहत्तर फुट लम्बे तथा एक सौ चौवन फुट चौडे (276 x 154 फुट) एकाश्मक से निर्मित यह शिवालय ऊपर से नीचे को काट काट कर बनाया गया है । इसमें एक प्रवेश द्वार एक नन्दि का मन्दिर उत्तरी शैली में बने 51 फुट ऊचे दो स्वतत्र ध्वज स्तम्भ उत्तरी शैली में निर्मित चपटी छत का 16 स्तम्भों पर आधारित एक मण्डप और एक मुख्य मन्दिर गर्भगृह जिसमें शिव लिगम् है और उसके उपर द्रविड शैली में निर्मित शिखर है (चित्र- 69) ।

एलौरा के कैलास मन्दिर की भूमि पर योजना एथेन्स के विख्यात पार्थेनन स साम्य रखती है परन्तु यह पार्थेनन से लगभग डेढ गुना अधिक ऊचा है । कैलास मन्दिर पट्टडकल के विरूपाक्ष मन्दिर की योजना से प्रभावित प्रतीत होता है परन्तु यह विरुपाक्ष से दोगुना बडा है । कैलास मन्दिर का आधार ही 25 फुट ऊचा है और प्रथम तल सा दिखाई देता है । इस आधार अथवा कुर्सी पर तीन तलों में उपर उठता हुआ 95 फुट ऊचा शिखर है ।

आधार कुर्सी पर बने हाथियों और सिंहों की विशाल प्रतिमाएँ माना अपने उपर क बोझ को सरलता से वहन कर रही हैं । मन्दिर के चारों ओर रामायण के कथानक उत्कीर्ण किये गये हैं । लका का राजा रावण कैलास को उठा रहा है उपर चाटी में शिव और पार्वती बैठे हुए हैं शिव के निवास गृह के हिलने से मानो उमा भयभीत हा गई है ।

हिन्दू मन्दिर के अवयव (शास्त्रानुसार) — इस परिच्छद में मन्दिर अथवा देवालय क विभिन्न आधारभूत तत्वों की धर्मशास्त्रों पुराणों आगमों एव वास्तुशास्त्रों के अनुसार सक्षिप्त चर्चा करना समीचीन जान पडता है । कहा जा सकता है कि भारतीय धार्मिक स्थापत्य एव तक्षण के विकास के मूल में वास्तु विद्या की दैवी व अर्द्ध दैवी उत्पत्ति का विचार ही निहित था । मन्दिर स्थापत्य की ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड यज्ञ परम्परा धार्मिक पूजा एव आगम दर्शन की दृष्टि से समुचित प्रामाणिक एव सविस्तार चर्चा स्टेला क्रमरिश[20] क एक ग्रथ में की गई है ।

1 स्थान— भारतीय धर्मों में और विशेष रूप से हिन्दू धर्म में तीर्थों और पुण्य क्षेत्रों का सास्कृतिक महत्व है । मन्दिर साधारणतया तीर्थस्थानों में होते हैं । महाभारत में सैकडों तीर्थस्थानों का उल्लेख हुआ है । गरूड पुराण में अयोध्या मथुरा माया काशी काची अवन्तिका तथा द्वारावती इन सात नगरों का मोक्षदायक क्षेत्र कहा गया है । ये तीर्थ सामान्य रूप से वन में नदी के तीर सागर क तट पर पर्वतों में अथवा नगरों में होते हैं जहाँ देवतागण सदैव निवास करते हैं । विष्णुधर्मोत्तर पुराण में गुफाओं में नदी काठा में पर्वतशिखर पर जलाशय के निकट उपवन में अरण्य में सरिता के तीर अथवा दुर्गो में मूर्ति (अर्चा) स्थापित करने का आदेश दिया गया है । अगुत्तर निकाय में बुद्ध के जन्म स्थान बोधिलाभ करने के स्थान धर्मचक्रप्रवर्तन के स्थान तथा महापरिनिर्वाण प्राप्ति स्थल—लुम्बिनी

20 स्टेला क्रमरिश, द हिन्दू टेम्पल भाग 1-2 कलकत्ता विश्वविद्यालय 1946

बुद्धगया सारनाथ तथा कुशीनगर को प्रत्येक श्रद्धालु भिक्षु के लिए दर्शनीय कहा है । तांत्रिक साहित्य में शाक्त पीठों का महत्त्व सुविदित है (साधनमाला भाग 2 पृ 453) । इन तीर्थ स्थलों तथा पुण्य क्षेत्रों में दृढ सुन्दर एव स्थायी मन्दिरों का विधिवत निर्माण होना चाहिए ।

2 *योजना विन्यास और मण्डल — शिल्प शास्त्रों में वास्तु को चतुर्विध माना गया है भूमि* प्रासाद यान एव शयन (मयमत 2 1-3) । परन्तु वास्तु का मौलिक अर्थ भवन की आयोजित भूमि है । इसका आकार नियमानुसार वर्गाकार होता है और इसका पूरा नाम वास्तुपुरुषमण्डल है जिसके तीन अग हैं वास्तु पुरुष और मण्डल । *वास्तु से अभिप्राय सत्ता और पूर्वायोजित मन्दिर के निर्माण* स्थल से है । पुरुष अर्थात् सृष्टि का उपादान कारण । उक्त निर्माण स्थल के विन्यास की आकृति पुरुष की भांति है । मण्डल से अभिप्राय किसी भी सुरक्षित बहुभुजी या बहुमुखी (मानचित्र) स्वरूप से है । वास्तुपुरुषमण्डल का आकार वर्गाकार होता है परन्तु यह त्रिकोण षट्कोण अष्टकोण अथवा गोल (वृत्ताकार) भी हो सकता है। हिन्दू प्रासाद अथवा मन्दिर का वास्तु विन्यास एव स्थापत्य वास्तुपुरुषमण्डल पर आधारित होता है । मयमत शिल्पशास्त्र में कहा गया है कि देवताओं और ब्राह्मणों के वास्तु का आकार चौकोर (वर्गाकार) है । वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों में चतुर्भुज अथवा चौकोण आकार का रहस्यात्मक महत्त्व सुविदित है । हिन्दू मन्दिर स्थापत्य में वर्गाकार तथा वर्तुलाकार विन्यास वैदिक सस्कृति व यज्ञ रहस्य पर आधारित प्रतीत होता है । शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के उच्छिष्ट अश को वास्तु कहा गया है । अथर्ववेद में एक मन्त्र में वास्तु को ही सब कुछ कह दिया है । *वास्तु मण्डल वस्तुत मन्दिर का दार्शनिक विन्यास है । मन्दिर के निर्माण के पूर्व वास्तुपुरुषमण्डल का* वर्गाकार खाका खींचना परमावश्यक माना गया है ।

बृहत्सहिता में दो प्रकार के वास्तु रेखाचित्रों का उल्लेख किया गया है एक में 64 समान पद और दूसरे में 81 पद होते हैं । हयशीर्ष पचरात्र में 64 वर्गो (पदों) का रेखाचित्र मन्दिरों के निर्माणार्थ तथा 81 पदों का रेखाचित्र निवासगृहों के निर्माणार्थ घोषित किया गया है । स्पष्ट है कि वास्तुपुरुषमण्डल द्विविध है 64 पद वाला मण्डल और 81 पद वाला मण्डल । प्रासाद के निर्माण स्थल पर एक मण्डल रेखाचित्र होना शास्त्र का अनुशासन है । *स्थापत्य की सुविधानुसार 64 या 81 वर्ग* खींचे जा सकते हैं । नारद वास्तुविधान में कहा गया है कि वास्तुपुरुषमण्डल वास्तु पुरुष का यन्त्र और रूप है यह उसका शरीर और शरीर यन्त्र है । भोजदेवकृत समरागणसूत्रधार में कहा गया है कि 64 वर्गों की वास्तु में वास्तु पुरुष का सिर पूर्व की ओर 81 वर्गों की वास्तु में उत्तर पूर्व को होता है (समरागण 14 11) । वास्तुपुरुषमण्डल का रहस्य वैदिक चिति तथा कर्मकाण्ड के रहस्य से उदभूत हुआ है । मन्दिर का भूमि पर रचना विन्यास वास्तुपुरुषमण्डल के अनुकूल होता है । यह सम्बन्ध मन्दिर की भित्तियों पर उत्कीर्ण चित्रों एव मूर्तियों द्वारा भी स्पष्ट किया जाता है । महानिर्वाणतन्त्र के *अनुसार मतिमान व्यक्ति जिसने मन्दिर का निर्माण करने का निश्चय कर लिया है विधिवत पूजा और* अनुष्ठान करता है सर्वप्रथम वास्तु (देव) की पूजा और अन्त में वसुओं की पूजा करता है । मन्दिर देवी अथवा देवता के निवासार्थ समर्पित किया जाता है । वास्तुपुरुषमण्डल में अनेक देवताओं को उनकी *स्थिति एव महत्ता के अनुरूप स्थान प्रदान किया जाता है केन्द्र में ब्रह्मा रहते हैं ।*

मन्दिर निर्माण सामग्री — इष्टका प्रस्तर और काष्ठ भवन निर्माण और देवालय निर्माण की सामान्य सामग्रियां हैं । हडप्पा तथा ऋग्वेद के दिनों से ही काष्ठ इष्टका तथा पाषाण का प्रयोग भारत

चित्र–69 एलौरा का शैलकृत कैलास मंदिर

में होता आया है । कौशाम्बी में बुद्धकालीन एक राजमहल पाषाण में निर्मित पाया गया है । मत्स्यपुराण से ज्ञात होता है कि हिन्दू मन्दिरों के निर्माण में काष्ठ इष्टका अथवा पाषाण का प्रयोग हो सकता है । समरागणसूत्रधार में कहा गया है कि प्रासाद नगर में बनाये जाते हैं और प्रस्तर तथा पक्की ईटों से बनाये जाते हैं । इस ग्रथ में काष्ठ से बने हर्म्य (घर) शैलकृत लयन तथा कपडे से बने पट्टिस का उल्लेख भी हुआ है । ईशानशिवगुरुदेव पद्धति (5 32 86 89) में प्रस्तर अथवा ईंट से बने सचित लकडी अथवा ईट से बने असचित एव लकडी और ईंट दोनों से बने उपसचित मदिरों का विवरण दिया गया है । मयमत शिल्पशास्त्र में कहा गया है कि मन्दिर के निर्माण के लिए काष्ठ ईट एव पाषाणादी सभी वस्तुए नवीन लेनी चाहिए । अन्य भवनों अथवा पुराने भग्न भवनों की सामग्री से मन्दिर नहीं बनवाना चाहिए । विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ईटों के निर्माण उनके रग तथा काष्ठ शिला वज्रलेप (सीमेन्ट) आदि का विस्तृत विधान पाया जाता है । इस ग्रथ में धूप से सेंकी हुई तथा अग्नि में पकाई हुई ईटों का भी उल्लेख हआ है । कहा गया है कि ब्राह्मणों के लिए सुन्दर सफेद और क्षत्रियों के लिए लालरग की पक्की ईटों का प्रयोग होना चाहिए ।

मन्दिर गर्भ — मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय प्रासाद का बीज (गर्भ) स्थापित किया जाता है । यह एक प्रकार का गर्भाधान सस्कार है जो भूमि पर सम्पन्न होता है (अग्निपुराण 61 11) । ताबे चादी अथवा सोने की फेला (गर्भपात्र) में बीज अथवा गर्भ (स्वर्ण आदि से बनी उस देवता की मूर्ति जिसका मन्दिर बनने जा रहा है) रख कर पुरोहित दानों हाथों से आकाश की ओर उठाकर प्रम्थापित करता है (शिल्परत्न 12 5) । मन्दिर के शिलान्यास एव अर्चा प्रतिष्ठा पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण में विस्तृत चर्चा की गई है ।

विमान — वायु पुराण के अनुसार पुरुष मान (दण्ड मापदण्ड) धारण करता है विभाजन जानता है और अपने को विभागों से निर्मित (अवयवी अवयवों स निर्मित) मानता है इसी कारण वह मति (मन चित्त) कहलाता है। पुरुष विश्व का महान शिल्पी है अतएव वह विश्वकर्मा कहलाता है (मानसार 2 2 5) । मयमत के अनुसार देवालय का मान (माप) सर्वप्रकार से पूर्ण हाने पर विश्व में भी पूर्णता आ जायेगी । इस वाक्य से मन्दिर स्थापत्य के मान का महत्त्व और स्थापत्य एव गणित का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है । परिमापन अथवा मान करना व्यवस्था करना है मान सन्तुलन है समुचित मानानुपात है । ईश्वर विश्व का परिमापन करता है उसका मान करता है वह परम सूत्रधार है (सूत्र = माप की रस्सी मापदण्ड) । मन्दिर विमान है विमान मन्दिर है यह पूर्णरूपेण परिमापन किया हुआ देवगृह देवालय और दवशरीर है। मन्दिर का अर्थ गर्भगृह मे है । यह मन्दिर का हृदय होता है सबस भीतर वाला केन्द्रीय भाग साधारणतया वर्गाकार । बौद्ध साहित्य में गब्भ पासाद विमान दिब्ब विमान' आदि शब्द गर्भ प्रासाद वेदिका तथा विमान के समानार्थक है । विमान देवताओं के निवास अथवा प्रासाद हैं । अर्थशास्त्र तथा अशोक के चौथे शैलकृत आदेश में विमान का रथ के अर्थ म प्रयोग हुआ है ।

ईशानशिवगुरुदेव पद्धति में विमान की निम्न परिभाषा दी गई है विमान शास्त्रानुसार निर्मित वह मन्दिर है जो सन्तुलन एव परिमापन (मान) की विभिन्न (विविध) पद्धतियों के प्रयोग से सम्पन्न है । यह परिभाषा मध्यकालीन शिल्पशास्त्र शिल्परत्न में भी पायी जाती है ।

विमान का परिमापन विविध प्रकार से होता है । इसकी विस्तृत चर्चा मत्स्यपुराण तथा गरुडपुराण में पायी जाती है । विशुद्ध वास्तुकला का सामान्य मापदण्ड प्रासाद के वर्ग की चौडाई का मान है । कुछ उदाहरणों में यह मापदण्ड स्थापत्य विषयक न होकर उस प्रतिमा (मूर्ति) अथवा लिंगम की ऊचाई है जो गर्भगृह में स्थापित है ।

प्रासाद — प्रासाद मन्दिर का ही नाम है । विमान और प्रासाद समानार्थक हैं ये दोनों शब्द मन्दिर के व्यापक नाम है । जिस प्रकार देव के अनेक नाम (ईश्वर परमात्मा परमेश्वर भगवान पुरूष) हैं उसी प्रकार मन्दिर के भी अनेक नाम हैं । शिल्परत्न में प्रासाद की परिभाषा देते हुये कहा गया है कि प्रासाद अपनी लावण्यता से देवताओं एव मनुष्यों को प्रसन्न करते हैं (प्रसीदन्ति) । स्मरणीय है कि वैदिक साहित्य में तथा रामायण और महाभारत में प्रासाद शब्द का अथवा विमान शब्द का प्रयोग मन्दिर के अर्थ में नहीं पाया जाता है । महाभारत में तथा रामायण में मन्दिर के लिए देवगृह देवायतन, देवस्थान आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है । पुराणों आगमों तन्त्रों एव शिल्पशास्त्रों में प्रासाद शब्द का मन्दिर के अर्थ में व्यापक प्रयोग हुआ । यह उल्लेखनीय है कि समरागणसूत्रधार नामक शिल्पशास्त्र में प्रासाद शब्द का प्रयोग भवन अथवा महल के अर्थ में भी हुआ है ।

विदिशा (बेसनगर) के गरुड ध्वज स्तम्भ के अभिलेख में उत्तम प्रासाद तथा मण्डगप्पट्टु के मन्दिर के अभिलेख में आयतन शब्दों का प्रयोग मन्दिर के लिए हुआ है । भरहुत के एक अध्युच्चित्र में वेजयन्त प्रासाद (इन्द्र का प्रासाद) दिखाया गया है । सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर को प्रासाद कहा गया है । नालन्दा में यशोवर्मदेव (यशोवर्मन) के प्रस्तर अभिलेख में प्रासाद देवालय शब्द आये हैं । मयमत में सभा शाला रगमण्डप तथा मन्दिर सभी को प्रासाद के अन्तर्गत गिनाया गया है । मनुस्मृति में मन्दिर को देवतागार' पचतन्त्र में प्रस्तर निर्मित अथवा शैलकृत मन्दिर को शैलदेवगृह कहा गया है । बौद्ध वास्तुकला में विहार शब्द सुविदित है परन्तु विहार चैत्य और हर्म्य भी मन्दिर का अर्थ रखते हैं । 12वी सदी के एक अभिलेख में पार्श्वनाथ के मन्दिर को विहार कहा गया है । अमरकोश में हर्म्य को धनिकों का निवास कहा गया है । घर अथवा मकान के लिए निकेतन गृह आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है । कतिपय शिल्पशास्त्रों में मन्दिर के पर्यायवाची शब्दों की तालिका भी पाई जाती है । समरागणसूत्रधार में देवताओं के रहने योग्य स्थलों के निम्नलिखित नाम दिये गये हैं सुरस्थान चैत्य अर्चा–गृह देवता–आयतन विबुधागार ।

काश्यपशिल्पम में निम्नलिखित पर्यायवाची हैं प्रासाद सदन सदम हर्म्यम् धाय निकेतन मन्दिर भवन वास दिव्यविमानक,आश्रय आस्पद आधार आदि ।

मयमत शिल्पशास्त्र में भवन के निम्नलिखित 29 समानार्थक नाम दिये गये हैं विमान्,भवन हर्म्य सौध धामन्,निकेतनम्,प्रासाद सदनम्,सद्म गह आवासक गृह आलय निलय वास आस्पद वास्तु वास्तुक क्षेत्र आयतन,वेश्म मन्दिर धिष्ण्यक पद लय क्षय आगार उदवसित तथा स्थान ।

मन्दिर के ये विभिन्न नाम उसकी त्रिविध उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हैं । छठी–सातवीं शताब्दियों तक मन्दिर स्थापत्य सुविकसित हो चुका था । बृहत्संहिता से पूर्व गर्ग मनु मय एव विश्वकर्म ने वास्तुशास्त्र पर ग्रथ लिखे थे । श्वान च्वाड भारत की पाँच विद्याओं में शिल्प स्थान विद्या का उल्लेख करता है ।

स्थपति और मन्दिर स्थापत्य —मन्दिर निर्माण का कार्य कला और विज्ञान दोनों के सहयोग से होता है । शिल्प स्थान विद्या में शिल्प तथा स्थान (गृह महल) तथा विद्या तीनों सम्मिलित हैं । शुक्रनीति में शिल्पशास्त्र का 32 विद्याओं में परिगणन हुआ है परन्तु वहीं मथ वास्तुकला तथा चित्रकला की अन्यत्र 64 कलाओं में गणना करता है । स्थपति स्वय एक शिल्पी होता है और शिल्पियों की अन्य तीन श्रेणियों— सूत्रग्राही वर्धकी तथा तक्षक —का आचार्य अथवा प्रमुख होता है । मन्दिर का निर्माण सम्पन्न हो जाने पर स्थपति प्रार्थना करता है कि राजा भूमि की रक्षा करे प्रजाजन स्वस्थ समृद्ध और प्रसन्न रहें । समरागणसूत्रधार में मेरू प्रासाद के विवरण में कहा गया है कि इस प्रकार का प्रासाद केवल क्षत्रिय को बनवाना चाहिए और स्थपति वैश्य होना चाहिए । वास्तुशास्त्र में कुशल ब्राह्मण भी स्थपति हो सकता है परन्तु क्षत्रिय को वास्तुशास्त्र में निपुण होने पर भी स्थपति नहीं होना चाहिए ।

मत्स्य पुराण में वास्तुशास्त्र के आचार्यों में अठारह महान स्थपतियों के निम्नलिखित नाम दिये गये हैं भृगु अत्रि वसिष्ठ विश्वकर्म मय नारद नग्नजित विशालाक्ष इन्द्र ब्रह्मा स्वामीकार्तिक नन्दीश्वर शौनक गर्ग श्रीकृष्ण अनिरुद्ध शुक्र तथा बृहस्पति ।

कभी कभी ऐतिहासिक काल के मन्दिरों में उनके मुख्य स्थपतियों के नाम भी पाये जाते हैं । पट्टडकल के पापनाथ मन्दिर का स्थपति चट्टर रेवडी ओवज्ज नामक व्यक्ति था जिसकी उपाधि सर्वसिद्धिआचार्य थी । पट्टडक्ल के विरुपाक्ष मन्दिर का स्थपति सूत्रधार त्रिभुवनाचार्य की उपाधि से विभूषित था । उसका नाम गुण्ड था ।

हिन्दू मन्दिर में प्रासाद वस्तुत गर्भगृह का कक्ष है । गर्भगृह वर्गाकार योजना का छोटा साधारणतया अन्धेरा कमरा होता है । इसमें केवल पुजारी प्रवेश करता है अन्य उपासक एव दर्शक प्रवेश द्वार से अथवा मण्डप से अथवा अन्तराल से दर्शन व पूजन करते हैं । मन्दिरों की छत चपटी अथवा गज पृष्ठाकार होती है । कालान्तर में शिखर का विकास हुआ और मन्दिर की उपरी मंजिलें पिरामिडीय होने लगी । मन्दिर में अधिष्ठान अथवा पीठ गर्भगृह तथा उपरी भाग विमान जिसपर शिखर रहता है ये तीन मुख्य भाग होते हैं । यद्यपि मन्दिर में एक या एक स अधिक परिस्तम्भित मण्डप प्रदक्षिणापथ प्रवेश द्वार अन्तराल तोरण या गोपुर और चारों ओर अन्य कई मन्दिर भी होते हैं परन्तु प्रासाद का गर्भगृह वैसा ही रहता है वही मन्दिर का हृदय और सर्वाधिक पवित्र एव महत्वपूर्ण अग है । अधिष्ठान को पीठ आद्यग वस्त्वाधार आदि नामों से भी जाना जाता है । उडीसा के मन्दिरों की दीवार का सबसे नीचे का भाग पाभाग कहा गया है । यह वेदिका का ही एक प्रकार है । सम्पूर्ण मन्दिर का शरीर जिस आधार पर स्थित रहता है उसे कटि या जगती (प्लिन्थ) कहा जाता है इसे पीठिका या जगती पीठ भी कहा गया है । मन्दिर का भूमि पर का विन्यास सस्थान (ग्राउण्ड प्लान) कहलाता है । इसका उपरी भाग उन्मान (वर्टिकल सेक्सन) कहलाता है । इसका विशिष्ट वास्तुरूप लक्षण (आर्किटेक्चरल फॉर्म) कहा जाता है । गर्भगृह का सम्बन्ध चिति से प्रतीत होता है जिस प्रकार वेदि पर चिति प्रस्थापित होती है उसी प्रकार पीठ पर भित्ति खडी की जाती है । रचना और रूप में प्रासाद और चिति परस्पर सम्बन्धित हैं । इस प्रकार हिन्दू मन्दिर की वैदिक उत्पत्ति सकेतित होती है । इस प्रकार प्रासाद समुचित परिमापन युक्त (विमान) एक चैत्य (चिति) है जो पवित्र एव दर्शनाय है ।

गर्भगृह — यह पहले भी कहा जा चुका है कि गर्भगृह प्रासाद का हृदय है । यह अधिकाश मन्दिरों में वर्गाकार है और किसी शैल गुहा की भाति अन्धेरा छोटा कक्ष होता है । इसके चतुर्दिक भित्तिया होती हैं और केवल प्रवेशद्वार से इसमें प्रकाश आता है । इसका प्रदक्षिणा पथ अन्धकारिका कहलाता है । दक्षिण भारत के मन्दिरों में एक से अधिक गर्भगृह पाये जाते हैं—एक मजिल में एक गर्भगृह उसके उपर दूसरी मजिल में दूसरा और उसके उपर तीसरी में तीसरा इस प्रकार । सामान्यरूप से गर्भगृह की चौडाई प्रासाद की चौडाई की आधी होती है परन्तु इस नियम के बहुत अपवाद पाये जाते हैं । गर्भगृह एक रहस्य है ब्रह्मपुर की भाति यह चारदीवारों के भीतर सुरक्षित स्थिर और स्थित है। यह न केवल पुरुष का गर्भ (बीज अकुर) है अपितु उसका गृह (देवगृह देवालय) भी है । गर्भगृह के अन्धकार में दर्शक अपना नया जन्म (गर्भ) अनुभव करता है । इसमें पवित्र से पवित्र उत्तम से उतम और परमदर्शनीय इष्टदेव के रूप में भक्त अपने आराध्य से सान्निध्य स्थापित करता है उसका साक्षात्का ग्ता है । मनुस्मृति में कहा गया है कि प्रारम्भ में विश्व अन्धकार स्वरूप था —तमाभूनम— गर्भगृह में अन्धकार का होना पुनर्जन्म का परिशोधित जीवन का द्योतक है । प्रासाद का गर्भगृह हिरण्यगर्भ का प्रतीक है ।

शिखर — हिन्दू मन्दिर स्थापत्य में शिखर की रचना प्रमुख एव स्थायी महत्त्व की है । शिखर से ही किसी मन्दिर की शैली की पहचान होती है । दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी के एक ग्रथ ईशान शिवगुरुदेव पद्धति में तो यहाँ तक कहा गया है कि सभी (विमानों) के भेद का निर्देश शिखर भेद द्वारा होता है— (शिखरस्य तु भेदेन सर्वेषा भेदमुद्दिशेत्) भारतीय प्रासाद (मन्दिर) स्थापत्य में शिखर का विकास छठी शताब्दी से हुआ प्रतीत होता है । गर्भगृह के उपरी भाग को शिखर कहते हैं । यह पहाड (गिरि पर्वत) की भाति उपर को पिरामिडीय होता है । पूर्ण विकसित हिन्दू मन्दिरों में (कम से कम कृष्णा नदी से उत्तर के प्रदेशों में) शिखर ही प्रासाद के बाह्य भाग का मुख्य और अनिवार्य अग है। वास्तु शास्त्रों में शिखर' मन्दिर के उस भाग को कहा गया है जो उपर को पिरामिडीय (ह्रासोन्मुखी) होता है और जिसके शीर्ष भाग पर आमलक होता है । दक्षिण भारत के मन्दिरों में जहा मन्दिर की उपरी सरचना कई मजिलों (भूमियों में उठती है वहाँ क्षुद्र विमान (अल्प विमान) की गुम्बदीय छत को शिखर कहते हैं । इस अवस्था में शिखर गुम्बदीय होता है । यह वर्गाकार गोलाकार,षटभुजी अथवा अष्टभुजी भी होता है ।

परन्तु शिखर' शब्द प्राचीन है । मन्दिर एक पर्वत की भाति है शिखर उसकी उपरी सरचना है जो गर्भगृह को ढकती है । अभिलेखों में बहुधा मन्दिर की तुलना कैलास और मेरू से की गई है । रामायण में मन्दिर को पर्वत शिखर की तरह उल्लिखित किया है । शिखर बहुधा वक्ररेखीय (कर्वीलाइनर) होता है । प्रत्येक वक्ररेखीय शिखर के वर्गाकार अथवा गोलाकार आधार पर शीर्ष के रूप में एक आमलक होता है ।

गवाक्ष — गवाक्ष का शाब्दिक अर्थ है वृषभ आख यह गाय बैल के आख के आकार की खिडकी या वातायन है । शिल्परत्न में छ प्रकार के गवाक्षों का विवेचन मिलता है । शिखर का शरीर गवाक्षों से बहुधा घिरा हुआ पाया जाता है । लता की भाति ये गवाक्ष शिखर को पकडे रहते हैं । यह गवाक्ष भी वक्ररेखीय होते हैं । शिखर की दीवारों के वे आन्तरिक भाग जो गवाक्षों पर होते हैं 'लतिना (लता से) कहे गये हैं । गवाक्ष की रूपरेखा गुम्बदीय होती है क्यों कि इसका आकार उस प्रकार का

होता है गवाक्ष वास्तुशास्त्र में एक प्रकार की खिडकी है । यह गोल होती है (गेबल विण्डो) । गवाक्ष का अर्थ सूर्य किरण भी होता है गाव = रवि रश्मिया न केवल सूर्य की किरणें वरन सूर्य भी गौ है। अक्ष आख केन्द्र चक्र अथवा एक्सिल । स्टैला क्रमरिश के अनुसार गवाक्ष का सूर्य मेहराब (सन्- आर्च) या रश्मि चक्र (रे व्हील) अनुवाद हिन्दू मन्दिर में गवाक्ष के प्रतीकात्मक प्रयोजन अथवा कार्य को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से उचित होगा । गवाक्ष वातायन को चैत्यवातायन अश्वपादीय वातायन तथा सूर्यद्वार भी कह सकते हैं । बहुधा गवाक्ष प्रतीकात्मक होता है ।

मन्दिर में वास करने वाला देवता अनेक खिडकियों से बाहर देखता है मन्दिर के गवाक्ष भीतर गर्भगृह में प्रकाश आने के लिए नहीं होते । गर्भगृह में प्रतिष्ठित देवता उन गवाक्षों द्वारा मानों प्रकाश विकीर्ण करता है । गवाक्ष प्रतीकात्मक चक्र है इनमें बहुधा मूर्तिया बनी रहती हैं उदाहरणार्थ भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर मन्दिर के गवाक्ष के गुम्बद पर सिंह मूर्ति पायी जाती है । बहुधा ये गवाक्ष वातायन बन्द होते हैं । गवाक्षों के कारण मन्दिर का निवासी देवता सम्पूर्ण प्रासाद पर अपनी दीप्ति छाये रहता है । मन्दिर की भूमियों शिखरों तथा कपोतों पर गवाक्ष पक्तिया एक विलक्षण रहस्य विकीर्ण किये रहती है ।

आमलक — आमलक सामान्य बातचीत में आवला है परन्तु वास्तुशास्त्र में मन्दिर के शिखर के उपर आवले के आकार का पसलीदार प्रस्तर आमलक कहलाता है आमलक नागर मन्दिरों का ताज है शीर्ष है । पिरामिडीय शिखर के उपर के फलक पर आमलक रखा जाता है इसके उपर स्तूपिका होती है । आमलक का ठोस आकार अगूठी की तरह होता है । दक्षिण भारतीय मन्दिर के शिखर पर (द्राविड शिखरों पर) आमलक नहीं होता । दक्षिणी मन्दिरों पर विमान अथवा हर्म्य की बुर्जी (क्यूपोला) ही आमलक का अर्थ और स्थिति प्राप्त करती है ।

कीर्तिमुख — प्रवेश द्वार ताख (निच) तथा वातायन आदि देवता तक पहुँचने के (मानवीय) मार्गो के वास्तु प्रतीक हैं । ये अलकृत रहते हैं । इन अलकरण के विविध उपकरणों में कीर्तिमुख उल्लेख्य है । कीर्तिमुख का स्वाभाविक स्थल है गवाक्ष की चोटी । *नागर मन्दिरों के बडे गवाक्षों में* बहुधा कीर्तिमुख पाये जाते हैं । ये शिखर के खुले गुम्बदों पर के शुकनासा हैं । गजपृष्ठ मन्दिरों में मुहार (फेकेड) के गुम्बद के शीर्ष के उपर कीर्तिमुख हैं यथा चेजर्ला के कपातेश्वर मन्दिर में । द्रविड शैली के मन्दिरों में कीर्तिमुख के मुख से निकलता हुआ गुम्बद प्रत्येक (लघु) मदिर के उपर रहता है अथवा मन्दिर की प्रत्येक भूमि के ढाल पर के प्रत्येक विमान के प्रत्येक वातायन के उपर कीर्तिमुख रहता है । मन्दिर की दीवारों तथा शिखर के कपोतों (कॉर्निस) पर भी कीर्तिमुख उत्कीर्ण किये जाते हैं ।

अजन्ता की 28 वीं गुहा में चट्टान पर गवाक्ष वातायन के उपर कीर्तिमुख बने हैं । पूर्वी भारत की कुछ मूर्तियों के तोरणों (प्रभानोरणों) पर गुम्बद के मुख्य प्रस्तर पर कीर्तिमुख हैं । तजार के बृहदीश्वर मन्दिर के गवाक्षों के उपर और भीतर विभिन्न रूप में कीर्तिमुख उपलब्ध हैं । परन्तु गवाक्ष के गुम्बद के शीर्ष तथा गवाक्ष के अन्दर के अतिरिक्त कीर्तिमुख मन्दिर के अन्य अगों पर भी उत्कीर्ण किये गये हैं। गर्भगृह के निकट भी कीर्तिमुख होता है । यह अधिष्ठान अथवा पीठ पर भी पाया जाता है जिसे ग्रास पट्टिका' तथा राहुर मुखेर माला नामों से क्रमश गुजरात और उडीसा में जाना जाता है । दक्षिण के मन्दिरों के सोपानों के दोनों ओर तथा वेदि के उत्कीर्ण फलकों के प्रारम्भ अथवा मध्य में भी कीर्तिमुख पाये जाते हैं ।

कीर्तिमुख बहुधा डरावना होता है । यह मानव और पशु की मिश्रित आकृति होती है जो शक्ति और शौर्य का सकेत सा करता है । कीर्तिमुख (फेस ऑव ग्लोरी) साधारणतया सिंह की आकृति का होता है अतएव इसे सिंह मुख (फेस ऑव लॉयन) भी कहते हैं । इसके सीग होते हैं । इसका मस्तक (सिंह ललाट) बीच के तीसरे सींग के स्थान पर होता है । इसकी नासिका ऐसी होती है जैसे यह जोर स सास ले रहा हो। कीर्तिमुख की रचना कलात्मक है। भारतीय कला में कीर्तिमुख एक प्रमुख कला उपकरण है । यह विविध और विलक्षण होता है ।

भारतीय कला में ई सन् के प्रारम्भ से ही कीर्तिमुख पाये जाते हैं । कुषाणकाल में भी कीर्तिमुख बनाय जाते थे। तक्षशिला में सिरकप से सीगधारी कीर्तिमुख की प्रतिमा मिली है। गुप्तकालीन बुद्ध गया के मन्दिर में कीर्तिमुख उत्कीर्ण है । अमरावती में रामग्राम स्तूप पर कीर्तिमुख उत्कीर्ण है । प्रथम शताब्दी की अमरावती से प्राप्त मूर्तियों में नाग के सिर पर कीर्तिमुख पाया गया है । मथुरा से प्राप्त एक शिव मूर्ति के सिर पर कीर्तिमुख मिलता है । ऐहोल के दुर्गा मन्दिर तथा एलौरा के दशावतार मन्दिर में भी कीर्तिमुख पाये गये हैं ।

मिथुन — भारतीय कला में विशेष रूप से हिन्दू मन्दिरों क बाह्य भाग–स्तम्भों पर भित्ति स्तम्भों पर प्रवेश द्वार की शाखा पर अथवा दीवार पर मिथुन पाये जाते हैं । य दृश्य यौवनपूर्ण नग्न स्त्री पुरुषों के मैथुन एव काम कला से सयुक्त होने के कारण बहुधा भ्रान्तिमूलक विचारों को जन्म दते हैं। परन्तु इन दृश्यों को प्राचीन भारतीय नर नारियों के भौतिक प्रेम अथवा काम-क्रीडा विषयक समझना बहुत बडी त्रुटि है । मिथुन का अभिप्राय रहस्यात्मक है । इसक मूल में तान्त्रिक मोक्ष दर्शन अन्तर्निहित है । यह आध्यात्मिक साधना का प्रतीकात्मक दिग्दर्शन है । मिथुन की अवस्था दो प्राणियों के मिलन की अवस्था है। यह योग है युगनद्ध है। तन्त्रशास्त्रों में इसे सामरस की अवस्था युगलमूर्ति एव तिब्बती में इसे यब युम कहते हैं। प्रकृति और पुरुष अथवा शक्ति और शिव अथवा प्रज्ञा और उपाय अथवा माया और महेश्वर' वस्तुत दो नही एक ही हैं। द्वय भाव की समाप्ति और एकीभाव की प्राप्ति साधक की साधना का उद्दश्य है। श्वेताश्वर उपनिषद में (4 10) कहा गया है माया तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम् ।

अत मिथुन आत्मा और परमात्मा प्रकृति और पुरुष के साक्षात्कार का प्रतीक है यही कारण है कि मिथुन में स्त्री और पुरष को प्रगाढ आलिंगन की अवस्था में दिखाया जाता है । मिथुन का नामान्तर अर्द्धनारीश्वर है स्त्री और पुरूष दो पहलू सृष्टि के दो उपकरण हैं दोनों साधन होने से अर्द्धनारीश्वर साध्य है । मिथुन दम्पतियों क चित्र प्राय नर नारा के पारस्परिक नैसर्गिक प्रेम व प्रणय का भी दिग्दर्शन करत हैं। हिन्दू पौराणिक धर्म की इस प्रकार की परम्परा प्राचीन वैदिक काल से ही चली आ रही थी। गुप्तकाल में पौराणिक धर्म का विकास हुआ अतएव गुप्तकाल से भारतीय कला में मिथुन अभिप्राय भी लोकप्रिय अलकरण हो गया था । तन्त्रयोग (मैथुनयोग) की भाति मिथुन अलकरण का सम्बन्ध भी स्त्री और पुरुष की काम कला शक्ति से है। मिथुन गर्भगृह के द्वार पाखों पर उत्कीर्ण किया जाता है। दीवारों पर भी मिथुन पाये जाते हैं। 7 वी शताब्दी के बाद तात्रिक धर्म का खूब प्रचार हुआ अत तात्रिक योग साधना और शक्ति साहचर्य का स्पष्ट प्रभाव तत्कालीन कला में पाया जाता है। परवर्ती बौद्ध तात्रिक कला में नैरात्मा और हेवज्र प्रज्ञा और वज्रसत्व उसी प्रकार दिखाये गये हैं जिस प्रकार शिव और शक्ति का चित्रण शैवागमों में तथा उत्तर भारतीय मन्दिरों की दीवारों पर है। खजुराहो के

हिन्दू मन्दिरों की दीवारों पर कामकला विषयक चित्रों में कुछ चित्र लौकिक जीवन से भी सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।

मण्डप — प्रासाद अथवा विमान मन्दिर के ही अन्य नाम हैं। विमान के अन्दर गर्भगृह और विमान के उपर शिखर होता है। विमान के सामने प्रवेश द्वार से सटा हुआ एक परिस्तम्भित (खुला अथवा ढका हुआ) कक्ष होता है। इसमें उपासक और भक्त बैठकर पूजा प्रार्थना करते हैं। इस वास्तु रचना को ही मण्डप कहा जाता है। कुछ प्रारम्भिक मन्दिरों में (यथा मामल्लपुरम् में शोर' मन्दिर भुवनेश्वर में परशुरामेश्वर मन्दिर) प्रासाद का निर्माण करने के पश्चात् मण्डप का निर्माण हुआ है और मण्डप प्रासाद से स्वतंत्र रचना का रूप लेता है। परन्तु स्थापत्य कला में प्रगति के साथ मण्डप प्रासाद का आवश्यक और अभिन्न अग हो गया। बहुधा मण्डप का प्रासाद के साथ मिलाने वाला एक छोटा कक्ष भी निर्मित किया जाने लगा जिसे अन्तराल कहते हैं। अन्तराल प्रासाद का मुखमण्डप बनाता है। समरागणसूत्रधार में स्पष्ट निर्देश है कि मण्डप की सरचना की ऊचाई प्रासाद के शुकनासा की ऊचाई से अधिक नही होनी चाहिए। गर्भगृह की भाति मण्डप भी बहुधा वर्गाकार होता है। जिन मन्दिरों में प्रदक्षिणापथ होता है उन्हें सान्धार प्रासाद तथा जिनमें यह नहीं होता उन्हें निरन्धार प्रासाद कहते हैं। मण्डप को महामण्डप भी कहते हैं। प्रदक्षिणा पथ (पक्रिमा का मार्ग पाथ ऑव प्रोसेसन) तथा महामण्डप के वरामदों को अर्द्धमण्डप कहते हैं। मण्डप वर्गाकार अथवा आयताकार होता है। इसकी चौडाई मान और अनुपात के अनुसार प्रासाद की चौडाई के बराबर होनी चाहिए। दक्षिण भारत के मण्डपों का वर्गीकरण स्तम्भों की सख्या के अनुसार किया जाता है। चार स्तम्भों वाले बारह स्तम्भों वाले सोलह बत्तीस अथवा सौ स्तम्भों वाले मण्डपों का विधान वास्तुशास्त्र में पाया जाता है। स्तम्भ को पाद जघा चरण स्थाणु तथा स्थूण आदि नामों से भी जाना जाता है।

अध्याय 10

मन्दिर स्थापत्य की पूर्व मध्य युगीन शैलियाँ

मन्दिरों क प्रकार और वर्गीकरण का आधार— जेम्स बर्जेस एव जेम्स फर्गुसन ने भारत के मन्दिरों को दो मुख्य शैलियों में अथवा वर्गों में विभक्त किया था (1) आर्यावर्त शैली अथवा इण्डो आयन शैली तथा (2) द्रविड शैली अथवा दक्षिणी शैली। पर्सी ब्राउन ने इसी वर्गीकरण को अपनाया है। परन्तु मन्दिरों के उत्तरी एव दक्षिणी शैली में विभाजन के कारण भौगोलिक दृष्टि से उत्पन्न होने वाली भ्रांति की सम्भावना के प्रति उपर्युक्त लेखक सचेत थे। क्योंकि 'द्रविड शैली के मन्दिर उत्तर में एलौरा (औरगाबाद) तक तथा उत्तरी शैली क मन्दिर दक्षिण में धारवाड तक पाये जाते हैं। स्मरणीय है कि पट्टडक्ल में आठवीं शताब्दी मे दानों प्रकार क मन्दिर निर्मित हुये हैं।

हाइनिक जिमर ने भारतीय मन्दिर स्थापत्य की शैली को त्रिविध माना है (1) उत्तरी शैली (2) मध्य (भारतीय) शैली तथा (3) दक्षिणी शैला। यह विभाजन आशिक रुप से कुमारस्वामी कृत प्रभेद पर आधारित है। परन्तु स्वय कुमारस्वामी ने आर्यावर्त तथा द्रविड प्रकारों पर ही विशेष जोर दिया है। इन दो शैलियों में मुख्य अन्तर शिखर विषयक है। आर्यावर्त शैली ('नागर') में मन्दिर के आयताकार अथवा चौकार गर्भगृह के ऊपर गोलाकार अथवा चतुष्काण मीनार बनता है जो ऊपर को त्रिकोण की भाति पतला होता है। इसक ऊपर आमलक और उस पर कलश एव ध्वज दण्ड होता है। द्राविड (दक्षिणी) मन्दिरों में वर्गाकार गर्भगृह के ऊपर कई भूमियों में बटा शिखर हाता है। य भूमिया अथवा मजिलें विमान को पिरामिडीय बनाती हैं और ऊपर शीर्ष में वर्तुलाकार (वृत्ताकार) अथवा अष्टभुजी कलश रखा जाता है।[1] दक्षिणी मन्दिरों की चोटी पर दक्षिणीशिल्प शास्त्रों के अनुसार स्तूपी होती है। उत्तरी मन्दिरों की चाटी पर उत्तरी शिल्पशास्त्रों के अनुसार अमलसार' या आमलक होता है। कतिपय शास्त्रों में यथा विश्वकर्मप्रकाश बृहत्संहिता मत्स्यपुराण भविष्यपुराण तथा समरागणसूत्रधार प्रभृति ग्रर्थो में निम्नलिखित बीस प्रकार के प्रासाद (विमान मन्दिर) गिनाये गये हैं

मेरु, मन्दर कैलास विमान छन्द नन्दन समुद्र (समुद्ग) पद्म गरुड नन्दिवर्द्धन (नन्दिन) गज (कुन्जर) गृहराज (गुहराज) वृष हस कुम्भ (घट) सर्वतोभद्र मृगराज (सिंह) वर्तुल (वृत्त) चतुरस्र (चतुष्कोण) शोडशास्र तथा अष्टास्र। समरागणसूत्रधार के 57 वें तथा 59 वें अध्यायों में उपर्युक्त 20 प्रकार के मन्दिरों के सूक्ष्म लक्षणों का विस्तार पाया जाता है। मरु मन्दर और कैलास पर्वतों की तरह विशाल मन्दिर प्रकार हैं। इनमें छ भूमिया हाती हैं। विमानछन्द और नन्दन भी इसी कोटि में आते हैं। ये वर्गाकार विन्यास क मन्दिर हैं।

अन्य दूसरे मन्दिर गोलाकार होते है इनका विन्यास कमल की भाति अथवा गरुड की आकृति का अथवा गजपृष्ठ वाले मन्दिर इस कोटि क हैं। अन्तिम चार प्रकार के मन्दिर ज्यामितिक स्वरूप के

1 उ० कुमारस्वामी पूर्वोक्त पृ० 270

हिन्दू मन्दिरों की दीवारों पर कामकला विषयक चित्रों में कुछ चित्र लौकिक जीवन से भी सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।

मण्डप — प्रासाद अथवा विमान मन्दिर के ही अन्य नाम हैं। विमान के अन्दर गर्भगृह और विमान के उपर शिखर होता है। विमान के सामने प्रवेश द्वार से सटा हुआ एक परिस्तम्भित (खुला अथवा ढका हुआ) कक्ष होता है। इसमें उपासक और भक्त बैठकर पूजा प्रार्थना करते हैं। इस वास्तु रचना को ही मण्डप कहा जाता है। कुछ प्रारम्भिक मन्दिरों में (यथा मामल्लपुरम् में शोर' मन्दिर भुवनेश्वर में परशुरामेश्वर मन्दिर) प्रासाद का निर्माण करने के पश्चात् मण्डप का निर्माण हुआ है और मण्डप प्रासाद से स्वतत्र रचना का रूप लेता है। परन्तु स्थापत्य कला में प्रगति के साथ मण्डप प्रासाद का आवश्यक और अभिन्न अग हो गया। बहुधा मण्डप को प्रासाद के साथ मिलाने वाला एक छोटा कक्ष भी निर्मित किया जाने लगा जिस अन्तराल कहते हैं। अन्तराल प्रासाद का मुखमण्डप बनाता है। समरागणसूत्रधार में स्पष्ट निर्देश है कि मण्डप की सरचना की ऊचाई प्रासाद के शुकनासा की ऊचाई से अधिक नही होनी चाहिए। गर्भगृह की भाति मण्डप भी बहुधा वर्गाकार होता है। जिन मन्दिरों में प्रदक्षिणापथ होता है उन्हें सान्धार प्रासाद तथा जिनमें यह नही होता उन्हें निरन्धार प्रासाद कहते हैं। मण्डप को महामण्डप भी कहते हैं। प्रदक्षिणा पथ (परिक्रमा का मार्ग पाथ ऑव प्रोसेसन) तथा महामण्डप के वरामदों को अर्द्धमण्डप कहते हैं। मण्डप वर्गाकार अथवा आयताकार होता है। इसकी चौडाई मान और अनुपात के अनुसार प्रासाद की चौडाई के बराबर होनी चाहिए। दक्षिण भारत के मण्डपों का वर्गीकरण स्तम्भों की सख्या के अनुसार किया जाता है। चार स्तम्भों वाले बारह स्तम्भों वाले सोलह बत्तीस अथवा सौ स्तम्भों वाले मण्डपों का विधान वास्तुशास्त्र में पाया जाता है। स्तम्भ को पाद जघा चरण स्थाणु तथा स्थूण आदि नामों से भी जाना जाता है।

अध्याय 10

मन्दिर स्थापत्य की पूर्व मध्य युगीन शैलियाँ

मन्दिरा क प्रकार आर वर्गीकरण का आधार— जेम्स बर्जेस एव जेम्स फर्गुसन ने भारत के मन्दिरों को दो मुख्य शैलियों में अथवा वर्गों में विभक्त किया था (1) आर्यावर्त शैली अथवा इण्डो आर्यन शैली तथा (2) द्रविड शैली अथवा दक्षिणी शैली। पर्सी ब्राउन ने इसी वर्गीकरण को अपनाया है। परन्तु मन्दिरों के उत्तरी एव दक्षिणी शैली में विभाजन के कारण भौगोलिक दृष्टि से उत्पन्न होने वाली भ्राति की सम्भावना के प्रति उपर्युक्त लेखक सचेत थे। क्योंकि द्रविड शैली के मन्दिर उत्तर में एलौरा (औरगाबाद) तक तथा उत्तरी शैली क मन्दिर दक्षिण में धारवाड तक पाये जाते हैं। स्मरणीय है कि पट्टडकल में आठवी शताब्दी में दानों प्रकार क मन्दिर निर्मित हुये हैं ।

हाइनिक जिमर ने भारतीय मन्दिर स्थापत्य की शैली को त्रिविध माना है (1) उत्तरी शैली (2) मध्य (भारतीय) शैली तथा (3) दक्षिणी शैली। यह विभाजन आशिक रुप से कुमारस्वामी कृत प्रभेद पर आधारित है। परन्तु स्वय कुमारस्वामी ने आर्यावर्त तथा द्रविड प्रकारों पर ही विशेष जोर दिया है। इन दो शैलियों में मुख्य अन्तर शिखर विषयक है। आर्यावर्त शैली ('नागर') में मन्दिर के आयताकार अथवा चौकोर गर्भगृह के उपर गोलाकार अथवा चतुष्काण मीनार बनता है जो उपर को त्रिकोण की भाति पतला होता है। इसके उपर आमलक और उस पर क्लश एव ध्वज दण्ड होता है। द्राविड (दक्षिणी) मन्दिरों में वर्गाकार गर्भगृह के उपर कई भूमियों में बटा शिखर होता है। य भूमिया अथवा मजिलें विमान को पिरामिडीय बनाती हैं और उपर शीर्ष में वर्तुलाकार (वृत्ताकार) अथवा अष्टभुजी क्लश रखा जाता है।[1] दक्षिणी मन्दिरों की चोटी पर दक्षिणीशिल्प शास्त्रों के अनुसार स्तूपी होती है। उत्तरी मन्दिरों की चोटी पर उत्तरी शिल्पशास्त्रों के अनुसार अमलसार' या आमलक होता है। कतिपय शास्त्रों में यथा विश्वकर्मप्रकाश बृहत्सहिता मत्स्यपुराण भविष्यपुराण तथा समरागणसूत्रधार प्रभृति ग्रथों में निम्नलिखित बीस प्रकार के प्रासाद (विमान मन्दिर) गिनाये गये हैं

मेरु मन्दर कैलास विमान छन्द नन्दन समुद्र (समुद्ग) पद्म गरुड नन्दिवर्द्धन (नन्दिन) गज (कुन्जर) गृहराज (गुहराज) वृष हस कुम्भ (घट) सर्वतोभद्र मृगराज (सिंह) वर्तुल (वृत्त) चतुरस्र (चतुष्कोण) शोडशाश्र तथा अष्टाश्र। समरागणसूत्रधार के 57 वें तथा 59 वें अध्यायों में उपर्युक्त 20 प्रकार के मन्दिरों के सूक्ष्म लक्षणों का विस्तार पाया जाता है। मेरु मन्दर और कैलास बडे पर्वतों की तरह विशाल मन्दिर प्रकार हैं । इनमें छ भूमिया हाती हैं । विमानछन्द और नन्दन भी इसी कोटि में आते हैं। ये वर्गाकार विन्यास के मन्दिर हैं।

अन्य दूसरे मन्दिर गोलाकार होते हैं इनका विन्यास कमल की भाति अथवा गरुड की आकृति का अथवा गजपृष्ठ वाले मन्दिर इस कोटि के हैं। अन्तिम चार प्रकार के मन्दिर ज्यामितिक स्वरूप के हैं

1 द्र० क्रमरिश पूर्वोक्त पृ० 270.

वर्तुलाकार चतुष्कोण सोलह सतहों वाले अथवा आठ पृष्ठों वाले। उपर्युक्त 20 प्रकार के मन्दिरों के अनुकाय अग है प्राग्रीव (मण्डप) तोरण (प्रवेश द्वार) चन्द्रशाला (कपोत के उपर का अर्द्धचन्द्राकार फलक) तथा चित्रशाला।

समरागणसूत्रधार में उपर्युक्त 20 मन्दिर नागर प्रासाद कहे गये हैं। अग्निपुराण में दो अध्यायों में (अध्याय 42 एव 104 में) प्रासाद के लक्षणों का विवरण दिया गया है। भविष्यपुराण में विश्वकर्म का मत उद्धृत करते हुए यह कहा गया है कि वास्तु शास्त्र रुपी सागर अतिविस्तृत है और विश्वकर्म ने तीन हजार विविध आकार प्रकार के प्रासादों का वर्णन किया था। अग्निपुराण में कहा गया है कि वैराज पुष्पक कैलास मणिक तथा त्रिविष्टप ये पाँच प्रकार क देव विमान हैं। इनमें प्रथम वर्गाकार दूसरा आयताकार तीसरा वर्तुलाकार चौथा अडाकार तथा पाचवा अष्टमुखी होता है। इनमें स प्रत्यक क 9 प्रभेद होते हैं इस प्रकार 45 प्रकार के मन्दिर होते हैं। इन्ही पाच दैवी विमानों (जिनके 45 प्रकार की आकृतिया (देवालय) पृथ्वी पर बनाई जा सकती है) से समरागणसूत्रधार (अध्याय 49) 64 प्रकार के मन्दिर प्रभेद विस्तृत करता है—वैराज के 24 प्रकार और अन्य चार विमानों के 10 10 प्रकार। अग्निपुराण में उल्लिखित उपर्युक्त पाच प्रकार के मन्दिरों का उल्लेख वास्तुराज वास्तुशास्त्र में भी हुआ है।

भुवनदेवाचार्य (12 वीं सदी का उत्तरार्द्ध) के अपराजितपृच्छा में निम्नलिखित चौदह प्रकार के मन्दिर गिनाये गये हैं (1) नागर (2) द्राविड (3) लतिन (4) वराट (5) विमान (6) सान्धार (7) विमान नागर (8) मिश्रक (9) भूमिज (10) विमान पुष्पक (11) वलभी (12) सिंहालाक्न (13) दारज तथा (14) नपुसक। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (तृतीय खण्ड अध्याय 86 87 88) एक सौ एक (101) प्रकार के मन्दिरों प्रासादों का उल्लेख करता है। यह ग्रथ 7 वीं शताब्दी में रखा गया है। 88 वें अध्याय में सामान्य प्रासाद के 100 प्रकार के रूपों का वर्णन किया गया है। पूरे 87 वें अध्याय का विषय है एक प्रकार का प्रासाद सर्वतोभद्र। सौ मन्दिरों को आठ निकायों अथवा समूहों में रखा गया है। प्रत्येक सामान्य प्रासाद तीन समान भागों में बटता है जगती (वसुधा प्लेटफॉर्म) कटि (दीवार) तथा मजरी (सुपरस्ट्रक्चर)। मजरी को कूट शृग तल्प वलभी तथा शिखर भी कहा गया है।

नागर 'द्राविड तथा वसर शलिया — हम देख चुक हैं कि बृहत्सहिता आग्निपुराण तथा अन्य गुप्तकालीन ग्रथ मन्दिरों का वर्गीकरण नागर' द्राविड तथा वसर' अथवा उनके भौगालिक वितरण के आधार पर नहीं करते। य ग्रथ 20 प्रकार के प्रासादों का अथवा 45 प्रकार के विमानों की चर्चा करते हैं। अग्निपुराण उक्त प्रकारों का नागर तथा लाट प्रासादों में रखता है। लाट गुजरात का प्राचीन नाम है परन्तु नागर' की भौगिलिक स्थिति अज्ञात है। अपराजितपृच्छा में प्रासाददेशानुक्रमाधिकार' क अन्तर्गत अहिराजपु सान्दारो नागरश्च प्रशयस्ते वाक्य आया है। पी ए मन्कड अपन सम्पादकीय विवरण में अहिराजेपु पाठ को क्षत्रपु मानते हुए नागर का सम्बन्ध अहिच्छत्रा मे स्थापित करते प्रतीत हाते हैं। अपराजितपृच्छा के अनुसार नागर शैली का उदय पूर्व में द्राविड का दक्षिण में तथा वसर का उत्तर में हुआ।

प्रसन्नकुमार आचार्य की दृष्टि में यद्यपि नागर द्राविड तथा वेसर वास्तुकला के भौगोलिक नाम है परन्तु वेसर अथवा द्राविड की भाति नागर की भौगोलिक स्थिति अज्ञात है। कुछ लेखकों का मत है कि वेसर ही नागर है।

समरागणसूत्रधार में नागर और द्राविड का बहुत उल्लेख है परन्तु वेसर शब्द इस ग्रंथ में नहीं आया है। नागर तथा द्राविड के साथ वाराट का उल्लेख हुआ है, वेसर का नहीं। यह स्मरणीय है कि समरागणसूत्रधार धारा के परमार शासक भोजदेव के समय का है अतएव इस ग्रंथ की तिथि 10 वीं 11 वीं शताब्दी निश्चित की जा सकती है।

नागर शब्द का ईशानशिवगुरूदेवपद्धति में बहुत उल्लेख हुआ है। इस ग्रंथ में नागर द्राविड तथा वेसर शैलियों का उल्लेख भी हुआ है। समरागणसूत्रधार की भांति ईशानशिवगुरूदेव पद्धति भी 10 वीं 11 वीं शताब्दी का ग्रंथ है। होलल (बिलारी जिला कर्नाटक) से प्राप्त एक पश्चिमी चालुक्य अभिलेख चार प्रकार के मन्दिरों का उल्लेख करता है नागर कालिंग द्राविड तथा वेसर। इस लेख में बम्मोज और उसके गुरु पदाज का नाम आया है। पदाज की तुलना विश्वकर्मा से की गई है। यह अभिलेख 9 वीं 10 वीं शताब्दी का है। दक्षिण भारतीय एक आगम कामिकागम में नागर मन्दिरों को उत्तर में हिमालय और विन्ध्य के बीच के प्रदेश में वेसर मन्दिरों को विन्ध्यपर्वत से कृष्णा नदी तक के प्रदेश में तथा द्राविड मन्दिरों को कृष्णा से कन्याकुमारी तक के प्रदेश मे रखा गया है। यह त्रिविध विभाजन तीन गुणों क्रमश सत्व तमस तथा रजस पर आधारित है। परन्तु उक्त क्रम के अतिरिक्त कामिकागम में एक अन्य क्रम नागर द्राविड वेसर सही है। क्योंकि वेसर नागर और द्राविड से बाद की शैली है। नागर द्राविड वेसर यह क्रम कालक्रम सम्बन्धी है। वेसर शैली नागर और द्राविड का मिश्रण है। इनके अतिरिक्त कामिकागम में एक और त्रिविध विभाजन पाया जाता है सार्वदेशिक कालिंग तथा वाराट। सार्वदेशिक सभी देशों की सामान्य शैली कलिंग (उत्कल) उडीसा की शैली वाराट का भूगोल अनिश्चित है।

नागर' शब्द का सम्बन्ध नगर अथवा पुर से स्पष्ट है। वास्तुशास्त्रों में भी कहा गया है कि प्रस्तर और पक्की ईटों के प्रासाद नगरों में उनकी शोभार्थ निर्मित होने चाहिए। राखलदास बनर्जी का मत था कि नागर का सम्बन्ध श्रीनगर अथवा पाटलिपुत्र से है। परन्तु नागर' मन्दिर शैली का विकास बहुत बाद में बृहत्संहिता के पश्चात जब प्राचीन भारत की राजधानी पाटलिपुत्र का अवसान हो गया था तब हुआ। नागर शैली का सम्बन्ध नाग से हो सकता है। विश्वकर्मप्रकाश में वास्तुपुरुष को नाग की आकृति का कहा गया है। कदाचित इस शैली का विकास नागजातीय शिल्पियों ने किया था। महाभारत में तक्षक नामक नागराज सुविदित है। तक्षक नाम इस प्रसग में सार्थक है। महाभारत के आदिपर्व में मय को एक दानव कहा गया है। वह एक कुशल शिल्पी है तक्षक से उसका सम्बन्ध है। वह एक सभा भवन का निर्माण करता है और पाण्डवों को प्रदान करता है। मयमत शास्त्र का सम्बन्ध इसी मय नामक शिल्पी से है। मय भी नाग जाति का था। यह स्मरणीय है कि प्रारम्भिक वास्तुशास्त्रों में उल्लिखित 20 प्रकार के प्रासादों को समरागणसूत्रधार नागर प्रासाद कहता है और उन्हें वाराट तथा द्राविड प्रासादों से अलग रखता है। नागर' का अर्थ नगर सम्बन्धी सभ्य नगर में उत्पन्न आदि है। श्वान च्वाड ने जलालाबाद (अफगानिस्तान) का प्राचीन नाम नगर' दिया है।

वराहमिहिर बृहत्संहिता में कहता है कि ज्योतिष के प्रेमियों के सुख के लिए ब्रह्मा से आज तक (600 ई तक) ऋषियों की परम्परा ने वास्तुशास्त्र का प्रतिपादन किया था। परन्तु ईशानशिवगुरुदेव पद्धति में कहा गया है कि ब्रह्मा तथा ऋषि परम्परा के बाद महान स्थपति मय ने विमान व्याख्या विशेष रूप से 20 मुख्य प्रासादों का वर्णन किया। वराहमिहिर के समय में वास्तुशास्त्र की उत्पत्ति ब्रह्मा से

मानी जाती थी परन्तु उसका ग्रथ बृहत्सहिता ब्रह्मा के अतिरिक्त विश्वकर्मा तथा मय से भी परिचित है। ईशानशिवगुरूदेवपद्धति का मुख्य स्थपति मय है। रामायण[2] में कहा गया है कि जिस प्रकार मय असुरों का (स्थपति) है ठीक उसी प्रकार विश्वकर्मा देवताओं का (स्थपति) है। इस प्रकार परम्परानुसार मय असुरों का और विश्वकर्मन देवताओं का स्थपति है । विश्वकर्मा महान स्थपति है वह स्थापत्य वेद की देशना करता है। मय दक्षिणी (आर्येतर) स्थापत्य परम्परा का गुरु प्रतीत होता है। मानसार के अनुसार वास्तुशास्त्र का विकास शिव से हुआ। इस प्रकार शिव ब्रह्मा विष्णु इन्द्र बृहस्पति तथा नारद ने इसका प्रचार किया। नारद भी दक्षिणी परम्परा के गुरु प्रतीत होते हैं ।

वाराट शब्द सम्भवत वराड बरार से बना है। वाराट एक भौगोलिक क्षेत्र का नाम है जो प्राचीन विदर्भ कृष्णा नदी से नर्मदा नदी तक विस्तृत था। कामिकागम वाराट मन्दिरों की सात मजिलों तथा उनकी ग्रीवा शिखा एव स्तूपिका का उल्लेख करता है। वाराट के अतिरिक्त कालिंग मन्दिरों का भी उल्लेख यह ग्रथ करता है। यह दोनों स्थानीय शैलिया हैं । कामिकागम के अनुसार नागर मन्दिर के मुख्य आठ अग (अष्टवर्ग) हैं मूल (नींव) मसूरक (आधारपीठ) जघा (भित्ति) कपोत (कॉर्निस) शिखर (गल) आमलसारक (आमलक) कुम्भ (कलश) तथा शूल। समरागणसूत्रधार में वाराट मन्दिरों को नागर मन्दिरों के समान याजना का कहा गया है। इसके अनुसार सार्वदेशिक प्रासाद द्राविड अथवा नागर अथवा वाराट शैली के हो सकते हैं ।

वेसर' किसी देश विशेष का नाम नहीं है। वेसर का अर्थ खच्चर' है (एक प्रकार का मिश्रण वर्णशकर' दो विभिन्न जातीय पशुओं के सम्पर्क से उत्पन्न)। वेसर शैली एक मिश्रित शैली है द्राविड और नागर के तत्वों से विकसित। कामिकागम के अनुसार वेसर शैली के मन्दिरों का विन्यास द्राविड होता है आकार व रूप क्रिया नागर होती है। स्टेलाक्रमरिश का मत है कि वेसर ने या तो वराट का स्थान ले लिया है या वेसर वस्तुत वराट ही है। अपराजितपृच्छा के अनुसार नागर शैली का क्षेत्र मध्यदेश (कुरूक्षेत्र हिमाचल तथा विन्ध्य के बीच का प्रदेश) और द्राविड शैली का क्षेत्र दक्षिण भारत है। वेसर शैली का क्षेत्र दक्कन हो सकता है। प्रारम्भिक चालुक्य मन्दिरों का द्राविड विन्यास है परन्तु परवर्ती चालुक्य मन्दिरों का नागर विन्यास है। वेसर मन्दिरों का निर्माण परवर्ती चालुक्यों ने कन्नड जिलों में तथा होयसल राजाओं ने मैसूर में किया था।

एक मध्यकालीन वास्तुशास्त्र बृहच्छिल्पशास्त्र में मन्दिरों के प्रकारों की निम्नलिखित दो तालिकायें दी गई हैं

प्रथम (1) नागर (2) द्राविड (3) मिश्रक (4) लतिना (5) साधार (6) भूमि (7) नागर पुष्पक विमान तथा

द्वितीय (1) नागर (2) द्राविड (3) विराट (4) भूमि (5) लतिक (6) साधार तथा (7) मिश्रक

यह ध्यातव्य है कि सूची का प्रारम्भ नागर स हुआ है। लगभग सभी शास्त्रों में प्रासाद शैलियों में नागर शैली प्रमुख स्थान रखती है। तीसरे प्रकार में ध्यान देने योग्य नाम है मिश्रक तथा विराट' (रेखाकित) यह सम्भवत वेसर शैली है।

---

2. रामायण 4-21 11

द्राविड ईशानशिवगुरूदेवपद्धति में त्रिविध विभाजन नागर द्राविड तथा वेसर केवल क्षुद्र अल्प विमानों पर लागू किया गया है। ये क्षुद्र अल्प विमान वस्तुत अपने नामानुसार प्रासाद के शिखर के लघु विमान या हर्म्य हैं । इस ग्रन्थ में मन्दिरों को (1) मुख्य विमान अथवा जाति विमान तथा (2) अल्प क्षुद्र विमान में विभाजित किया गया है। जाति विमान कई मजिलों वाले विमान है। इनके शीर्ष पर अनेक प्रकार के लघु विमान होते हैं । प्रत्येक मजिल (तल) की भीत या भित्ति में इन क्षुद्र विमानों की पक्ति होती है। जाति विमानों के उन पर बने लघु विमानों की व्यवस्था के अनुसार इन्हें विकल्प विमान अथवा आभास विमान भी कहा जाता है। इन छोटे (लघु) विमानों को कूट कोष्ठ नीड अथवा पजर कहते हैं। ये नाम इनके आकार व स्वरूप पर आधारित हैं । ये मुख्य प्रासाद के अनुकाय अग कहलाते हैं ।

पूर्णरूपेण दक्षिण भारतीय विमान एक जाति विमान है मुख्य विमान विशेष प्रकार के बडे जातिविमान है परन्तु अल्प विमान अथवा क्षुद्र विमान पूर्ण नही माने जाते। मेरू विमान के उपर बने हुय हर्म्य ही वस्तुत अल्पविमान हैं । इन अल्पविमानों के समूह में जो प्रमुख विमान होता है वह नागर अथवा द्राविड अथवा वसर होता है।

ईशानशिवगुरूदेवपद्धति के अनुसार नागर विमान सात्विक है। यह वर्गाकार होता है। इसका स्थान हिमाचल और विन्ध्य के बीच का भू भाग है। द्राविड विमान राजस है और इसका स्थान द्रविड देश है। यह षटभुजी अष्टभुजी अथवा उभरा हुआ (गजपृष्ठाकार) हो सकता है। वेसर विमान तामस है। इसका स्थान नासिक और विन्ध्य के बीच में है। यह वृत्ताकार हो सकता है ग्रीवा के नीचे वर्गाकार तथा उपर वृत्ताकार हो सकता है।

दक्षिणी वास्तुशास्त्रों के इस वर्गीकरण में नागर द्राविड और वेसर कोई भौगोलिक महत्व नही रखते। शिल्परत्न में कहा गया है कि नागर प्रासाद आधार से शिखर तक वर्गाकार होता है। द्राविड प्रासाद का शरीर वर्गाकार और गुम्बदीय भाग षटभुजी (छ पीठों वाला) अथवा अष्टभुजी (अष्टमुखी आठ पहलुओं वाला) होता है। वेसर वर्तुलाकार होता है। परन्तु ये नियम केवल हर्म्य पर लागू होते हैं न कि कूट कोष्ठ आदि पर। हर्म्य वह है जो प्रासाद का शीर्ष बनाता है कूट कोष्ठ आदि वे हैं जो प्रत्येक मजिल की भित्ति अथवा दीवार' पर बने होते हैं । दक्षिणी प्रासाद जिन्हें मुख्य प्रासाद या जाति विमान कहा जाता है का नागर द्राविड और वेसर श्रेणियों में विभाजन उनके शीर्ष पर बने हर्म्य (क्षुद्र अल्प विमान) की शैली के आधार पर होता है। कुछ लेखकों ने वास्तुशास्त्रों की इस स्पष्ट घोषणा की अवहेलना करके नागर द्राविड और वेसर शैलियों का विवेचन किया है। यह कहना भ्रातिमूलक है कि दक्षिण में सभी मन्दिर द्राविड शैली के हैं। द्राविड देश में द्राविड शैली में बने विमान या प्रासाद भी नागर अथवा वेसर हो सकते है यदि उनके हर्म्य नागर अथवा वेसर शैली के बने हों । उदाहरणार्थ 11 वीं सदी में निर्मित गगैकोण्डचोलपुरम (कुम्भ कोनम के निकट) मन्दिर एक वेसर प्रासाद है क्योंकि इसके उपर बना हर्म्य (विमान) गोलाकार है। यह द्रविड शैली का वेसर प्रासाद है। इसी प्रकार श्रीनिवासनलुर में कोरगनाथ मन्दिर द्रविड शैली में बना एक नागर प्रासाद है। दक्षिण भारत के वास्तुशास्त्रों में नागर द्राविड और वसर भारत के भौगोलिक विभाजन पर नही वरन् दक्षिण के प्रासादों की शैली की विविधता पर आधारित है। अर्थात् दक्षिण में द्राविड शैली में बने जाति विमानो में भी

नागर या वेसर या द्राविड विमान या प्रासाद हो सकते है।[3]

उड़ीसा के मन्दिर नागर शैली का विकास — आर्यावर्त शैली (उत्तरी शैली नागर शैली) के मन्दिर स्थापत्य के विकासक्रम का सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक उदाहरण उडीसा के मन्दिर प्रस्तुत करते हैं। इस प्रदेश में 8 वीं शताब्दी से 13 वीं शताब्दी तक भुवनेश्वर पुरी तथा कोणार्क में निर्मित मन्दिरों में हम नागर शैली का सुन्दर स्थानीय विकास देख सकते हैं । उडीसा के मन्दिर का जातीय नाम धूल है। आरम्भ में मन्दिर का गर्भगृह और उसके ऊपर शिखर निर्मित हुआ अतएव इसी के लिए धूल (देवालय) शब्द का प्रयोग होता था। धूल के सामने मण्डप की भाति एक सभा भवन होता है जिसे जगमोहन कहते हैं। ये दो सरचनाएँ वस्तुत उडीसा मन्दिर के मौलिक एव मूल तत्व हैं । परन्तु मदिर स्थापत्य के एव पूजा विधि के विकास के साथ मन्दिर के अनुकाय अगों का विकास भी हुआ। तब प्रत्येक मन्दिर के साथ एक नट मन्दिर' (नृत्य कक्ष) और इसके सामने एक भोग मन्दिर' (देवता को अर्पित किया हुआ (चढावा) रखने का कमरा) ये कमरे एक पीठ (अधिष्ठान) पर बनते थे और एक मजिल के होते थे। इनका निचला भाग बाड तथा उपरी भाग पीड कहलाता है। मन्दिर का नीचे का हिस्सा भी वाड कहलाता है। शिखर का मध्यभाग छत्र उसके ऊपर का चपटा गोल फलक आम्ल और उसके उपर कलश रखा जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि उडीसा के मन्दिर में चार सरचनाएँ एक पक्ति में होती हैं धूल जगमोहन नट मन्दिर भोग मन्दिर। उडीसा के मन्दिरों में स्तम्भों की अनुपस्थिति ध्यान देने योग्य है। प्राय सभी सरचनाएँ स्तम्भ रहित है। यद्यपि कुछ प्रारम्भिक रचनाएँ (भवन) स्तम्भयुक्त है परन्तु उडीसा मन्दिर शैली स्तम्भहीन है। एक अन्य विशेषता उडीसा के मन्दिरों में पायी जाती है मन्दिर की भीतरी भित्तिया एकदम सरल और सादगीपूर्ण हैं उनमें कोई अलकरण नहीं है । इसके प्रतिकूल मन्दिर का बाह्य भाग मूर्तियों तथा अन्य प्रकार के अलकरणों से परिपूर्ण पाया जाता है। बाहर की अलकारपूर्णता और भीतर की अलकार शून्यता का अन्तर रहस्यात्मक और अज्ञात है।

मुखलिंगम मन्दिर समूह — प्राचीन कलिंगनगर का तादात्म्य आधुनिक मुखलिंगम (गजाम जिला उडीसा) के साथ किया गया है। मुखलिंगम में जो मन्दिर समूह है उसमें और अयहोल तथा पट्टडकल के चालुक्य मन्दिरों में कुछ समानताएँ ध्यातव्य हैं । अयहोल तथा पट्टडकल के मन्दिरों का विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। मुखलिंगम में तीन मन्दिर हैं मुखलिंगेश्वर भीमश्वर तथा सामश्वर। ये मन्दिर सम्भवत 9 वीं शताब्दी के हैं । इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण मन्दिर है मुखलिंगश्वर । इसकी योजना अभिक्रान्त प्रकार की पचायतन प्रकार की है। केन्द्रीय मन्दिर के अतिरिक्त इसके चार कोणों पर चार मन्दिर हैं । इस मन्दिर के भित्ति स्तम्भों की तथा इसके बाह्य अगों पर की हुई मूर्तिकला से प्रतीत होता है कि मुखलिंगेश्वर पर गुप्त मन्दिर शैली तथा चालुक्य मन्दिर शैली का प्रभाव पडा था। पर्सी ब्राउन की धारणा है कि उडीसा की मदिर शैली पर चालुक्य मन्दिर शैली का प्रभाव पडा होगा। यह प्रभाव सर्वप्रथम मुखलिंगम के मन्दिर दर्शाते हैं ।

3 द हिन्दु टेम्पल, पृ 294–295 । मन्दिरों क प्रकार एव वर्गीकरण पर द्रष्टव्य डा तारापाद भट्टाचार्य कृत द केनन्स आव इण्डियन आर्ट, कलकत्ता 1963 अध्याय 14–5 ।

उड़ीसा के मन्दिरों का कालिक वर्गीकरण — अध्ययन की सुविधा के लिए उडीसा के मन्दिरों को काल-क्रम एव शैली के विकास के अनुसार निम्नलिखित तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है।

(अ) प्रारम्भिक काल (750 900 ई)

(1) परशुरामश्वर (2) वैताल धूल (3) उत्तरेश्वर (4) ईश्वरेश्वर (5) शत्रुघ्नेश्वर (6) भरतश्वर (7) लक्ष्मणेश्वर। यह सात मन्दिर भुवनेश्वर में हैं ।

(आ) मध्य काल (900 1100 ई)

(8) मुक्तेश्वर (9) लिंगराज (10) ब्रह्मेश्वर (11) रामेश्वर (12) जगन्नाथ। इनमें जगन्नाथ मदिर पुरी में तथा अन्य मन्दिर भुवनेश्वर में है।

(इ) उत्तरकाल (1100 1250 ई)

(13) आनन्द वासुदेव (14) सिद्धेश्वर (15) केदारश्वर (16) जमेश्वर (17) मेघश्वर (18) साडी धूल (19) सोमेश्वर (20) राजरानी (21) कोणार्क का सूर्य मन्दिर।

इनमें से सूर्य मन्दिर क अतिरिक्त अन्य सभा मन्दिर भुवनेश्वर में हैं ।

भुवनेश्वर अथवा त्रिभुवनश्वर शिव सम्बन्धी पुराकथाओं में शिव का नगर है। यह उल्लेख्य है कि भुवनेश्वर में 30 स अधिक मन्दिर हैं परन्तु उनमें अधिकाश ध्वस्त हैं । भुवनेश्वर से कुछ मील दूर पुरी (जगन्नाथपुरी) में तथा कोणार्क में दो बहुत महत्वपूर्ण धूल है ।

प्रारम्भिक काल क मन्दिरों में शत्रुघ्नश्वर भरतेश्वर तथा लक्ष्मणेश्वर छोटे आकार के ध्वस्त मन्दिर हैं । अन्य चार मन्दिर पूर्णरूपेण विकसित हैं । वैताल धूल और ईश्वरेश्वर धूल दानों भुवनेश्वर नगर में एक ही परिधि क भीतर हैं । उत्तरश्वर धूल बिन्दुसरोवर के उत्तर में तथा परशुरामेश्वर धूल भुवनेश्वर नगर के उपनगर में स्थित है। ये सभी मन्दिर नागर शैली के विकास के प्राथमिक प्रयास के द्योतक हैं । इनमें परशुरामेश्वर और वैताल धूल पर्याप्त बडे और स्थायी महत्व के हैं । सम्भवत परशुरामेश्वर इनमें प्राचीनतम है। इसके दा भाग हैं धूल (विमान) और जगमोहन (मण्डप)। दोनों की कुल लम्बाई 48 फुट है किन्तु शिखर 44 फुट ऊचा है। परशुरामेश्वर मन्दिर की चिनाई विशाल पाषाण और स्थूल कन्धे इसके उडीसा शैली का प्राथमिक प्रयास होने का सकेत करते हैं। शिखर के उपर वर्तुलाकार आमलक है। शिखर का आधार षटपहल (क्यूबिक) है। इसका छिन्न (शिखर का मध्यभाग) कोणिक होता हुआ उपर उठता है। प्रत्येक कोण में नीचे से उपर को चिनाई में आमलक के आकार के गोल व चपटे प्रस्तर प्रयुक्त हुये हैं । ये सम्भवत शिखर की पाच मजिलों की ओर सकेत करते हैं क्योंकि प्रत्येक कोण में पाच स्थानों पर ये कोण आमलक पाये जाते हैं । इसका जगमोहन एक आयताकार कक्ष है। इसमें दोहरी छत है पहली छत कुछ ढालदार अधिक चौडी और उसके उपर दूसरी कम चौडी छत है। यह जगमाहन नाचा है इसमें तीन आर स प्रवेश द्वार हैं और चार जालीदार खिडकिया हैं। भीतर तीन तीन स्तम्भों की दा पक्तियाँ हैं जो एक छोटा सा पार्श्व और एक छाटी नाभि बनाते है। मूलरूप स ये स्तम्भ एकाश्मक थ इनके दण्ड (शैफ्ट) सादे थे और इनके कोष्ठकीय शीर्ष (ब्रैकट केपीटल) थे। य स्तम्भ नाभि की छत को उपर उठाते हुये एक विशाल प्रस्तर पाद (धरन)

को थामे हुये थे। जगमोहन का भीतरी भाग सादगीपूर्ण और अलकारशून्य है किन्तु बाह्य भागों पर प्रशस्त शिल्पकारी की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि परशुरामेश्वर धूल और उसका जगमोहन दो भिन्न समयों में अलग स निर्मित किये गये हैं । दोनों की शिल्पकला में भेद होने के साथ ही उन दोनों सरचनाओं की सन्धि भी अपरिपक्व प्रतीत होती है। पश्चिमी द्वार के दोनों ओर की जालीदार प्रस्तर खिडकियों में उच्च काटि की मूर्तिकला है। यहाँ पर नौजवान गायक और नर्तक बासुरा मृदग आदि के साथ खिडकी में सजोय गये हैं ।

वेताल धूल परशुरामेश्वर स छोटा है और भिन्न रचना विचार प्रस्तुत करता है। इसका शिखर पर्मी ब्राउन के अनुसार दक्षिणी शैली के गापुरों से साम्य रखता है। दक्षिणी मन्दिरों की भाति इस धूल का पूर्वज भी बौद्ध चैत्यगृह है। परन्तु इसकी द्वितलीय दालाकार छन एव चैत्यवातायनों पर बौद्ध चैत्यगृहों का प्रभाव हाते हुए भी यह मन्दिर उत्तरी (नागर) शैली का ही है।

वताल धूल का जगमोहन भा असाधारण विन्यास का है। इसकी छन भी दाहरी है यह एक आयताकार कक्ष है। चारों कोणों पर चार नागर शैली के लघु मन्दिर बने हैं । इस प्रकार यह एक पचायतन धूल का उदाहरण प्रस्तुत करता है। मुख्य धूल कवल 18 फुट x 25 फुट है और ऊचाई 35 फुट है। परन्तु इस छोट परिमापन का यह देवालय अतीव सुन्दर है। इसके विभिन्न अगों की रचना और पारस्परिक अनुपात सन्तुलित और शिल्पकौशल मे परिपूर्ण है। विमान की चौडी सतह पर (आधार स उपर) पाच और सकरी सतह पर चार उभर हुए फलकों की बनावट उल्लेख्य है। प्रत्यक के मध्य में 2 फुट ऊची मूर्तिया उत्कीर्ण हैं । शिखर के सामने जगमाहन स पहले शिखर और जगमाहन के बीच म निर्मित जगमाहन स अधिक ऊची अलकृत गुम्बदीय रचना बौद्ध महराब और गवाक्ष वायातन का स्मरण दिलाती है। इसमें शिव क ताण्डव नृत्य की मूर्ति अकित है। वैताल धूल में उपलब्ध एक अन्य अलकार फलक दुर्गा महिष मर्दिनी का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है।

उडीसा का दूसरा मन्दिर समूह द्वितीय विकास क्रम (मध्यकाल) का द्योतक है। इस समूह में प्रथम मन्दिर सम्भवत मुक्तश्वर धूल है। दसवी शताब्दी के मध्य में निर्मित यह मदिर अत्यन्त आकर्षक एव कलापूर्ण है। यह मन्दिर परशुरामेश्वर और वताल धूल से प्रभावित है परन्तु उनसे अधिक उन्नत स्थापत्य कौशल का परिचायक है। इसके अग सुव्यवस्थित और सन्तुलित हैं । सामने स्वतत्र प्रवेश द्वार के रूप में एक महराबदार तारण का होना इसकी विशेषता है। इसका आधार वर्गाकार है। सम्पूर्ण मन्दिर 45 फुट लम्बा है और शिखर 35 फुट ऊचा है। मन्दिर का भीतरा भाग भी अलकृत है। इसका मण्डप (जगमोहन) 25 फुट 8 इच लम्बा और 20 फुट ऊचा है। मण्डप अलकारपूर्ण है छत के पाषाण खण्ड कई स्तरों में उपर उठते हुए गुम्बदीय छन बनाते हैं । शिखर का प्रत्येक शिलाखण्ड अलकृत है। शिखर के शीर्ष पर एक विशाल आमलक है उसक उपर त्रिशूल है। शीर्ष आमलक के नीच आमलकों क पाच स्तर प्रतीत होते हैं । उनक बीच बीच में वातायन बने हैं । सरचनात्मक दृष्टि से प्रत्येक ओर से दखने से पाच फलक अथवा पच स्तम्भ दिखाई देते हैं । दक्षिण की ओर बनी जालीदार खिडकी उल्लेख्य है।

उडीसा में मध्यकाल (900 1100 ई) का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर निःसन्देह लिंगराज धूल है (चित्र-70)। इसकी रचना लगभग 1000 ईसवीं में हुई थी । लिंगराज एक प्रकार से मन्दिरों का राजा है। यह भुवनेश्वर का विशाल मन्दिर है । कुमारस्वामी की दृष्टि में यह भारतीय मन्दिरों में

सर्वश्रेष्ठ है। पर्सी ब्राउन ने लिंगराज को उडीसा के मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ और भारत के सर्वश्रेष्ठ मन्दिरों में एक माना है ।[4] एक दृढ और ऊची चार दीवारी के अन्दर 520 x 465 फुट चतुष्कोण भूमि के केन्द्राय भाग में निर्मित यह मन्दिर आक्रमण के समय सेनाओं द्वारा रक्षित किया जा सकता था जैसा कि सामने की आर बने विस्तृत मच से सकेतित है । जिस प्रकार बौद्ध क्षेत्रों में एक विशाल केन्द्रीय चैत्य स्तूप क चारों ओर नाना प्रकार के चैत्यों का निर्माण किया गया है उसी प्रकार भुवनेश्वर के इस बडे मन्दिर के चतुर्दिक प्राकार के अन्दर अनेक उप मन्दिर निर्मित किये गये हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि भुवनेश्वर में पहले कोई बौद्ध (सम्भवत तोसली) तीर्थ था ।

नागर शैली के उडीसा में पूर्ण विकसित मन्दिर का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण लिंगराज प्रस्तुत करता है। इसके चार मुख्य अग है – श्री मन्दिर (धूल विमान) जगमोहन (परिस्तम्भित मण्डप) नट मन्दिर (नृत्य कक्ष) तथा भोग मन्दिर । परन्तु यह सभी अग एक ही समय के नही हैं । श्रीमन्दिर और जगमोहन पहले निर्मित किये गये लगभग एक शताब्दी बाद अन्य दो अग और निर्मित हुए । इस मन्दिर का सर्वाधिक सुन्दर और प्रभावशाली अग श्रीमन्दिर है जो न केवल सम्पूर्ण मन्दिर समूह वरन् सम्पूर्ण भुवनेश्वर नगर पर अपनी ऊचाई के कारण छाया हुआ है । इसका अधिष्ठान 56 फुट जगह घेरता है । इसके उभरे हुये पर्गो के कारण अधिष्ठान की योजना वर्गाकार नही है । शिखर (विमान) की ऊचाई का निचला एक तिहाई भाग सीधा खडा है यह प्रथम तल का सकेत करता है । इसकी बाह्य सतह की रचना भी भिन्न है । 50 फुट की ऊचाई के बाद शिखर की समोच्च रेखायें भीतर की ओर झुक जाती हैं और इस प्रकार वक्र होती हुई 125 फुट की ऊचाई में ये परवलयिक वक्र (पैराबोलिक कर्व) बनाती हुई शिखर का कन्धा बनाती है । कन्धे के वक्रों पर बकी (ग्रीवा) बनी है जिसके ऊपर एक विशाल आमलक शिला है । यह आमलक शिला बैठे हुये सिंहों पर आधारित है इसके ऊपर एक कलश और उसके ऊपर शिव त्रिशूल है । शिखर का सम्पूर्ण मुख्य भाग तिरछी गढनों स सयाजित है। बीच बीच में लम्बवत् पक्ति में लघु आकार के शिखर अथवा विमान बने हैं । इनके अतिरिक्त प्रत्यक दिशा में कुछ उभरे हुए भाग में एक सिंह एक हाथी को कुचलते हुए दिखाया गया है । शिखर के भीतर 19 वर्ग फुट का गर्भगृह है जो कुये अथवा चिमनी की भाति शिखर की सम्पूर्ण ऊचाई तक पहुँचाया गया है ।

लिंगराज धूल का जममोहन आयताकार है जो 72 फुट लम्बा और 56 फुट चौडा है । इसकी निचली मजिल (प्रथम तल) 34 फुट ऊँची है । इस चतुर्भुज भवन के उपर एक पिरामिडीय छत बनी है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगमोहन की ऊँचाई (भूमि से) 100 फुट है । नट मन्दिर तथा भोग मन्दिर लगभग इसी शैली के हैं । इन कक्षों के आन्तरिक भाग सादगीपूर्ण हैं । दीवारों पर भी कोई अलकरण नही है । प्रत्येक कक्ष के मध्य में चार स्तम्भों का एक समूह है जो विशाल छत का भार वहन करता है । इसके दण्ड अलकृत हैं । परन्तु मन्दिर का बाहरी भाग विविध आकर्षक मूर्तियों और दृश्यों से अलकृत है । उडीसा के मन्दिरों की स्थापत्य कला में आयताकार वातायनों की विशिष्ट रचना उल्लेख्य है ।

उडीसा के स्थापत्य के विकास क्रम के मध्यकाल का दूसरा उल्लेखनीय मन्दिर है पुरी में जगन्नाथ मन्दिर । इसका विन्यास भी लिंगराज की तरह है परन्तु यह लिंगराज से बहुत बडा है ।

4 कुमारस्वामी आनन्द के हिस्ट्री आव इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट, दिल्ली 1972 पृ० 115 पर्सी ब्राउन पूर्वो भाग 1 पृ 104

अभिलेखों के अनुसार इसका निर्माण प्रारम्भ में चोर गग ने अपनी कलिंग विजय के उपलक्ष में विजय स्तम्भ के रूप में 1030 ई में किया था । परन्तु इसका अभिषेक 1118 ई में हुआ । इसमें भी चार मुख्य अग है घूल जगमाहन नट मन्दिर तथा भाग मन्दिर । पर्सी ब्राउन के मतानुसार नट मन्दिर तथा भोग मन्दिर 14 वी अथवा 15वी शताब्दी में निर्मित हुये हैं । उन्होने एक सम्भाव्य सुझाव भी रखा है कि पुरी में इस हिन्दू मन्दिर क पूर्व एक बौद्ध तीर्थ था । यह सम्भवत दन्तपुर' था जहाँ बुद्ध के पवित्र दात का मन्दिर था । जगन्नाथ मन्दिर अपनी वर्तमान अवस्था में (चारों अग सहित एक पक्ति में) 310 फुट लम्बा और 80 फुट चौडा है । इसका शिखर लगभग 200 फुट ऊचा है । यद्यपि जगन्नाथ मन्दिर भुवनेश्वर क लिगराज की अनुकृति है । इसका विशाल शरीर और उत्तग शिखर आश्चर्यमय स्थापत्य कौशल क द्योतक हैं । इसका नट मन्दिर 80 फुट बडा है जिसकी छत चार स्तम्भों की चार पक्तियों (कुल 16 स्तम्भों) पर आधारित है । स्तम्भ चतुष्टय शैली का उडीसा में यही एक कक्ष है । सम्पूर्ण जगन्नाथ मन्दिर 400x350 फुट आयताकार प्रागण में खडा है । चारों ओर से परकोटा है । इस प्राकार क अन्दर मुख्य मन्दिर के चारों ओर 30 या 40 नाना प्रकार के लघुमन्दिर है । इस प्रसग में यह भी उल्लेख्य है कि जगन्नाथ मन्दिर की दीवार त्रिविध है चारों ओर से तीन दीवारें हैं । सबसे बाहरी दीवार 20 फुट ऊची है जिसके भीतर 665 फुट लम्बी और 640 फुट चौडी भूमि घिरी हुई है । दीवार मं चारों ओर से चार प्रवेश द्वार हैं । ये प्रवेश द्वार दक्षिणी गोपुरम से भिन्न हैं परन्तु द्रविड शैली के प्राकारम् के साथ तुलनीय हैं । उडीसा के मन्दिर स्थापत्य के विकास क्रम के तृतीय और अन्तिम काल (उत्तर काल') में अनेक छोटे आकार के मन्दिरों का निर्माण हुआ जो उडीसा स्थापत्य और शिल्प कला का चरमोत्कर्ष प्रदर्शित करते हैं । इनकी एक प्रमुख विशेषता है समृद्ध और प्रशस्त अलकरण । इस काल के लगभग एक दर्जन मन्दिर हैं जिनमें अधिकाश के दो मुख्य अग है -घूल और जगमोहन । परन्तु इन सब में अधिक विकसित और आकर्षक अनन्तवासुदेव घूल है । इसमें घूल जगमाहन नट मन्दिर और भोग मन्दिर चारों सरचनाएँ हैं । उत्तरकाल का यह सर्वाधिक बडा मन्दिर 120 फुट लम्बा और 40 फुट चौडा है । इसके शिखर की ऊचाई 68 फुट है । इस मन्दिर की एक विशेषता यह भी है कि यह एक ऊचे अधिष्ठान पर बनाया गया है । घूल के पीछ एक छोटा सा मण्डप बनाया गया है ।

इस कोटि का अन्तिम मन्दिर राजरानी घूल है जो अपूर्ण है । परन्तु इस मन्दिर की रचना अधिक उन्नत वास्तु कौशल प्रदर्शित करती है । इसक और खजुराहो क शिखरों में बहुत साम्य है । इसके शिखर का अलकरण भी उडीसा के अन्य मन्दिरों के शिखरों क अलकरण से भिन्न है । राजरानी मन्दिर के गर्भगृह का आकार अन्य मन्दिरों की भाति वर्गाकार न होकर गोलाकार प्रतीत होता है। इसकी तिरछी पुश्तवान के अन्य उदाहरण उडीसा के बाहर अन्य प्रदेशों क मन्दिरों में भी पाये जाते हैं।

पूर्वी भारत के मन्दिर स्थापत्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध भवन है पुरी से 70 मील पूर्वोत्तर में कोणार्क में स्थित ध्वस्त सूर्य घूल । इसमें सन्देह नही कि गग वशीय शासक नरसिंहदेव (1238 1264 ई) द्वारा निर्मित यह कोणार्क का सूर्य मन्दिर उत्तर भारतीय स्थापत्य और तक्षणशिल्प का अद्वितीय एव अत्यन्त प्रभावशाली अवशेष है । 1585 ई में सम्राट अकबर का अधिकृत इतिहासकार अबुल फज्ल आइनेअकबरी में सूर्यघूल को देखने के पश्चात लिखता है ऐसे लोग जिन्हें प्रसन्न करना कठिन है और जिनकी सम्मति आलोचनात्मक होती है भी इस मन्दिर को देखकर आश्चर्य में पड जाते हैं । इस मन्दिर के भोग मन्दिर और नट मन्दिर अपूर्ण हैं । केवल जगमोहन सुरक्षित है । शिखर नीचे गिर
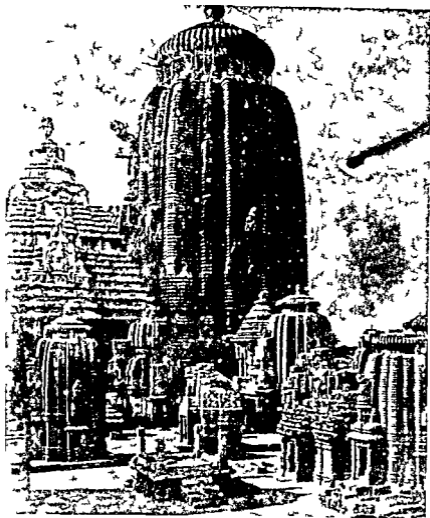
चित्र 70 भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर

चुका है । पर्सी ब्राउन के विचार में इस मन्दिर का शिखर भी पूर्णरूप स निर्मित नहीं हुआ था । बहुत से शिलाखण्ड जो शिखर के उपरी भाग में प्रयुक्त होने के लिए निर्मित थे वे भूमि पर ही हैं । इस घूल की रचना की योजना किसी मेधावी शिल्पी के मस्तिष्क की उपज थी किन्तु इसके निर्माता शासक उतने समर्थ एव समृद्ध नही थे अत योजना अधूरी रह गई प्रतीत हाती है ।

कोणार्क का यह मन्दिर सूर्य को समर्पित है । काश्मीर का मार्तण्ड मन्दिर भी सूर्य मन्दिर है । गुजरात में मोढेरा का मन्दिर भी सूर्य को समर्पित है । परन्तु कोणार्क का सूर्य घूल अपनी कोटि का एक मात्र मन्दिर है । उडीसा में कई शताब्दियों की स्थापत्य कला की प्रगति का स्वर्णिम परिणाम यह सूर्य घूल स्थापत्य शिल्प की पूर्णता का परिचायक है । नागर शैली का विकास क्रम भुवनेश्वर और पुरी के मन्दिरों से होकर कोणार्क के सूर्य मन्दिर में परिपक्वावस्था और चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है । लिंगराज प्रथम अवस्था का परिचायक है जगन्नाथ द्वितीय अवस्था का द्योतक है और सूर्य घूल पराकाष्ठा का प्रतीक है ।

सूर्य घूल का निर्माण सात अश्वों द्वारा खीचे जाने वाले भगवान सूर्य के वाहन रथ के रूप में किया गया है । सम्पूर्ण सरचना एक विशाल अधिष्ठान पर खडी है । इसमें 12 विशाल पहिये (चक्र) हैं । प्रत्येक पहिया लगभग 10 फुट ऊचा है । सामने एक सोपान समूह बना है । पास में सात सुसज्जित अश्व हैं जो विशाल और भारी रथ खीचने का प्रयत्न कर रहे हैं । निकट में दो सुसज्जित हाथी खडे हैं । इस प्रकार के ऊचे प्लेटफार्म पर 100 फुट ऊचा जगमोहन और इसमे भी अधिक विस्तार का भूमि से लगभग 225 फुट ऊचा घूल अथवा शिखर निर्मित है । इस घूल के अधिष्ठान पर तीन उप घूल निर्मित किये गये हैं । प्रत्येक में सूर्य देवता की पूर्ण मूर्ति है । जगमोहन के सामने एक ऊचे अधिष्ठान पर नट मन्दिर बना है । यह वर्गाकार आयोजना और पिरामिडीय छत वाला है । इसके चारों ओर अनेक छोटे मन्दिर स्वतत्र मूर्ति समूह और स्तम्भों का निर्माण किया गयाहै । ये सभी 865 फुट लम्बे और 540 फुट चौडे भू भाग (प्रागण) में निर्मित हैं । इसके चारों ओर से दीवार है तीन ओर से प्रवेश द्वार है । सम्पूर्ण मन्दिर पर नाना प्रकार की शिल्पकला उत्कीर्ण है । इस विविध शिल्पकला के विषय भी विविध हैं । कुछ अतिसुन्दर कुछ अत्यन्त गोपनीय कोणार्क मन्दिर की बाह्य सतहों पर उत्कीर्ण दृश्य और व्यक्तिगत मूर्तिया कठोर आलोचना का विषय बन चुकी हैं ।[5] कुछ लेखकों ने इन गोपनीय और मिथुन सम्बन्धी दृश्यों को भगवान सूर्य के स्वर्ग में रहने वाले नर नारियों का भाग –योग कहा है ।[6] यह स्मरणीय है कि काम कला एव मिथुन विषयव ये मूर्तिया उस काल की रचनाएँ है जब पूर्वी भारत में (विशेष रूप से बगाल और उडीसा में) तान्त्रिक धर्म का व्यापक प्रभाव समाज में पड चुका था । इसमें सन्देह नही कि कोणार्क मन्दिर पर उत्कीर्ण चित्र तान्त्रिक धर्म आर शक्ति साहचर्य विषयक साधनाओं से प्रभावित हैं[7] परन्तु तथाकथित अश्लील मूर्तिया कवल बाह्य भाग तक

5 पर्सी ब्राउन (वही भाग 1 पृ 107–108) ने उक्त मूर्तिया के लिए निर्लज्जता से रत्यात्मक स्वभाव के यौन–विकृति के प्रतिनिधि तथा प्रतिमा विधायक अश्लीलता आदि शब्द समूहो का प्रयोग किया है जो निःसन्देह श्लाघनीय नहीं है ।

6 जिमर, आर्ट आव इण्डियन एशिया भाग 1 पृ 274

7 जिमर, फिलासफीज आव इण्डिया (मेरिडियन सस्करण) पृ० 581–595 नीलमणि जोशी स्टडीज इन द बुद्धिस्टिक कल्चर आव इण्डिया दिल्ली 1977 (द्वितीय सस्करण), पृ० 59 ओ सी गांगोली द मिथुन इन इण्डियन आर्ट रूपम, कलकत्ता 19255 पृ 22–23

ही सीमित हैं । कोणार्क की मूर्तियों में उत्तर पश्चिमी कोने पर युवती की प्रतिमा दक्षिणी भित्ति पर नाग दम्पति उपरी ताख पर कई बालकों से घिरी स्त्री मूर्ति अश्व की आकृति के विलक्षण (अदभुत) पशु की मूर्तिया द्वितीय तथा तृतीय तलों पर निर्मित आकर्षक वादक वादिकाओं के चित्र रथ के पहियों के अगों पर उत्कीर्ण काम कला विषयक मूर्तिया गिरा हुआ एक कीर्तिमुख तथा अधिष्ठान से सटे हुये हाथी घोडों की मूर्तिया उल्लेख्य हैं ।

खजुराहों मन्दिर समूह — उडीसा के पश्चात् हिन्दू मन्दिर स्थापत्य की तथाकथित इण्डो-आर्यन' अथवा नागर शैली का प्रसिद्ध केन्द्र मध्यप्रदेश है । इस ' दश के गुप्त कालीन मन्दिरों - भूमरा का शिव मन्दिर नाचना का पार्वती मन्दिर चतुर्मुख महादव मन्दिर का उल्लेख उपर किया जा चुका है । परन्तु स्थापत्य शिल्प की दृष्टि स खजुराहा सर्वाधिक धना और महत्वपूर्ण है । खजुराहो मध्यप्रदेश क छतरपुर जिले में है । ईसा क आविभाव काल तक खजुराहा का इलाका व[illegible] [illegible]लाता था । गुप्तकाल के बाद पूर्व मध्यकाल में इसे बुन्देलखण्ड कहा जाने लगा । गुर्जर प्रतिहार वश के शासन काल में बुन्देलखण्ड में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ यथा जराई माता मन्दिर (जि झासी) मानखेडा का सूर्य मन्दिर (जिला टीकमगढ) तथा कैनरी मऊ-सुहनिय के मन्दिर (छतरपुर जिला) ।

10 वा स 12वीं शताब्दा तक चन्देल वशीय राजाओं क शासन काल में जजाकभुक्ति हिन्दू सस्कृति और कला का प्रगतिशील केन्द्र रहा । खजुराहों के मन्दिर इन्हीं चन्देलों की कृतिया हैं । खजुराहो उनकी एक राजधानी थी । चन्देल शासकों में हर्ष (917 ई) यशोवर्मन (940 ई) धग (950 1002 ई) गण्ड (1002 1017 ई) विद्याधर (1017 1029 ई) विजयपाल (1029–1051 ई) तथा मदनवर्मा 1129–1163 ई उल्लेख्य है ।

मुस्लिम लेखक और पर्यटक इब्नबतूता से हमें ज्ञात होता है कि खजुराहो के मन्दिर 1335 ई तक कीर्तिमान हांते रहे । इब्नबतूता खजुराहो को कजरा कहता है और वहा के मन्दिरों का उल्लेख करता है । इसके पूर्व मुसलमान लेखर अलबेरूनी ने भी खजुराहो का उल्लेख किया है ।

मन्दिरा के सामान्य लक्षण — खजुराहो के मन्दिरों की रचना का कालक्रम निश्चित करना कुछ कठिन है । इस विषय पर लेखकों में मतभेद है । आनन्द कुमारस्वामी तथा पर्सी ब्राउन के अनुसार सभी मन्दिरों का निर्माण 950 से 1050 ई के मध्य हुआ ।[8] सरसी कुमार सरस्वती के[9] विचार में कोई भी मन्दिर 1050 ई के पूर्व का नहीं । कृष्णदेव के मत[10] में खजुराहो का प्राचीनतम मन्दिर 850 ई के बाद नहीं रखा जा सकता तथा आधुनिकतम मन्दिर ग्यारहवीं सदी से भी बाद का हो सकता है ।

खजुराहो में तीस से अधिक मन्दिर हैं । इनमें से बहुत से मन्दिर अभी भी अच्छी दशा में सुरक्षित हैं । वास्तु सामग्री वास्तुविन्यास तथा रचना शैली की दृष्टि से जो सकेत मिलते हैं उनके अनुसार खजुराहो के मन्दिरों का निम्नलिखित द्विविध वर्गीकरण किया जा सकता है (1) प्रारम्भिक मन्दिरों में चौसठ योगिनी लालगुआ महादेव ब्रह्मा, मातगेश्वर तथा वराह मन्दिरों को रखा जा सकता है (2) उत्तरकालीन मन्दिरों में लक्ष्मण पार्श्वनाथ विश्वनाथ जगदम्बी ,चित्रगुप्त कन्दरिया महादेव वामन आदिनाथ जवारी चतुर्भुज दूलादेव तथा घण्टे मन्दिर उल्लेख्य हैं ।

---

8 कुमारस्वामी आनन्द के० वही, पृ० 109 पर्सी ब्राउन पूर्वोक्त, पृ० 110

9 द स्ट्रगल फॉर इम्पायर, मजूमदार तथा पुसल्कर द्वारा सम्पादित, बम्बई 1957 पृ० 557

10 एन्शियेन्ट इण्डिया नं० 15 दिल्ली 1959 पृ० 49-61

चौसठ योगिनी ब्रह्मा तथा लालगुआ महादेव मन्दिर एक विशेष प्रकार के पत्थर से बन हैं जिसे ग्रेनाइट कहते हैं । खजुराहो के अन्य मन्दिर सुन्दर कणदार बालुकाश्म (सैण्डस्टोन) से निर्मित हैं । यहाँ पर शैव वैष्णव तथा जैन तीनों धार्मिक सम्प्रदायों के मन्दिर साथ साथ बनाये गय हैं । यह तथ्य तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण की ओर सकेत करता है । खजुराहो मन्दिरों की स्थापत्य शैली नागर शैली का स्थानीय अथवा मध्यभारतीय विकास प्रस्तुत करती है । इन मन्दिरों के चारों ओर प्राकार नही है । प्रत्येक मन्दिर एक ऊँची जगती (मच) पर प्रदक्षिणापथ के साथ निर्मित है । यह मन्दिर प्राय छोटे आकार के हैं । प्रत्येक मन्दिर के सभी कक्ष परस्पर सम्बन्धित हैं । सभी मन्दिरों में एक पक्ति में चार आधारभूत अग हैं—अर्द्धमण्डप मण्डप अन्तराल तथा गर्भगृह। कुछ बडे मन्दिरों में मण्डप को महामण्डप में परिणित कर दिया गया है । इन मण्डपों अर्द्ध मण्डपों तथा महामण्डपों क कक्षों में बहुस्तम्भीय पद्धति अपनाई गई है । कुछ मन्दिरों में बाह्य प्रदक्षिणापथ अथवा चलनकक्ष के अतिरिक्त गर्भगृह के चारों ओर भी एक चलन कक्ष है ।खजुराहो के कुछ मन्दिरों की जगती के चारों ओर के चार कोनों में चार लघु मन्दिर बने हैं । इस प्रकार ये पचायतन मन्दिर का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

उपर कहा जा चुका है कि ये मन्दिर एक ऊची जगती पर बनाये गये हैं । जगती के उपर एक सुदृढ अधिष्ठान मजिल निर्मित की गई है तत्पश्चात मन्दिर की जघा (भित्ति) उपर उठती है इस भाग में छज्जेदार खिडकिया बनी हैं । इन छज्जेदार (छिद्रदार) खिडकियों से भीतरी कक्षों में प्रकाश और हवा प्रवेश पाती है । दीवार की बाह्य सतह पर अत्याकर्षक लावण्यमयी मूर्तियों का अलकरण इन मन्दिरों की विशेषता है । सुरक्षित मन्दिरों में शिखर के रथ उपर ग्रीवा तक पहुच गये हैं ग्रीवा के उपर एक बडा आमलक एक छोटा आमलक उसके उपर कलश और बीजपूरक पाये जाते हैं । दो आमलकों एक बृहत दूसरा लधु का होना खजुराहो के मन्दिरों की एक अन्य विशेषता है ।

प्रत्येक अर्द्ध मण्डप पर प्रवेश द्वार अथवा मुख मण्डप है जो अलकृत मकर तोरण है । अर्द्ध मण्डप तथा मण्डप से होकर हम महामण्डप में पहुचते हैं । अर्द्ध मण्डप तथा मण्डप तीन ओर से खुले हैं । ये ढालू कक्षासनों से आवृत्त पाये जाते हैं । कक्षासन के आसनपट्ट पर आधारित स्तम्भों एव भित्ति स्तम्भों पर इन मण्डपों की छत आधारित है । बडे मन्दिरों के महामण्डप के मध्य में चार ऊचे स्तम्भों के उपर एक वर्गाकार प्रस्तर पाद बना है यह उपर की ओर अष्टमुखी होकर फिर वर्तुलाकार होकर महामण्डप की छत को थामता है । महामण्डप को अन्तराल द्वारा गर्भगृह से सम्बन्धित किया गया है । अन्तराल के फर्श पर गर्भगृह के द्वार में प्रवेश करने की जगह एक अथवा अनेक चन्द्र शिलाएँ (मून स्टोन) रखी गई हैं ।

खजुराहो के मदिरों की छतें स्तम्भ भित्ति स्तम्भ एव दीवारें लगभग पूर्णरूपेण अलकृत हैं । छतों पर उत्कीर्ण पत्रवल्ली तथा ज्यामितिक अलंकरण उच्चकोटि की शिल्पकला की रचनाएँ हैं । ये अलकरण बहुधा कोल तथा गजतालु क्रम के हैं । छत के कोनों अथवा कोष्ठकों में उत्कीर्ण नवयौवनसम्पन्ना अतीव लुभावनी अप्सराएँ तथा शाल भजिकाएँ मध्यकालीन हिन्दू मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरणों में रखी जा सकती हैं ।

यह ध्यातव्य है कि इन मन्दिरों में प्रवेश पाने के लिए सीढिया हैं भूमि से जगती पर चढने के लिए जगती मे अर्द्धमण्डप पर अर्द्धमण्डप से महामण्डप पर तथा महामण्डप से अन्तराल पर चढने के

लिए सोपान बने हुए हैं । जगती से गर्भगृह मण्डप से अधिक ऊंचाई पर है । उपर्युक्त विशेषताएं खजुराहो मन्दिरों को नागर शैली का उडीसा के मन्दिरों की नागर शैली मे स्पष्ट करती है । इनके अतिरिक्त खजुराहो के मन्दिरों का गर्भगृह ऊंचाई और वास्तु योजना मे सप्त रथ प्रकार का है । शिखर का निचला क्यूबिकल भाग भी सप्ताग बाड युक्त है । इन मन्दिरों की एक बहुत बडी विशेषता है स्थापत्य और तक्षण का समुचित सामजस्य । मंदिर का अभिन्न मूर्तिया मन्दिर स्थापत्य का अभिन्न अग प्रतीत होती हैं । कोणार्क की भांति खजुराहो में भी तक्षण शिल्प तान्त्रिक संस्कृति और साधना से प्रभावित प्रतीत होते हैं । यह भी सम्भव है कि खजुराहो के मन्दिरों की मूर्तिकला में कुछ चित्र चन्देल राजाओं एव सामन्तवर्ग के लोगों की विलासपूर्ण कामक्रीडा को संकेतित करते हैं ।

खजुराहो के मन्दिर — खजुराहो मन्दिर वास्तु का एक ऐसा स्थल है जहाँ शैव वैष्णव (हिन्दू) तथा जैन धर्मों के मन्दिर एक साथ पाये जाते है । खजुराहो में प्राचीनतम मन्दिर चौसठ योगिनी मन्दिर है । स्थापत्य कला तक्षण कला तथा अभिलेखों के आधार पर इसे नवीं शताब्दी में रखा गया है । ऊंची जगती पर निर्मित यह खुली वर्गाकार संरचना है । इसमें 67 छोटे छोटे बाह्य मन्दिर है इनमें से एक प्रवेश द्वार की ओर मुह वाला सबसे बडा है । ये मन्दिर अत्यन्त छोटे कक्ष मात्र हैं प्रत्येक में एक द्वार है और शिखर छत्र है । खजुराहो मन्दिर शैली का यह प्रारम्भिक प्रयास है ।

चौसठ योगिनी के पश्चात ब्रह्मा और लाल गुआ महादेव मन्दिर उल्लेख्य हैं । इनमें पहला मन्दिर विष्णु को और दूसरा शिव को समर्पित है । यह दोनों ही साधारण विन्यास के छोटे मन्दिर हैं । इनके शरीर के निचले भाग में ग्रेनाइट पत्थर परन्तु शिखर के निर्माण में बालुकाश्म प्रयुक्त हुआ है । इनका अधिष्ठान चौसठ योगिनी मन्दिर के अधिष्ठान की भांति है शिखर पिरामिडीय है । ब्रह्मा मन्दिर बाहर की ओर क्रूसाकार है परन्तु भीतर चौकोर है यह 12 सादे स्तम्भों पर आधारित है । इसके पूर्व के उभार भाग में प्रवेश द्वार है पश्चिम में एक छोटा द्वार है अन्य दोनों और जालीदार वातायन है । इसके प्रवेश द्वार के लिन्टल पर ब्रह्मा विष्णु और शिव की तथा आधार पर गगा और यमुना की मूर्तियां बनी हैं । दोनों ओर द्वार पाल हैं । लालगुआ महादेव का प्रवेश द्वार सादगीपूर्ण है । इनकी रचना नवीं शताब्दी में हुई होगी ।

ब्रह्मा मन्दिर से समानता रखने वाला दूसरा मन्दिर मातगेश्वर मन्दिर है । यह पूर्ण रूपेण बालुकाश्म से बना है । इसमें तीन ओर उभरे हुए झरोखे तथा विशेष प्रकार के (कक्षासन पद्धति) वातायन बने हैं जो खजुराहो शैली के विकसित मन्दिरों की विशेषता है । परन्तु मातगेश्वर के स्तम्भ भारी और अलकाररहित हैं । छत के भीतरी भाग पर सामान्य श्रेणी के गजतालु अलकार पाये जाते हैं । इसका बाह्यभाग भी अलकार हीन है, यह 10 वीं शताब्दी के प्रथम चरण की रचना मानी गई है । इस मन्दिर में एक विशाल लिंगम है जो 8 फुट 4 इच ऊंचा और 3 फुट 8 इच मोटा है । लगभग इसी काल की रचना वराह मन्दिर भी है । यह एक प्रकार का मण्डप मात्र है एक बेडौल मच पर बना इसका शिखर पिरामिडीय और छत 12 सादगीपूर्ण स्तम्भों पर आधारित है । इसके अन्दर एक विशाल एकाश्मक वराह प्रतिमा है जो 8 फुट 9 इच लम्बी और 5 फुट 10 इच ऊंची है । इस प्रतिमा पर सर्वत्र अनेक देवी देवताओं की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं ।

खजुराहो के पूर्ण विकसित मन्दिरों में प्रथम मन्दिर सम्भवत लक्ष्मण मन्दिर है । इसके महामण्डप मण्डप तथा अर्द्धमण्डप पिरामिडीय शिखर वाले हैं । इसका कगूरा सीधा है जिसके

शीर्षभाग पर एक घण्टा है । लक्ष्मण मन्दिर की कुछ विशेषताएँ गुप्तकालीन मन्दिरों का स्मरण कराती हैं उदाहरणार्थ घट–पल्लव अलकरण तथा स्तम्भों पर उत्कीर्ण पत्रवल्ली । इस मन्दिर में मकर तोरण की उपस्थिति उल्लेख्य है । महामण्डप की छत पर नागों की मूर्तिया और द्वार पर दिक्पालों की मूर्तिया अति सुन्दर हैं । इस मन्दिर का गर्भगृह पच रथ प्रकार का है और शिखर पर चैत्य–गवाक्ष अथवा कडु प्रकार की जालीदार खिडकिया बनी हैं । इस मन्दिर की रचना चन्देल राजा यशोवर्मन (मृत्यु 954 ई) के समय में हुई थी । यह एक वैष्णव मन्दिर है जो पचायतन प्रकार का सान्धार प्रासाद है । इसकी जगती और उपमन्दिर सुरक्षित हैं । जगती की गढनों पर उत्कीर्ण युद्ध और आखेट के दृश्य हाथियों अश्वों तथा सैनिकों के समूह तथा अन्य विविध प्रकार के मानवीय मैथुन व्यापार के दृश्य लुभावनी अप्सरायें आदि कला की दृष्टि से उल्लेख्य हैं ।

खजुराहा मन्दिर स्थापत्य के विकसित शैली के मन्दिरों में विश्वनाथ मन्दिर एक महत्वपूर्ण रचना है । यह पचायतन प्रकार का एक सान्धार प्रासाद है । इसमें एक लिंगम प्रस्थापित है अतएव यह एक शैव मन्दिर है । स्थापत्य कला के विकास की दृष्टि से विश्वनाथ मन्दिर लक्षण मन्दिर तथा कन्दरिया मन्दिर के मध्य में रखा जा सकता है । विश्वनाथ और कन्दरिया में अनेक समानतायें है । आधार गठन तक्षण–व्यवस्था शिखर रचना आदि दोनों मन्दिरों में लगभग एक समान है । इन समानताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथ कन्दरिया का पूर्वगामी है । मण्डप की दीवार पर उपलबध अभिलेख से ज्ञात होता है कि विश्वनाथ मन्दिर का निर्माण 1002 ई में चन्देल राजा धग ने किया था ।

11वीं शताब्दी के प्रथम चरण में निर्मित दो मन्दिर हैं जगदम्बी तथा चित्रगुप्त इनमें प्रथम विष्णु का और दूसरा सूर्य का मन्दिर है । योजना रचना आकार तथा अलकरण की दृष्टि से ये दोनों मन्दिर एक दूसरे के अति निकट हैं । इनमें से प्रत्येक निरन्धार प्रासाद है प्रत्येक में गर्भगृह अन्तराल महामण्डप तथा अर्द्ध मण्डप हैं । परन्तु यह ध्यातव्य है कि जगदम्बी मन्दिर का अधिष्ठान बन्ध चित्रगुप्त मन्दिर के अधिष्ठान बन्ध की अपेक्षा सादगीपूर्ण है । इसी प्रकार चित्रगुप्त के महामण्डप में द्वारपाल–द्वय के छ समूह चारों ओर पाये जाते हैं परन्तु जगदम्बी के महामण्डप में द्वारपाल–द्वय के केवल तीन समूह हैं । जगदम्बी के महामण्डप की छत चौकोर है परन्तु चित्रगुप्त के महामण्डप की छत अष्टवर्गीय है । इन भिन्नताओं से यह प्रतीत होता है कि चित्रगुप्त मन्दिर अधिक विकसित और अलकृत है जिससे इसका रचनाकाल भी जगदम्बी के रचना काल से कुछ समय पश्चात हो सकता है । जगदम्बी में नन्दीश्वर मूर्तियों की पूर्ण अनुपस्थिति भी इसको अपेक्षाकृत प्राचीन सकेतित करती है ।

खजुराहों मन्दिर समूह में सर्वाधिक विकसित विस्तृत एव महत्त्वपूर्ण रचना है कन्दरिया महादेव (चित्र–71) कन्दराओं में निवास करने वाले शिव के लिए कन्दरिया महादेव नाम सार्थक प्रतीत होता है। कदाचित कन्दरिया सम्बोधन कदर्पी का विकृत रूप था । शिव को कदर्प अर्थात् कामदेव का विनाशक होने के कारण कदर्पी भी कहा जाता है । यह एक शैव मन्दिर है । इसकी लम्बाई 109 फुट चौडाई 60 फुट तथा भूमि से ऊचाई 116 1/2 फुट है । इस मन्दिर का शिखर उपर उठते हुए वर्गीकृत शिखर समूहों से अलकृत है । इन लघुशिखरों की कुल सख्या 84 है । खजुराहो के पूर्ण विकसित सान्धारप्रासादों की भाति कन्दरिया महादेव की आयोजना में अर्द्धमण्डप मण्डप महामण्डप अन्तराल तथा गर्भगृह की समुचित व्यवस्था है । इनमें से प्रत्येक अग का विन्यास विस्तृत एव अलकृत है ।
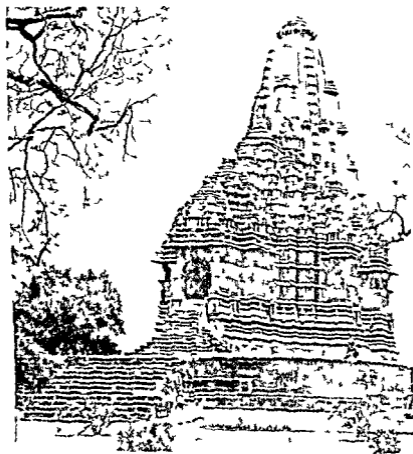
चित्र–71 खजुराहो का कन्दरिया महादेव मंदिर

युक्त स्तम्भ ये तीन कश्मीरी मन्दिर स्थापत्य के मुख्य अग है । त्रिपोली मेहराब गन्धार के स्तूप स्थापत्य में प्रयुक्त हुआ है । तक्षशिला (सिर्कप) के गरुड द्वय मंदिर में त्रिकोणान्त छत का प्रयोग उल्लेख्य है ।[11] पिरामिडीय छत का प्रारम्भ हम गुप्त युग के स्थापत्य में देख चुके हैं । कश्मीर के मन्दिरों के सुन्दर स्तम्भों की तुलना रोमन स्थापत्य के डोरिक शैली के स्तम्भों से की जा सकती है । शीर्षक को पूर्ण विकसित कमल दल की पक्तियों से सुशोभित किया गया है । स्तम्भों के दण्ड नालीदार हैं । ये स्तम्भ बहुधा एकाश्मक है ।

कश्मीर के कुछ मन्दिरों को उथले तालाब के मध्य में निर्मित किया गया है यथा पॉण्ड्रथान व लुडोव के मन्दिर । यह नाग पूजा की ओर सकेत है । श्वान च्वाह् एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख करता है जिसके अनुसार पूर्वकाल में कश्मीर एक नाग कुण्ड के रूप में था । कश्मीर के मन्दिरों का निर्माण बडे-बडे प्रस्तर खण्डों को बारीकी से तराश कर किया गया है । कश्मीर मन्दिर स्थापत्य की एक अन्य विशषता यह है कि कुछ मन्दिरों की छतों के निर्माण में अर्द्धचन्द्राकार गुम्बद का निर्माण शिलाखण्डों का परस्पर अन्तर्निहित करके किया गया है । वास्तुकला के विकास के इतिहास में डोम (गुम्बद) का इस विधि स निर्माण का प्रयास ध्यान देने योग्य है । कश्मीर के लुडोव ग्राम में रुद्रेश के मन्दिर में इस वास्तु विधि का उदाहरण उल्लेख्य है । कश्मीर स्थापत्य का स्वर्णकाल आठवीं और नवीं शताब्दियों में ललितादित्य और अवन्तिवर्मन का शासन काल था । परन्तु ललितादित्य के शासन काल में बने मन्दिर कश्मीरी मन्दिर स्थापत्य का विकास और अवन्तिवर्मन के शासन काल में बने मन्दिर उसका चरम उत्कर्ष प्रस्तुत करते हैं । श्रीनगर से 16 मील दक्षिण पूर्व लुडोव ग्राम में स्थित रुद्रेश का मन्दिर वर्गाकार योजना का एक प्राकार से घिरा हुआ है । यह ललितादित्य के समय का प्राचीनतम मन्दिर प्रतीत होता है । श्रीनगर के निकट पहाडी पर तख्ते सुलेमान में शकराचार्य मन्दिर बना है । इसकी बाहरी योजना वर्गाकार है परन्तु भीतरी भाग वर्तुलाकार है । त्रिकोणान्त छत तथा त्रिपोली मेहराब का प्रारम्भ इस मन्दिर में देखा जा सकता है । श्रीनगर से लगभग 30 मील दक्षिण पश्चिम को नर स्थान का मन्दिर भी उक्त विशेषताओं से युक्त है ।

परन्तु ललितादित्य के शासन काल का सवश्रेष्ठ मन्दिर मातण्ड का सूर्य मन्दिर है । अनन्तनाग से 5 मील की दूरी पर स्थित यह मन्दिर यद्यपि अब ध्वस्तावस्था में है मध्यकालीन कश्मीरी मन्दिर स्थापत्य का आदर्श था । एक आयताकार आगन में केन्द्रीय देवगृह चारों ओर से दीवार और एक विस्तृत प्रवेश द्वार के अतिरिक्त मार्तण्ड के सूर्य मन्दिर में गर्भगृह के सामने एक स्वतन्त्र बरामदा है जिसके दोनों पार्श्वों में दो कक्ष हैं । मुख्य मन्दिर के कोणों पर विशाल भित्ति स्तम्भ और चारों मुहारों पर त्रिपोली मेहराब त्रिकोणान्त छत के अन्दर सुव्यवस्थित है । सम्पूर्ण मन्दिर एक ऊचे अधिष्ठान पर बनाया गया है । गर्भगृह का उपरी भाग पिरामिड की भाति सकरा हो गया है । मन्दिर की ताखों पर सुन्दर मूर्तिकला उत्कीर्ण है । मार्तण्ड सूर्य मन्दिर 62 फुट लम्बा 35 फुट चौडा और सम्भवत 70 फुट ऊचा था । मन्दिर का चतुष्कोण प्रागण 220 फुट लम्बा और 142 फुट चौडा है । श्रीनगर के निकट बगाथ में अनेक मन्दिरों के अवशेष हैं । इनमें से एक ज्येष्ठेश मन्दिर है । यह ललितादित्य द्वारा निर्मित ज्येष्ठ रुद्रस्य शिला प्रासाद (राजतरगिणी 4 190) प्रतीत होता है । उसने परिहासपुर नगर भी बसाया

11 द्रष्टव्य जान मार्शल ए गाइड टु टैक्सिला दिल्ली 1936

ा।

सम्राट अवन्तिवर्मन तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में कश्मीर प्रदेश में अनेक हिन्दू मन्दिर बने। अवन्तिवर्मन (855 883 ई) न श्रीनगर मे 18 मील दक्षिण पूर्व को एक नवीन नगर बसाया जिसका नाम अवन्तिपुर रखा। इस नगर में उसने एक शिव मन्दिर अवन्तीश्वर का तथा दूसरा वैष्णव मन्दिर अवन्तिस्वामी का बनवाया था। अवन्तीश्वर ध्वस्त हो चुका है परन्तु यह एक विशाल मन्दिर था। गर्भगृह का क्षेत्र 57 फुट वर्गाकार है और इसका प्रागण 218 फुट लम्बा तथा 200 फुट चौडा है। अवन्तिस्वामी अभी सुरक्षित है। केन्द्रीय देवालय 33 फुट वर्गाकार है। इसका आगन 174 फुट लम्बा तथा 148 फुट चौडा आयताकार है। यह एक पचायतन मन्दिर है परन्तु इमके चार लघु मन्दिर स्वतत्र मन्दिर हैं। मुख्य मन्दिर के सामन एक जल कुण्ड था उसके सामने एक कीर्ति स्तम्भ भी था। प्रागण के चतुर्दिक दीवार क अन्दिर 69 छोट छोटे कमर चारों ओर थे। उनके सम्मुख 70 प्रस्तर स्तम्भों की पक्ति थी। इन स्तम्भों के दण्ड पोडशमुखी हैं । मन्दिर के पश्चिम की ओर एक विशाल प्रवेश द्वार लगभग उतना ही बडा था जितना कि मुख्य मन्दिर। अवन्तिवर्मन के पश्चात के शासकों द्वारा निर्मित कश्मीर के मन्दिरों म शकर गौरीश्वर तथा सुगन्धेश पुराणाधिष्ठान का शिव मन्दिर पयार मामल काठेर काफिरकोट मलौट आदि स्थानों पर विद्यमान लघु मन्दिरों का उल्लख किया जा मकता है।

पश्चिमी भारत तथा गुजरात क हिन्दू मन्दिर — इण्डो आर्यन शैली क कतिपय मन्दिर 8 वी स 12 वा मदी के बीच पश्चिमी मध्य भारत ग्वालियर राजपूताना तथा गुजरात प्रदेशों में निर्मित हुये थे। भारतीय कला के इतिहास का यह खदपूर्ण मत्य है कि प्रारम्भिक मध्यकाल में तुर्की मुसलमानो की आक्रान्ता सनाओं ने बुतपरस्ती ममाप्त करन तथा हिन्दू प्रासादों में सग्रहीत स्वर्ण रजतादि बहुमूल्य वस्तुओं का प्राप्त करन की इच्छा से इस काल क अधिकाश देवालयों को ही नष्ट नही किया अपितु उनकी इस असास्कृतिक और असहिष्णुतापूर्ण क्रिया द्वारा हिन्दू मन्दिर स्थापत्य की उत्तरी शैली का विकास भी अवरुद्ध हो गया। उत्तरी भारत में मुमलमानों के आक्रमण के बाद हिन्दू मन्दिर स्थापत्य का हास हो गया। तुर्की सुल्तानों ने बहुमख्यक मन्दिरों का नष्ट करके उनके कलापूर्ण शिलाखण्डों स्तम्भों और सुवर्ण रजत आदि की सामग्रियों का प्रयोग मस्जिदों मकबरों किलों तथा मीनारों के निर्माण में किया। पश्चिमी भारतीय मन्दिर स्थापत्य की मात्रा का अनुमान दिल्ली (मेहरौली) की कुतब मस्जिद तथा अजमेर के अढाई दिन का झोपडा नामक इमारतों से किया जा सकता है। अभिलखों से ज्ञात होता है कि कुत्व मस्जिद के निर्माण में 27 मन्दिरों का पदार्थ प्रयुक्त हुआ है। इस धार्मिक भवन में 240 स्तम्भ लग हैं परन्तु ये स्तम्भ दो स्तम्भों को जोडकर (एक के उपर दूसरा खडा करके) बनाये गये हैं। इम प्रकार कुत्व मस्जिद में 480 स्तम्भों का प्रयाग हुआ है। अढाई दिन का झोपडा बडी इमारत है जिसमें 235 स्तम्भ हैं। प्रत्येक स्तम्भ के निर्माण में तीन स्तम्भों का (एक के उपर दूसरा दूसर के उपर तीसरा रखकर) प्रयोग हुआ है। एसा लगता है कि उक्त दो मस्जिदों क निर्माण हेतु लगभग अस्सी मन्दिरों का मलबा प्रयाग में लाया गया था। गुप्तकाल की ममाप्ति से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक मध्य भारत तथा राजस्थान में अनेक मन्दिर निर्मित हुये। सागर जिल में एरण नामक ग्राम में पाचवी से ग्यारहवीं सदी तक के मदिरावशेष विद्यमान हैं। एरण में परवर्ती गुप्तकाल में वराह नरसिंह (नृसिंह) तथा विष्णु के मन्दिरों का निर्माण हुआ था जा अब भग्नावस्था में हैं । एरण से 10 मील दूर पाथरी में

7 वी सदी का एक एकाश्मक स्तम्भ तथा 9 वी सदी का 'काठेश्वर' का मन्दिर है। यहा से कुछ दक्षिण को गिरासपुर में विद्यमान आठ खम्भा तथा चार खम्भा नामक अवशेष दो मन्दिरों के परिस्तम्भित मण्डपों के अवशेष प्रतीत होते हैं जो 9 वी एव 10 वी शताब्दियों की रचनाएँ हैं। यहाँ पर के माला दे मन्दिर एव वाघमठ (व्याघ्रमठ) नामक इमारतें भी 10 वीं सदी की सृष्टिया प्रतीत होती हैं। सागर जिले के उदयासपुर में उदयश्वर का मन्दिर सम्भवत 11 वी शताब्दी का है। यह खजुराहो के मन्दिरों से साम्य रखता है। इन मन्दिरों में गुप्तकालीन स्तम्भ शीर्षक एव पत्रवल्ली की परम्परायें भासी जाती हैं।

ओसिया के मन्दिर — राजस्थान में जोधपुर से 32 मील उत्तर पश्चिम ओसिया ग्राम है। राजपूताना में निर्मित एव विद्यमान सभी मन्दिरों का उल्लेख करना कठिन है। ओसिया में 8 वीं से 10 वीं शताब्दी ईसवी के मध्य निर्मित मन्दिर समूह को उत्तरी भारत में इण्डो आर्यन वास्तुकला के प्रतिनिधि मन्दिर माना जा सकता है। यह एक प्रकार का देवालय नगर है। यहा पर लगभग 16 हिन्दू और जैन मन्दिरों के अवशेष हैं। इनमें से कुछ 8 वी और नवीं शताब्दी के और अन्य 10 वीं और 11 वी शताब्दी के हैं। यह सभी मन्दिर अब उपेक्षित होने के साथ ही भग्न भी हैं। अधिकाश मन्दिर पचायतन प्रकार के हैं तथा खजुराहो के मन्दिरों की भाति ऊचे चबूतरे पर निर्मित हैं। यहाँ के मन्दिर दो स्थलों में केन्द्रित हैं। आरम्भिक वर्ग के ग्यारह मन्दिरों का निर्माण आधुनिक ओसिया ग्राम के उपकण्ठ में हुआ है तथा शेष पश्चातकालीन मन्दिर यहाँ से पूर्व में स्थित पहाडी में बने हैं। प्रथम वर्ग के मन्दिर 8 वी 9 वी शताब्दी में बने। यह सभी यद्यपि आकार और शरीर में छोटे हैं किन्तु उनके विशिष्ट एव उत्कृष्ट वास्तुशिल्प ने उनकी इस कमी को ढक दिया है। इन मन्दिरों की एक उल्लेखनीय विशेषता है उनकी विविधता। यद्यपि ये मन्दिर उत्तरी अथवा इण्डो आर्यन शैली के हैं परन्तु इनमें से प्रत्येक मन्दिर की रचना में मौलिकता तथा वैयक्तिक गुण हैं। कोई दो मन्दिर एक समान नहीं हैं। अधिकाश मन्दिर ध्वस्त हो गये हैं।

इस वर्ग के प्रारम्भिक तीन मन्दिर हरिहर के हैं। लघु आकार के इन मन्दिरों की डिजायन एव अलकरण प्रभावशाली हैं। इनमें से दो पचायतन प्रकार के हैं। इनका निर्माण खजुराहो के मन्दिरों की तरह ऊचे अधिष्ठान पर किया गया है। इनके शिखर उडीसा के मन्दिरों के शिखरों की तरह के हैं परन्तु इनके कगूर अधिक सस्कृत हैं। हरिहर त्रय में न 2 और 3 का मण्डप एक खुला परिस्तम्भित कक्ष मात्र है। मन्दिर का प्रत्येक अग सुन्दर शिल्प कला से शोभित किया गया है। इसी श्रेणी का परन्तु अधिक सयत और सम्भवत सर्वाधिक सुन्दर एक अन्य मन्दिर है सूर्य मन्दिर। इसके सामने दो लम्बे खाचदार या नालीदार स्तम्भ होने के कारण इसमें बडी नवीनता आ गई है। यह सूर्य मन्दिर भी पचायतन प्रकार का है। इसके चार गौण मन्दिर एक साल (क्लोइस्टर) द्वारा मुख्य मन्दिर से सम्बन्धित हैं। चित्तोडगढ में कालिकामाता का मन्दिर तथा कोटा राज्य में आमवन के निकट त्रिविध विष्णु मन्दिर भी इस प्रसग में उल्लेखनीय हैं।

ओसिया के अन्य मन्दिरों में पीपल देवी का मन्दिर स्तम्भों की कला के कारण उल्लेख्य है। इस मन्दिर में एक विस्तृत सभामण्डप है जिसमें लगभग 30 स्तम्भ हैं। यह दसवीं शताब्दी की रचना है। लगभग इसी समय का पुराने जोधपुर राज्य में गोडवाड के निकट सलाडी में जोगेश्वर का मन्दिर भी है। सचिय माता ग्राम के पूर्व में एक अन्य मन्दिर इस शैली का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करता है। यह मन्दिर

8 वीं और 12 वीं शताब्दी के बीच बना प्रतीत होता है। इसकी वास्तुभूमि अष्टभुजी है। सभा मण्डप के प्रत्येक दिशा में एक स्तम्भ है। ये स्तम्भ एक ठथले गुम्बद को ठठाये हुये हैं। इसके शिखर में कई ठरुशृंग हैं (टुरेट्स)।

ओसिया वर्ग के मन्दिरों में सर्वाधिक पूर्ण मन्दिर के रूप में महावीर (जैन मन्दिर) मन्दिर का उल्लेख किया जा सकता है। इसके विविध अंगों में गर्भगृह, एक बन्द कक्ष तथा खुला मण्डप की गणना की जा सकती है। खुले मण्डप के सम्मुख एक अलकृत तोरण है। यह मन्दिर मूलत 8 वीं शताब्दी में निर्मित हुआ प्रतीत होता है। इसमें वृद्धि एव पुनर्नवीनीकरण का कार्य 10 वीं शताब्दी में सम्पन्न हुआ। सम्पूर्ण मन्दिर में व्याप्त शैलीगत परिवर्तनों से इसकी पुष्टि होती है। यह परिवर्तन स्तम्भों की बनावट में विशेषत दृष्टिगत होता है। मूल मन्दिर से जुडे प्रथम मण्डप (बन्द कक्ष) तथा द्वितीय खुले मण्डप के स्तम्भों की तुलना करने पर शैलीगत परिवर्तन का आभास होता है। खुले मण्डप का निर्माण साढियों के उपर किये जाने के कारण इसे नाल मण्डप भी कहा जाता है। इस मन्दिर का अलकृत तोरण (या मेहराबयुक्त प्रवेश द्वार) और भी बाद की रचना है। सम्भवत 11 वीं शताब्दी में इसका निर्माण हुआ। इस मन्दिर के खुले मण्डप के स्तम्भ उल्लेखनीय हैं। उनको गुप्तोत्तर युगीन स्तम्भों के अधिकतम विकसित रूप का प्रतिनिधि माना जा सकता है। इस प्रकार के स्तम्भ की पर्याप्त लोकप्रियता का सकेत गिरासपुर (मध्यप्रदेश) के माला दे मन्दिर में प्रयुक्त ऐसी ही डिजाइन के स्तम्भों से मिलता है। पुराने कोटा राज्य में आमवन के निकट वैष्णव मन्दिर तथा चित्तौडगढ के कालिका माता मन्दिर जो समकालिक रचनाएँ हैं में भी उक्त शैली के स्तम्भ पाये जाते हैं। ओसिया के मन्दिरों के स्तम्भ निष्णात (क्लासिकल) स्थापत्य के उदाहरण हैं। प्रत्येक मन्दिर का प्रवेशद्वार लोकप्रिय हिन्दू धार्मिक कथा प्रसगों और देवी देवताओं के चित्रों से सुसज्जित किया गया है। गगा और यमुना की मूर्तिया शेष नाग नवग्रह तथा शैव अथवा वैष्णव प्रतीक इन मन्दिरों के द्वारों तथा ताखों की शोभा बढाने के लिए बनाय गय हैं।

ग्वालियर के मन्दिर ग्वालियर के किले के निकट लगभग एक दर्जन भवनों के अवशेष हैं जिनमें से पाच सम्भवत मन्दिर हैं। इन पाच मन्दिरों में तीन विशेष महत्वपूर्ण होने के कारण उल्लेख्य हैं। ये तीन मन्दिर हैं तेली का मन्दिर (बडा) सास बहू मन्दिर और (छोटा) सास बहूमन्दिर। मन्दिर के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि बडा सास बहू मन्दिर 1093 ई में निर्मित हुआ था। अन्य दो मन्दिर भी लगभग ग्यारहवीं सदी में ही बने होंगे। इन तीनों मन्दिरों में तेली का मन्दिर सम्भवत प्राचीनतम है। असामान्य स्वरूप का यह मन्दिर 80 फुट ऊचा है। इसका रचना विन्यास भी विलक्षण है। इसका कोई भी भाग वर्गाकार नहीं है। बाहर से इसका आकार गजपृष्ठ की तरह बेडौल है। इसकी लम्बाई बाहर से 60 फुट और चौडाई 46 फुट है। भीतरी कक्ष भी इसी आकार का 30 फुट लम्बा और 15 फुट चौडा है। इस मन्दिर में कोई परिस्तम्भित मण्डप अथवा सभा मण्डप नहीं है। इसमें मुख्य मन्दिर अथवा गर्भगृह के साथ एक विशाल बरामदा है जो प्रवशद्वार को गर्भगृह से मिलाता है। इस मन्दिर की छत का शीर्ष भी गजपृष्ठाकार है अत इसका शिखर पिरामिडीय नहीं हो सका है। इस मन्दिर की छत बौद्ध चैत्य गृह की भाति है ऊपरी शरीर में दोनों ओर गवाक्ष वातायन हैं। इस प्रकार की रचना शैली इसके बरामदे में भी अपनाई गयी है जो मन्दिर की छत के बराबर ऊचा बनाया गया है। बौद्ध स्थापत्य से प्रभावित हिन्दू मन्दिरों में उडीसा का बेताल देउल और ग्वालियर का तेली का मन्दिर सर्वाधिक स्पष्ट

उदाहरण हैं।

बडा सास बहू मन्दिर विष्णु मन्दिर है । परन्तु इसका विमान जो सम्भवत 150 फुट ऊचा था नष्ट हो चुका है। केवल महामण्डप मौलिक रूप में अवशिष्ट है। बाहर से गह महामण्डप तीन मजिलों वाला है। ये मजिलें खुले छज्जे अथवा झरोखे के आकार की हैं जो महामण्डप के चारों ओर बनी हुई हैं। प्रत्येक मजिल को एक विशाल प्रस्तरपाद द्वारा व्यक्त किया गया है।

मजिलों के बीच का स्थान स्तम्भों द्वारा अपनाया गया है। इस प्रकार मुहारों का प्रभाव खुले तोरण पथों के समान हो गया है। इस असाधारण मण्डप की छत कुछ नष्ट हो गयी है परन्तु इसकी रचना अलकृत शिल्प से परिपूर्ण और उपर को गुम्बदोय अथवा हासोन्मुखी थी। इसका आन्तरिक भाग भी इतना ही कलापूर्ण है। यह कहा जा चुका है कि यह भवन तिमजिला है परन्तु भीतरी भाग के लिए यह लागू नहीं हाता। इसके भीतर एक विशाल विस्तृत कक्ष है जो चारों ओर से वीथियों तथा मुहारों से आवृत है। इस कक्ष का व्यास 30 फुट के लगभग है। मण्डप की छत का भार वहन करने के लिए एक कक्ष में चार विशाल स्तम्भ निर्मित किये गये हैं। ग्वालियर के सास बहू मन्दिर की रचना शैली गुजरात में सिद्धपुर के रूद्रमाला मन्दिर (अब नष्टप्राय) की रचना में भी अपनाई गई है। ग्वालियर का छोटा सास बहू मन्दिर बडे सास बहू मन्दिर का ही लघु रूप है।

गुजरात काठियावाड़ के मन्दिर— हिन्दू मन्दिर स्थापत्य की नागर शैली के चरम विकास का एक उर्वर क्षेत्र गुजरात काठियावाड का प्रदेश था । यहा पर 10वीं और 13वीं शताब्दी के बीच के वर्षो में बडी सख्या म मन्दिरों का निमार्ण हुआ । महमूद गजनी ने काठियावाड के सोमनाथ मदिर में 1025 ई में शक्तिशाली आक्रमण किया था और 1298 ई तक दिल्ली के सुल्तानों ने इस प्रदेश को अपनी सल्तनत में मिला लिया था। परन्तु इन झगडों के युग में इस समृद्ध प्रदेश में स्थापत्य शिल्प की श्लाघनीय उन्नति हुई । इसका श्रेय विशेष रुप से उन सोलकी नरेशों की प्रतिभा और कला तथा धर्म की रक्षा की चेष्टा को है जिनकी राजधानी अन्हिलवाडा पट्टन (आधुनिक पाटन अहमदाबाद के निकट) थी। सोलकी नरेशों का राज्य गुजरात काठियावाड कच्छ तथा राजपूताना के कुछ भागों तक फैला हुआ था । यद्यपि सोलकियों का पारिवारिक धर्म शैवमत था परन्तु उनके शासन काल में जैन धर्म और कला की भी प्रगति हुई ।

इन मन्दिरों को रचना विन्यास की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है एक तो ऐसे जिनमें गर्भगृह (मुख्य मन्दिर) और मण्डप एक दूसरे से मिले हुये हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण सरचना एक समानान्तर चतुर्भुज के भीतर है । दूसरे वे मन्दिर जिनके गर्भगृह और मण्डप आयताकार हैं और दानों एक दूसरे से विकर्ण रुप में जुडे हैं । प्रथम स्थापत्य व्यवस्था का मुन्दर उदाहरण मौढेरा(बडौदा) में सूर्यमन्दिर(11वीं शताब्दी) है और दूसरी का काठियावाड में प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर(12वीं शताब्दी में कुमारपाल के काल में पुनर्निर्मित) है । परन्तु इन सभी मन्दिरों में दो ही मुख्य अग है गर्भगृह और सभामण्डप । दानों प्रकार की रचनाओं क मन्दिरों के पार्श्वों पर ऐसे कटाव हैं जो मन्दिर के शरीर पर नोकीले कोण बनाते हैं । उपर्युक्त द्विविध स्थापत्य व्यवस्था के अनुसार ये कोण भी द्विविध है । कुछ मन्दिरों में ये कोण सीधे और कुछ में गोलाई लिए हुये हैं । यह भी उल्लेखनीय है कि गुजरात और पश्चिमी भारत के सोलकी मन्दिरों में कुछ बडे मन्दिर बाहर से दो तलों अथवा कुछ उदाहरणों में तीन तलों वाले थे। परन्तु इनमें से ऐसे मन्दिर लगभग सभी नष्ट हो चुके हैं उनके भग्नावशेषों से ही उनके पूर्ण स्वरुप का आभास मिलता है । जहा तक ऊचाई और उपरी रचना का प्रश्न है इन सोलकी मन्दिरों

की स्थापत्य कला तीन अगों में बटी है 'पीठ अधिष्ठान मन्दोवर' (दीवार की सतह कपोत तक) तथा शिखर' अथवा छत । उपर की ओर की सभी सरचनाओं में ये विविध अग पाये जाते है यथा तोरण पर्थो मीनारों तथा स्तम्भों में ।

इन मन्दिरों की भीतरी रचना भी विशिष्ट है । इनमें बहुस्तम्भी परम्परा अपनाई गई है जिससे सुन्दर शिल्पयुक्त स्तम्भ इन मन्दिरों के अभिन्न अग हो गये हैं । ये स्तम्भ ऐसे ज्यामितिक ढग से व्यवस्थित किये गये हैं ताकि मण्डप के मध्य में एक अठपहल अथवा अष्टभुजी नाभि बन जाये । इसके बाहर इनकी व्यवस्था (स्थापना) ऐसी है जिससे पार्श्व बनते हैं । स्तम्भ कही पतले नहीं होते, वरन् अलकरण के क्षेत्रों में उनके दण्ड विभक्त रहते हैं जो उपर को कम मोटाई के होते जाते हैं । प्रत्येक स्तम्भ में बहुधा नारीमूर्ति अथवा देवी मूर्ति बनी रहती है । भारतीय स्थापत्य सस्कृति का एक अज्ञात रहस्य यह है कि उत्तरी शैली के अधिकाश मन्दिरों के बाह्य भाग पर प्रशस्त तक्षण और अलकरण पाया जाता है किन्तु उनके भीतरी भाग पर अलकरण में स्पष्ट नियत्रण देखा जा सकता है । हमारा अनुमान है कि मन्दिर की भीतरी सतहों अथवा दीवारों पर कोई भी चित्र अथवा अलकरण बनाकर गर्भगृह में प्रतिष्ठित दैवी प्रतिमा से दर्शक उपासक का ध्यान विचलित न हो इस उद्देश्य से वास्तुशास्त्रों में कुशल शिल्पियों ने उक्त रीति और नियत्रण को अपनाया होगा ।

सोलकी नरेशों की सत्ता के युग में निर्मित निम्नलिखित मुख्य मन्दिर हैं 10 वीं शताब्दी में बने मन्दिर जो सूनक कनोड, देलमाल तथा कासरा में (गुजरात में) है 11 वीं शताब्दी में बने मन्दिर घुमली तथा सेजाकपुर (काठियावाड) के नवलख मन्दिर मौढेरा (गुजरात) का सूर्य मन्दिर आबू पर्वत पर विमल मन्दिर तथा किराडू में स्थित मन्दिर समूह 12 वीं शताब्दी में बने रूद्रमाल मन्दिर (सिद्धपुर गुजरात में भग्न मन्दिर) सोमनाथ मन्दिर (काठियावाड) । इनके अतिरिक्त 13वी शताब्दी में निर्मित आबू पर्वत पर तेजपाल मन्दिर भी इसी शैली का है ।

सोलकी नरेशों की राजधानी पाटन से 15 मील की दूरी के अन्दरें सूनक कनोड डेलमाल तथा कासरा नामक स्थानों पर बने मन्दिर सम्भवत प्राचीनतम हैं । यह मन्दिर दसवीं शताब्दी के है । आकार में छोटे परन्तु शिल्पकला की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं । इनमें दो भाग हैं एक विमान तथा दूसरा उसके सामने खुला बरामदा अथवा मण्डप । मण्डप एक चारदावारा क अन्दर बना है । भीतर के स्तम्भ चौकोर हैं उनके दण्ड पूर्ण कलश से अलकृत हैं । इन सब में सर्वाधिक सुरक्षित सूनक में नीलकण्ठ मन्दिर है । इसका शिखर अमशील तक विद्यमान है । ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित गुजरात में मौढेरा का सूर्य मन्दिर पाटन से केवल अठारह मील दक्षिण में स्थित है । इसका शिखर लुप्त हो गया है । छत और परिस्तम्भित कक्ष ध्वस्त हो गये हैं । टूटी हुई दीवार पर उत्कीर्ण एक अभिलेख से पता चलता है कि यह मदिर 1026-27 में निर्मित हुआ जब सोलकी राजा भीम प्रथम गुजरात का शासक था । यह मन्दिर दो भागों में विभक्त है एक सभामण्डप तथा दूसरा आयताकार भवन जिसमें दो कक्ष है —गूढ मण्डप तथा गर्भगृह । सम्पूर्ण मन्दिर की लम्बाई 145 फुट है इसके स्तम्भ 13 फुट ऊचे हैं । मन्दिर का मुह पूर्व की ओर है जिस दिशा से सूर्योदय होता है। इस मन्दिर के समकालीन मन्दिरों में घुमली तथा सेजाकपुर के नवलख मन्दिर उल्लेख्य हैं । इनमें से प्रथम (नवलख) मन्दिर की विकर्ण योजना है । इसमें दो कक्ष है एक मण्डप तथा दूसरा गर्भगृह है । मण्डप एक ऊची पीठ पर बना है और दो तलों का है । लगभग इसी प्रकार का मन्दिर सेजाकपुर में भी है । काठियावाड के यह

मन्दिर सामान्य आकार के हैं । घुमली का मन्दिर 80 फुट लम्बा तथा सेजाकपुर का 70 फुट लम्बा है । मारवाड के मल्लानी जिले में किराडु नामक स्थान में अनेक ध्वस्त मन्दिर हैं । इनमें से एक मन्दिर जो प्राचीनतम है विष्णु मन्दिर है । परन्तु सबसे बडा मन्दिर सोमेश्वर का मन्दिर है ।

बारहवीं शताब्दी में सिद्धपुर के रूद्रमाला मन्दिर का निर्माण तथा सोमनाथ के मन्दिर का पुनरूद्धार हुआ । रूद्रमाला मन्दिर का निर्माता गुजरात का महान शासक जयसिंह सिद्धराज था (1094 1142) । यह भारत के विशालतम तथा सुन्दरतम मन्दिरों में से एक है । यह मन्दिर समूह 300 फुट लम्बी तथा 230 फुट चौडी भूमि पर स्थित है । मुख्य मन्दिर 150 फुट ऊचा तथा 100 फुट से अधिक चौडा है । सोमनाथ का मन्दिर इससे अधिक छोटा नहीं था । 1025 ई में महमूद गजनी द्वारा नष्ट किये जाने के बाद 12 वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुमारपाल ने इसका पुनर्निमाण किया था । तब यह 130 फुट लम्बा तथा 75 फुट चौडा था । यह मन्दिर आधुनिक काल में पुनर्निर्मित कर दिया गया है ।

ग्यारहवीं से तेरहवी शताब्दी तक उत्तरी शैली के अनेक मन्दिरों का निर्माण दक्कन में हुआ । यह मन्दिर उत्तर में ताप्ती नदी तथा दक्षिण में कृष्णा नदी के बीच के भाग म दक्कन के छाटे हिस्से में पाये जाते हैं । यह वही भूभाग है जहा अजन्ता और एलौरा के विश्वविख्यात शैल कृत मन्दिरों की स्थापत्य परम्परा प्रचलित थी । अतएव दक्कन के मन्दिर अजन्ता एव एलौरा की शैली से प्रभावित हैं। परन्तु इन दक्कनी मन्दिरों के शिखर तथा स्तम्भ नवीनता लिए हुए हैं । इनमें से सबसे बडा मन्दिर भी सामान्य सन्तुलित आकार का है । ग्यारहवी शताब्दी में थाना जिले में अम्बरनाथ मन्दिर बलसने में त्रिविध मन्दिर तथा खानदेश में महेश्वर मन्दिर बने थे । 12वी शताब्दी में सिन्नर में गोण्डेश्वर मन्दिर झोगडा में महादेव मन्दिर दोनों नासिक जिले में हैं) पेडगाव में लक्ष्मीनारायण मन्दिर (अहमदनगर जिले में) निर्मित हुए । 13वीं शताब्दी में नागनाथ मन्दिर (औंध आन्ध्रप्रदेश) दैत्य सुन्दन मन्दिर व विष्णु मन्दिर क्रमश लोनर तथा सतगाव (दक्कन) में निर्मित हुये थे। इन सब में सुन्दर एव प्राचीन अम्बरनाथ मन्दिर है । यह मन्दिर एक अभिलेख क अनुसार 1060 ई में बना था । इस मन्दिर में स्थापत्य कला तथा शिल्पकला का समुचित सामजस्य हुआ है । इसकी आयोजना का परिमाप 90 फुट लम्बाई और 75 फुट चौडाई का है । इस मन्दिर में तीन प्रवेश द्वार हैं। सभा मण्डप में प्रशस्त शिल्प कला पाई जाती है । विशेष रुप से सभा मण्डप के स्तम्भों को आधार से शीर्ष तक कुशलतापूर्वक अलकृत किया गया है । खानदेश में बलसने नामक स्थान पर लगभग नौ मन्दिरों का एक समूह है । इनमें से त्रिविध मन्दिर अम्बरनाथ मन्दिर से मिलता जुलता है । यह 65 फुट लम्बा तथा 50 फुट चौडा है । नासिक जिले में सिन्नर नामक स्थान में गौण्डेश्वर मदिर 125 फुट लम्बे तथा 65 फुट चौडे चौतरे पर बना है । यह पचायत प्रकार का मन्दिर है क्योंकि मुख्य मन्दिर के चारों ओर चार उप मन्दिर बने हैं। मुख्य प्रवेश द्वार के सामने एक नन्दि कक्ष बना है । सभा मण्डप 78 फुट लम्बा 67 फुट चौडा है। परन्तु भीतर का परिस्तम्भित कक्ष केवल 21 फुट वर्गाकार है । इसमें जाने के लिए तीन परिस्तम्भित बरामदे हैं । लक्ष्मी नारायण मन्दिर केवल 54 फुट लम्बा तथा 34 फुट चौडा है । परन्तु इसका वास्तु विन्यास सन्तुलित है ।

दक्षिण भारत के चोल मन्दिर—चोल नरेशों के काल में निर्मित प्रारम्भिक मन्दिर पुदुकोट्टई राज्य में हैं । तिरुकट्टलाई में सुन्दरेश्वर मन्दिर नर्तमलाई में विजयालय मन्दिर तथा कोदुमबेलूर में मुअरकोईल मन्दिर सम्भवत नवीं तथा दशवी शताब्दियों में बने थे । पुदुकोट्टई राज्य के अन्य मन्दिर

निम्नलिखित हैं मुचुकुण्डेश्वर मन्दिर कदम्बर मन्दिर बालसुब्रामण्य मन्दिर । इसी प्रकार के मन्दिर विशेष दक्षिण अर्काट तक पाये जाते हैं । यह सभी मन्दिर छोटे आकार के हैं । इनमें मन्दिर स्थापत्य की द्रविड शैली का प्रारम्भ पाया जाता है । इनमें से अधिकाश ग्रेनाइट पत्थर से निर्मित किये गये हैं । इन मन्दिरों में मामल्लपुरम के एकाश्मक रथों का प्रभाव पाया जाता है । इसके अतिरिक्त बादामी तथा पट्टडकल के चालुक्य मन्दिरों की शिखर की रचना का भी प्रभाव इनमें पाया जाता है ।

चोल स्थापत्य के प्रारम्भिक मन्दिरों में त्रिचिनोपलि जिले में श्रीनिवासनलुर नामक स्थान में निर्मित कोरगनाथ मन्दिर सर्वप्रथम उल्लेख्य है । यह सम्भवत चोल नरेश परान्तक प्रथम (907 949ई) के समय में निर्मित हुआ था । इसका यह नाम किवदन्ती के अनुसार इसलिए पडा कि पूर्ण होने पर इस मन्दिर को एक बन्दर (कोरगु) ने दूषित कर दिया था अतएव यह कोरगनाथ मन्दिर कहलाया । इसमें एक मणडप तथा एक विमान है । मण्डप 25x20 फुट का आयत तथा विमान 25 फुट वर्गाकार है कुल मन्दिर की लम्बाई 50 फुट है । शिखर की ऊचाई भी 50 फुट है । मण्डप का कगूर भूमि से 16 फुट ऊचा है । इसका गर्भगृह 12 फुट भूमि का है । इसके विमान की बाह्य दीवारों पर अनेक सुन्दर मूर्तिया बनी हुई हैं । दक्षिणी दीवार के केन्द्रीय भाग पर एक सुन्दर दृश्य है जिसमें काली अथवा दक्षिणा देवी के बाई ओर सरस्वती तथा दाई ओर लक्ष्मी अधोभाग में एक असुर तथा चारों ओर अनेक गण देवताओ की मूर्तिया बनी हैं ।

ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित तन्जौर तथा गगइकोण्डचोलपुरम के सुन्दर मन्दिर चोल कालीन द्रविड शैली का विकसित स्वरुप प्रस्तुत करते हैं । राजराज महान (985 1018ई) ने दक्षिणी स्थापत्य कला में एक शक्तिशाली प्रगति प्रारम्भ की । लगभग 1000 ई में उसने तन्जौर में शिवबृहदीश्वर का मन्दिर बनवाकर अपनी भौतिक शक्ति और सम्पति का स्थायी परिचय दिया । दक्षिण भारतीय स्थापत्य के इतिहास में युग प्रवर्तक यह मन्दिर भारतीय शिल्पियों द्वारा निर्मित अभी तक के सभी मन्दिरों में सबसे बडा तथा सबसे ऊचा है । इसे राजराजेश्वर मन्दिर भी कहते हैं । इसकी मुख्य सरचना 180 फुट लम्बी है जिसके उपर 190 फुट ऊचा विशाल पिरामिडीय शिखर निर्मिन हुआ है । तजौर मन्दिर वस्तुत कई सरचनाओं का समूह है । जिनमें नन्दी का मच परिस्तम्भित बरामदा तथा एक विशाल सभा मण्डप मुख्य हैं । परन्तु मन्दिर का सर्वश्रेष्ठ भाग शिखर है । इसका लम्बवत आधार 82 फुट भूमि घेरता है और 50 फुट उपर को उठता है । तत्पश्चात शिखर का पिरामिडीय शरीर उपर को उठती 13 ह्रासोन्मुखी मजिलों के पश्चात एक वर्गाकार चबूतरा बनाता है जिसके उपर बुर्जी तथा उसके उपर बल्बाकार डोम (गुम्बद) स्थापित किया गया है । बाह्य सतह पर शिखर के अधोभाग तथा ऊर्ध्वभाग पच्चीकारी से सजाया गया है । ऊर्ध्वगामी भित्ति स्तम्भों पर मौलिक एव आकर्षक तक्षण कला उच्च कोटि की है । आकार स्थायित्व एव अलकरण की दृष्टि से तजौर का यह मन्दिर सम्पूर्ण दक्षिण भारतीय मन्दिर समूह में सर्वश्रेष्ठ है (चित्र– 72)।

चोल नरेशों के शासन काल में निर्मित दूसरा प्रमुख मन्दिर है गगइकोण्डचोलपुरम् जो वृहदीश्वर मन्दिर की कला और ऐश्वर्य की स्पर्धा में निर्मित हुआ प्रतीत होता है । कुम्भकोनम नगर से लगभग 17 मील की दूरी पर स्थित गग्इकोण्डचोलपुरम् का यह मन्दिर अब जनशून्य स्थान मात्र है । चोल शासक राजेन्द्र प्रथम (1018 1033ई) ने अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा को व्यक्त करने की दृष्टि से गगइकोण्डचोलपुरम् नामक नवीन राजनगरी और इस विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया था ।
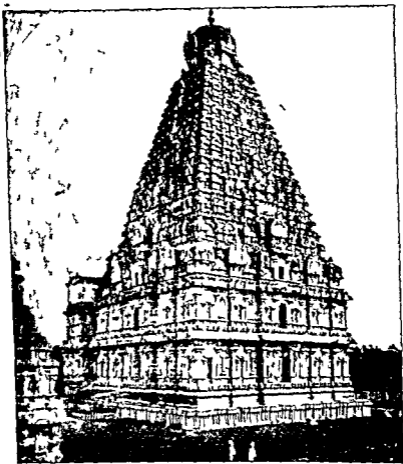
चित्र–72 तजौर का शिव बृहदीश्वर मन्दिर

1025 ई में निर्मित गगइकोण्डचोलपुरम् का मन्दिर उसी शैली का है जिसमें तजौर का मन्दिर है परन्तु इसकी आयोजना अधिक विस्तृत होते हुये भी इस विमान की ऊचीई उससे कम ही है भूमि से इसका विमान 150 फुट ऊचा है । चारों ओर से एक प्राकार है और पूर्व दिशा में मुख्य प्रवेश द्वार है । यह मुख्य प्रवेश द्वार हमें सभा मण्डप में पहुचाता है जो 175 फुट लम्बा और 95 फुट चौडा है । इस सभामण्डप में 150 स्तम्भ हैं। इस बहुस्तम्भी मण्डप से हम मध्यकालीन सहस्र स्तम्भी मण्डपों के विकास का सकेत पाते है। गगइकोण्डचोलपुरम् मन्दिर में स्तम्भावलियों की व्यवस्था विशिष्ट है । ये स्तम्भावलिया 4 फुट ऊचे एक ठोस अधिष्ठान पर खडी हैं । इस परिस्तम्भित मण्डप तथा गर्भगृह के बीच में एक अन्तराल है जिससे होकर उत्तरी और दक्षिण प्रवेश द्वारों तक भी पहुँचा जा सकता है । इस अन्तराल में आठ भारी स्तम्भ दो पक्तियों में स्थित हैं । अन्तराल के पीछे विमान के गर्भ में मन्दिर का हृदय बना है । इस मन्दिर में बहुत कम अलकरण है । पूर्वी प्रवेश द्वार पर विस्तृत अलकरण व सुन्दर सरचना के प्रयास दृष्टिगोचर होते है परन्तु अधूरे है । गगइकोण्डचोलपुरम् का विमान अत्यन्त प्रभावशाली है । योजना में यह 100 फुट वर्गाकार जगह घेरता है। इसके तीन मुख्य अग है ऊर्ध्ववत् प्रथम तल हासोन्मुखी चौडाई का शरीर तथा गुम्बदीय शीर्ष । इसका पिरामिडीय शरीर आठ मजिलों में उपर उठता है । तजौर के चोल विमान तथा गगइकोण्डचोलपरम के विमान की वर्गाकार जगती की बाह्य सतह पर प्रभूत शिल्पकौशल उपलब्ध है । उदाहरणार्थ शिव नटराज की प्रतिमा दक्षिण पश्चिमी कोण पर गणेश मूर्ति दक्षिण दिशा में ज्वालायुक्त लिगम में शिव पश्चिम में तथा चण्डी-केश अमहमूर्ति उत्तरी दिशा में पर्याप्त आकर्षक है। रिक्त स्थानों में सुन्दर अप्सरायें गणदेवता तथा यक्षों की मूर्तिया बनी हैं।

दक्षिणी भारत के पाण्ड्य मन्दिर — चोल कालीन दक्षिणी मदिर स्थापत्य की परपरायें पाण्ड्य नरेशों के समय में भी बनी रही। परन्तु पाण्ड्य काल के स्थापत्य की कुछ अपनी विशेषताओं का भी विकास हुआ जो चोल मन्दिरों में अनुपब्ध हैं। इस काल में मन्दिरों के चारों ओर ऊची दीवारों (प्राकारम्) और विशाल आकार के प्रशस्त प्रवेश द्वारों (गोपुरम्) का निर्माण हुआ। इन प्राकारम एव गोपुरम के कारण मन्दिरों की सरचनाओं ने राजमहलों तथा किलो का रूप ले लिया। मन्दिर के चहु ओर अनेक प्राकार बने हैं और मन्दिर के प्रागण में एक ऊचे तोरण से होकर पहुँचा जाता है यह दीवारें उपयोगता की दृष्टि से तथा सुरक्षा की दृष्टि से बनी हैं। इनका कला पक्ष नगण्य है। परन्तु तोरणों की स्थापत्य कला उच्च कोटि की है। यह इतने प्रभावशाली और लोकप्रिय हैं कि इनके कारण इस काल के दक्षिणी मन्दिर गोपुरम कहलाते हैं। 'गोपुर' का अत्यन्त प्रारम्भिक उदाहरण पट्टडकल के विरुपाक्ष मन्दिर में तथा काजीवरम् के कैलाशनाथ मन्दिर के प्रवेशद्वार में विद्यमान हैं। परन्तु गोपुर के सुन्दर विकसित उदाहरण बारहवीं व तेरहवीं शताब्दियों में निर्मित हुए हैं। सक्षेप में गोपुरम के निम्नलिखित लक्षण हैं। गोपुर की सरचना की योजना गजपृष्ठाकार होती हैं इसका विमान (शिखर) पतला होता हुआ ऊमर उठता है ,यह कभी कभी डेढ सौ फुट तक ऊचा होता है। इस भवन की लम्बाई की ओर मध्यभाग में एक आयाताकार प्रवेशद्वार या तोरण (गोपुरम) होता है । परन्तु ऊपरी शरीर ईंटों तथा प्लास्टर से बनाया गया है। यह ऊपरी भाग घटती हुई मजिलों में निर्मित हुआ है और इस प्रकार पिरामिडीय हो गया है ।

इस पिरामिडीय शरीर के ऊपर एक चपटी छत बनती है जिसके किनारे गोल होते हैं । दक्षिणी

मन्दिरों की यह विशिष्ट छत इनकी विशेषता है उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दक्षिणी मन्दिरों के दो मुख्य प्रकार है —विमान और गोपुर । विमान का रचना विन्यास वर्गाकार होता है परन्तु शीर्ष पर एक वृत्ताकार बुर्जी होती है । गोपुर का रचना विन्यास गजपृष्ठ की भांति होता है जिसके ऊपर ढोलाकार छत होती है । निश्चय ही दोनों प्रकार बौद्ध स्थापत्य से विकसित हुये हैं । बौद्ध विहार स्थापत्य और बौद्ध मन्दिर स्थापत्य से क्रमश दक्षिणी विमान स्थापत्य और गोपुरम स्थापत्य का विकास हुआ ।

पाण्डय गोपुरम के स्तम्भों की शैली में कुछ नवीन विकास दृष्टिगोचर होता है इन स्तम्भों के इड्इ बाडिगइ तथा पलगई नामक अग उल्लेख्य हैं । इड्इ से तात्पर्य है पुष्पाकार या पुष्परूप जो यूनानी डोरिक शैली के स्तम्भों के इकिनस की तरह का होता है । बाडिगइ स्तम्भ के शीर्ष के कोष्ठक के ऊपर लटकन वाला बाहर का निकला हुआ भाग (कदलिका कॉर्बेल) है । पलगइ से तात्पर्य स्तम्भ के तख्ते (फलक एबेकस) से है जो असाधारण अनुपात विन्यास का है । यद्यपि कुछ स्तम्भों में पलगइ केवल 2 इंच मोटा है परन्तु उसका व्यास 4 1/2 फुट तक है । त्रिचिनोपली में जम्बुकेश्वर का मन्दिर (1200 ई) एक प्रारम्भिक पाण्डय गोपुर है । अधिक विकसित गोपुर के उदाहरण हैं सुन्दर पाण्डय गोपुर (1250 ई) चिदम्बरम के मन्दिर का पूर्वी तोरण, तिरूमन्नई (तिरूवन्नमलई) के मन्दिर के आन्तरिक प्राकारम का पूर्वी गोपुरम तथा कुम्भकोनम के बृहत मन्दिर का एक गोपुरम ।

उपर्युक्त सूची में चिदम्बरम का गोपुरम सर्वाधिक सुन्दर है । इसमें उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार यह पाण्डय राजा सुन्दर द्वारा तरहवीं शताब्दी के मध्य में निर्मित हुआ था । योजना में यह गोपुरम 90x60 फुट आयताकार है । इस पर निर्मित ऊपरी सरचना की दोनों मजिलें 35 फुट ऊंची है । परन्तु सम्पूर्ण मन्दिर की (सात मंजिलों की) छत सहित ऊंचाई 135 फुट है । मन्दिर की बाह्य सतह पर विमान युक्त परिस्तम्भित ताखों तथा मण्डपों (पिलर्ड निचेज एव पेविलियन) की पक्तियों का अलकरण उल्लेखनीय है । अधिकाश पाण्डय गोपुरम इसी प्रकार के हैं । यह ध्यातव्य है कि पाण्ड्य युग के स्थापत्य के प्रमुख उदाहरण स्मारकीय गोपुरम ही हैं । परन्तु एक उदाहरण पाण्डय कालीन पूर्ण मन्दिर का भी अवशिष्ट है । यह दरसुरम (जिला तजौर) स्थित ऐरावतेश्वर का मन्दिर है । इस मन्दिर की योजना और रचना ऊपर वर्णित चोल मन्दिरों की सी है । परन्तु इसके स्तम्भों का स्थापत्य पाण्ड्य विधि का है । पल्लव काल के मन्दिरों के स्तम्भों के आधार पर व्याघ्र मूर्ति हम देख चुके हैं । यह स्थापत्य कौशल ऐरावतेश्वर के अलकारमण्डप के स्तम्भों में भी उपलब्ध है ।

परवर्ती चालुक्य होयसल मन्दिर—हिन्दू मन्दिर स्थापत्य के उपर्युक्त विवेचन में सामान्य रूप से दो शैलियों का स्पष्टीकरण हुआ है—उत्तरी अथवा नागर शैली तथा दक्षिणी अथवा द्राविड शैली । परन्तु दूसरी सहस्राब्दि की प्रारम्भिक शताब्दियों में दक्कन प्रदेश में विशेष रूप से मैसूर राज्य में परवर्ती चालुक्य एव होयसल राजवशों के शासन काल में एक विशिष्ट स्थापत्य का विकास हुआ । यह स्थापत्य मन्दिर वास्तु की मध्य शैली (माध्यमिक शैली) अथवा चालुक्य शैली के नाम से विदित है । दक्कन मैसूर की चालुक्य होयसल काल की इस मन्दिर शैली को वास्तुशास्त्रों की वेसर शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है । पिछले अध्याय में कहा गया है कि नागर द्राविड एव वेसर हिन्दू मन्दिरों के तीन प्रकार हैं । इनमें से नागर प्राचीनतम है तत्पश्चात द्राविड का विकास हुआ वेसर शैली उक्त दोनों शैलियों के बाद की है इसमें नागर व द्राविड तत्वों का समावेश हुआ है । परवर्ती चालुक्य होयसल मन्दिरों में उत्तरी तथा दक्षिणी मन्दिर शैलियों का प्रभाव पाया जाता है अत यह वेसर अथवा

मध्यस्थ शैली है ।

चालुक्य स्थापत्य शैली का विकास छठी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी तक क्रमबद्ध रूप से होता रहा । हम उपर देख चुके हैं कि प्रारम्भिक चालुक्य स्थापत्य शैली का विकास धाखाड में तीन स्थानों में हुआ । यह स्थान हैं अयहोल बादामी तथा पट्टडकल । चालुक्य स्थापत्य के इन उदगम स्थलों में सातवी आठवीं शताब्दियों में ही उत्तरी एव दक्षिणी प्रकार के मन्दिरों की रचना हो चुकी थी । इसी परम्परा से आगे चलकर परवर्ती चालुक्य एव होयसल राजाओं के समय में चालुक्य शैली अथवा मध्यस्थ (वेसर) शैली का विकास हुआ । प्रारम्भिक चालुक्य स्थापत्य और परवर्ती चालुक्य स्थापत्य में कुछ अन्तर है । धाखाड की नगरत्रयी के स्थापत्य में विशाल शिलाखण्डों का प्रयोग हुआ है । यह बालुकाश्म के खण्ड हैं जिनको सुघटय कला द्वारा प्रभावशाली बनाया गया है । परवर्ती चालुक्य होयसल स्थापत्य में नीले काले रग के क्लोराइट प्रस्तर के छोटे छोटे खण्डों को तराश कर प्रयुक्त किया गया है । इस प्रकार के प्रस्तर में पच्चीकारी सरलता पूर्वक होती है और यह पच्चीकारी इन परवर्ती मन्दिरों की एक मुख्य विशेषता है । यद्यपि चालुक्य शैली को उत्तरी दक्षिणी शैली का मिश्रण माना जाता है तथापि इसमें दक्षिणी द्राविड शैली का अधिक प्रबल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । यह स्वाभाविक है क्योंकि मैसूर के चारों ओर द्राविड सस्कृति और परम्परायें विद्यमान रही हैं । इन मन्दिरों का क्षेत्र मैसूर तक ही सीमित है ।

उपर्युक्त के अतिरिक्त चालुक्य शैली के मन्दिरों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं । साधारणतया इनकी योजना वैसी ही है जैसी की देश के अधिकाश मन्दिरों की है अर्थात् एक प्राकार के अन्दर एक केन्द्रीय सरचना उसके इर्द गिर्द की दीवारों पर कक्षावली व उनके सामने परिस्तम्भित बरामदा । केन्द्रीय सरचना के अन्तर्गत एक गर्भगृह उसके साथ सटा हुआ एक अन्तराल जो नवरग (परिस्तम्भित मण्डप) से सम्बन्धित रहता है । अनेक मन्दिरों में इस नवरग के सामने एक खुला परिस्तम्भित मण्डप होता है जो मुखमण्डप कहलाता है । परन्तु वास्तविक रचना में चालुक्य-होयसल मन्दिर अन्य मन्दिरों से विशिष्ट हैं । इनमें से अधिकाश मन्दिर एक गर्भगृह और एक मण्डप वाले न होकर इन मन्दिर सरचनाओं के समूह हैं —उनमें प्रत्येक अग के दो या तीन या कभी कभी चार प्रतियां बनी हैं । इनके गर्भगृह वर्गाकार या वृत्ताकार नहीं वरन् तारे की तरह बहुकोणी या अष्टभद्र प्रकार के हैं। इस प्रकार के गर्भगृह के निर्माण में ज्यामितिक वर्गों और कोणों का प्रयोग हुआ है । चालुक्य-होयसल मन्दिरों की सरचना एक ऊचे अधिष्ठान पर निर्मित होती है, यह अधिष्ठान आयताकार न होकर उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार की योजना गर्भगृह की होती है और मुख्य मन्दिर अथवा विमान की आवश्यकता से बहुत अधिक बडा होता है ताकि जो स्थान चारों ओर रह जाता है वह प्रदक्षिणापथ का काम देता है । इन मन्दिरों के भीतर प्रदक्षिणापथ नहीं होता है ।

इन मन्दिरों की सरचना में तिरछेपन का आभास होता है कुछ बडे मन्दिरों में ऊपरी सरचना या शिखर नहीं है अत ऐसे मन्दिरों में सरचना की लम्बाई में बने अग और उनका स्थापत्य सचय ही प्रभावशाली लगता है । विमान तथा परिस्तम्भित मण्डप के अधिष्ठान ऊर्ध्वाकार हैं दोनों सरचनाओं को उपरी भाग में एक चौडे कगूरे द्वारा मिला दिया गया है । इस ऊर्ध्वाकार शरीर पर चारों ओर सजीव मूर्ति कला निर्मित की गई है । पहली पक्ति हाथियों की है उसके उपर दूसरी पक्ति अश्वारोहियों की है उसके उपर लता-पत्रवल्ली व कीर्तिमुख हैं । तदुपरान्त दर्शक की आखों के सामने एक फुट से कुछ

कम चौडी पक्ति में महाकाव्य महाभारत के कथानकों के दृश्य बने हैं । इस पक्ति के ऊपर लता सहित यालियों या दरियाई घोडों (हिप्पोपोटामस की तरह के पशु) की कतार है । सबसे ऊपरी पक्ति में हसों की कतार है । यह मूर्तिकला होयसलेश्वर मन्दिर (हलाबिद मैसूर) की बाह्य सतह पर उपलब्ध है ।

इन मन्दिरों के परिस्तम्भित कक्ष की दीवार पर दो ऊर्ध्वाकार प्रदेश होते हैं । परन्तु विमान की ऊर्ध्वगामिनी दीवार पर तीन अलकृत प्रदेश होते हैं जिनकी कला उच्चतर श्रेणी की होती है । विमान की रचना में भी भूमि की अष्टभद्र प्रणाली अपनाई गई है । विमान ऊपर को कम चौडा होता हुआ अन्त में एक छत्राकार छनवाना हो जाता है । विमान पर खडी तथा पडी पक्तियों के अलकरणात्मक उपकरण के लिए लघु विमानों एवं ताखों का क्लिष्ट सचय किया गया है । चालुक्य होयसल मन्दिरों में प्रयुक्त स्तम्भ भी विशिष्ट शैली के हैं । इनके दण्ड एकाश्मक हैं । उनके खण्ड गोलाकार और आधार वर्गाकार हैं । स्तम्भ दण्ड का निचला आधा भाग घण्टाकार है ।शीर्ष पर उत्कीर्ण कोष्ठक हैं । सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परवर्ती चालुक्य व होयसल मन्दिर द्राविड शैली के होते हुये भी होयसल शिल्पियों के हाथों से विशिष्ट कोटि के हो गये हैं । इन मन्दिरों पर इतनी प्रशस्त तक्षण कला उपलब्ध है कि उन्हें तक्षकों का स्थापत्य कहा गया है । परन्तु यह भी सत्य है कि इस प्रशस्त तक्षण कला द्वारा शिल्पियों ने हिन्दू देव शास्त्रों और पुराकथाओं को प्रस्तर खण्डों पर लिपिबद्ध कर दिया है । शिल्पियों ने न केवल अलकरण के लिए, अपितु प्रमुख रूप से धार्मिक विषयों के प्रसार के लिए, कथाकार की भाति वर्णनात्मक कला को अपनाया है ।

चालुक्य-होयसल स्थापत्य के लगभग 100 उदाहरण मैसूर राज्य में उपलब्ध हैं । इस शैली की बडी सरचनाएं अधूरी हैं उनमें शिखर तथा छत की सरचना अनुपलब्ध है । यह सम्भव है कि ये भाग गिर कर नष्ट हो गये हैं । परन्तु चालुक्य शैली के मन्दिरों के लघुतर उदाहरण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है । इन उदाहरणों में दोदा गद्दवली में लक्ष्मी देवी मन्दिर नाग मगल में केशव मन्दिर कोरमगल में बुचेश्वर मन्दिर अर्सिकेरे में ईश्वर मन्दिर हरिहर में हरिहर मन्दिर हर्नहल्ली में केशव मन्दिर नुग्गिहल्ली में लक्ष्मी नरसिंह मन्दिर तथा सोमनाथ पुर में केशव मन्दिर उल्लेखनीय है ।

उपर्युक्त में सर्वाधिक विशिष्ट और शैली का पूर्ण प्रतिनिधि सोमनाथपुर में केशव मन्दिर है जो सेरिंगापटम से कोई 20 मील दूर पर स्थित है । यह एक मन्दिर त्रय का उदाहरण है जिसे त्रिकूटचल कहते हैं । 215 फुट लम्बी और 177 फुट चौडी दीवार से घिरी आयताकार भूमि के केन्द्र में स्थित यह मन्दिर चालुक्य शैली का विकसित उदाहरण है । इस मन्दिर के चहु ओर 64 कमरे हैं और प्रत्येक के सामने एक स्तम्भ है । मन्दिर त्रयी क कारण इसकी योजना क्रूसाकार है जिसकी अधिकतम लम्बाई 87 फुट और चौडाई 83 फुट है । पूर्व दिशा में प्रवेश द्वार है । इसके तीन अष्टभद्र शिखर 30 फुट ऊचे हैं । मन्दिर की सरचना एक ऊचे अधिष्ठान पर बनी है और इस पर मन्दिर के चारों ओर 7 फुट चौडा प्रदक्षिणा पथ है । बीच में मुख्य मण्डप है । बाहरी दीवारें और शिखर सुन्दर शिल्प से परिपूर्ण है । 41 फुट लम्बा 30 फुट चौडा एक कक्ष है जा नवरग तथा मुखमण्डप दोनों है । नवरग में चार स्तम्भ और मुखमण्डप में 12 स्तम्भ हैं । अन्दर की तानों दीवारों के अन्तराल में होकर गर्भगृह तक पहुँचने के रास्ते हैं । मैसूर के हसन जिले में बेलूर नामक स्थान में 12 वीं शताब्दी में निर्मित अनेक मन्दिरों का एक समूह एक दीवार के अन्दर विद्यमान है । इस समूह में केशव मन्दिर मुख्य मन्दिर है जिसका अधिष्ठान 178 फुट लम्बा तथा 156 फुट चौडा है । इसमें भी एक परिस्तम्भित मण्डप और एक

अष्टभद्र विमान है । ये दोनों एक अन्तराल द्वारा जुडे हैं । इस मन्दिर का नवरग 92x78 फुट है और इसके स्तम्भों की सख्या 64 है । केन्द्र के चार स्तम्भों को छोडकर अन्य सभी स्तम्भ एक दूसरे से भिन्न प्रकार के हैं । प्रत्येक स्तम्भ की मौलिकता आश्चर्यजनक है ।

चालुक्य–होयसल स्थापत्य की पराकाष्ठा का प्रतिनिधि हसन जिले में हलाबिद में होयसलेश्वर मन्दिर है । यद्यपि इसकी उपरी सरचना (शिखर) निराशाजनक है क्योंकि इसमें शिखर है ही नहीं एक विलक्षण छत है तथापि भारतीय स्थापत्य के इतिहास में यह एक आश्चर्यजनक मन्दिर है(चित्र –73) । होयसलेश्वर मन्दिर होयसल नरेशों की प्रसिद्ध राजधानी द्वारसमुद्र की चारदीवारी के भीतर एक प्रमुख सरचना थी । द्वार समुद्र अब एक वीरान स्थान है मैसूर से लगभग 50 मील पश्चिमोत्तर को । यह मन्दिर 12 वीं शताब्दी के मध्य में निर्मित हुआ था । एक अभिलेख के अनुसार होयसल नरेश नरसिंहल (1141 1182 ई) के शासन के सार्वजनिक निर्माण विभाग के प्रमुख पदाधिकारी केटमल्ल की देखरेख में केदराज नामक स्थपति द्वारा यह मन्दिर आयोजित और निर्मित हुआ था ।

होयसलेश्वर मन्दिर वस्तुत मन्दिर द्वय का उदाहरण है इसमें दो विशाल मन्दिर हैं जो एक दूसरे से जुडे हुये हैं । प्रत्येक मन्दिर 112 फुट लम्बा और 100 फुट चौडा है । परन्तु दोनों मन्दिर उनके नन्दि मण्डपों सहित 200 वर्गफुट भूमि के अधिकाश भाग पर विस्तृत हैं । दोनों मन्दिरों की योजना क्रूसाकार (क्रूसीफॉर्म) है और दोनों एक विशाल जगती पर निर्मित है इस जगती के कोण मन्दिरों के कोणों के अनूकूल हैं । दोनों मन्दिरों में एक गर्भगृह और एक परिस्तम्भित कक्ष है दोनों के सामने परिस्तम्भित नन्दि मण्डप बने हैं ।

दक्षिणी मन्दिर के पूर्वी प्रवेश द्वार के सामने का नन्दि मण्डप अधिक बडा है । दोनों मन्दिरों की बाहर से ऊचाई लगभग 25 फुट है । गर्भगृह की अष्टभद्र योजना है अत इसकी दीवारों में तीक्ष्ण कोण है । सम्पूर्ण मन्दिर के चारों ओर ऊचाई में कई पक्तियों में विविध तक्षण कला द्वारा मन्दिर को पूर्णत्व प्रदान किया गया है ।

परवर्ती चालुक्य नरेश कला प्रेमी और उत्कृष्ट मन्दिरों के निर्माता थे । उत्तरी मैसूर में ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक बहुसख्या में ऐसे मन्दिरों का निर्माण इन्होंने किया जो प्राचीन चालुक्य स्थापत्य (अयहोल बादामी व पट्टकल) और परवर्ती चालुक्य व होयसल स्थापत्य के बीच की शैली में हैं । इस प्रकार के मन्दिरों की रचना शैली उपर वर्णित चालुक्य–होयसल मन्दिरों की शैली से भिन्न है । दम्बल स्थित दोद्दाबासप्पा मन्दिर के अतिरिक्त अन्य सभी मन्दिर होयसल मन्दिरों की भाति अष्टभद्र योजना के नही है । गडग स्थित सरस्वती मन्दिर के अतिरिक्त अन्य मन्दिरों में गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणापथ भी नहीं है । सामान्य रूप से इन मन्दिरों का मुख्य प्रवेश द्वार मन्दिर के सामने न होकर एक ओर को बनाया गया है । इन मन्दिरों के प्रवेश द्वार विशेष शिल्पयुक्त हैं । इस शैली के प्रारम्भिक मन्दिर गडग रेल स्टेशन के निकट कुक्कनुर ग्राम में हैं । यहाँ पर नवलिंग और कल्लेश्वर मन्दिर उल्लेख्य हैं । नवलिंग में 9 कक्ष हैं जो तीन परिस्तम्भित कक्षों के चारों ओर बने हैं । प्रत्येक कक्ष के ऊपर शिखर है । यह शिखर पट्टडक्ल के शिखरों से समानता रखते हैं । कल्लेश्वर मन्दिर में एक गर्भगृह ,एक अन्तराल स्तम्भचतुष्टय शैली का एक मण्डप तथा सामने एक नन्दिमण्डप है । सभी एक पक्ति में हैं । यह सतुलित मन्दिर 67 फुट लम्बा 37 फुट चौडा तथा 37 फुट ऊचा है ।
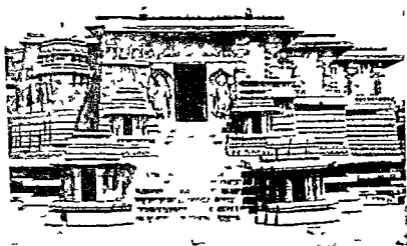
चित्र–73 हलाविद के होयसलश्वर मन्दिर का प्रवेश

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में निर्मित मुक्तश्वर मन्दिर धारवाड जिले की पूर्वी सीमा पर तुगभद्रा नदी के तीर पर स्थित है । यह मन्दिर 80 फुट लम्बा है और इसका शिखर 55 फुट ऊचा है । पूर्व की ओर इसमें एक खुला बरामदा है जिसके सामने प्रवेश द्वार है परन्तु मन्दिर के दोनों ओर दो प्रवेश मण्डप भी हैं । शिखर की बाह्य सतह पर प्रभूत शिल्प सचय इस मन्दिर की विशेषता है ।

मुक्तेश्वर की श्रेणी के तीन अन्य सुन्दर मन्दिर हैं लक्कुण्डी में काशी विश्वेश्वर मन्दिर इट्टगी में महादेव मन्दिर तथा कुरूवनी में मल्लिकार्जुन मन्दिर । काशी विश्वेश्वर की रचना 1193 ई में हुई थी जब लक्कुण्डी होयसलों की राजधानी बनी थी । इसके दोनों छोरों पर दा शिखर हैं । यह मन्दिर – द्वय का एक उदाहरण है । इसकी वास्तु योजना चार विभिन्न प्रकार की वर्गाकार कक्षों की है और इसकी कुल लम्बाई 100 फुट है । चौडाई में यह 37 फुट है । मन्दिर के शिखर का उपरी भाग नष्ट हो गया है । मुख्य प्रवश द्वार दक्षिण को है जो नवरग में पहुचाता है । इस 20 वर्ग फुट नवरग के मध्य में 4 स्तम्भ हैं और चहुआर 8 अद्धस्वतत्र भित्ति स्तम्भ हैं । इस मन्दिर के प्रवेश द्वार विकसित स्थापत्य के जीवित उदाहरण हैं । लक्कुण्डी में नानेश्वर मन्दिर काशी विश्वेश्वर का ही लघु रूप है । गडग स 22 मील दूर इट्टगी में महादेव मन्दिर 12 वीं शताब्दी का है । यह 120x60 फुट है । इसकी रचना में बहुस्तम्भी शैली अपनाई गयी है । इसके मुख्य कक्ष में विशाल परिमाप के 68 स्तम्भ थे । मल्लिकार्जुन मन्दिर 38x36 फुट लगभग वर्गाकार है इसका शिखर 44 फुट ऊचा है । इसके पूर्व में एक विशाल नन्दिमण्डप है जिसे मिलाकर सम्पूर्ण मन्दिर की लम्बाई 130 फुट है । इसके अन्तराल में प्रवेश पाने के लिए एक तारण बना है जो अत्यन्त कलापूर्ण है । गडग में त्रिकूटेश्वर सरस्वती तथा सोमेश्वर नामक मन्दिर इसी शैला क हैं । परन्तु दम्बल स्थित दोद्दा बासप्पा मन्दिर (12वीं शताब्दी) अपनी मौलिकता के लिए विख्यात है । योजना में इसक गर्भगृह और नवरग तारे की आकृति के हैं । गर्भगृह का तारा 19 कोणों वाला है । और परिस्तम्भित कक्ष का तारा 21 कोणों वाला है । ऊर्ध्वाकार विमान की सतह पर भी इन्हीं कोणों के अनुकूल कोण है जो मन्दिर का आकर्षक बनात हैं । इनक अतिरिक्त परवर्ती चालुक्य मन्दिरों के उदाहरण मैसूर के निम्न स्थानों में हैं हावेरी हगल, बकपुर निरलूगी हरहल्ली गल्गनाथ, हरिहर रथिहल्ली बेलगाम्वे उन्कल देगाम्बे, बेलगाँम, बेगई मगला नीलगुण्ड आदि ।

अध्याय 11

सल्तनत एवं मुगलयुगीन स्थापत्य

12 वीं शताब्दी का अन्तिम दशक भारत के मध्ययुगीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण दशक है । इसी दशक में मुहम्मद गोरी तथा तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के मध्य हुये तराइन के द्वितीय युद्ध में तुर्कों की विजय ने नये युग का सूत्रपात किया । 1192 ई से 1236 ई तक की अवधि में बगाल सहित सम्पूर्ण उत्तरी भारत को दिल्ली सल्तनत के अधीन करने में मुस्लिम शासकों को सफलता मिली । अरबों की सिन्ध विजय (712 ई) तथा 870 ई में काबुल विजय का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पडा । ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में होने वाले महमूद गजनी के अनेक आक्रमणों ने भारतीयों को सर्वप्रथम मुस्लिम विचारों के प्रभाव का आभास कराया ।

सल्तनत वास्तु का नामकरण एव उसकी उत्पत्ति– दिल्ली के पाँच मुस्लिम राजवशों के शासनकाल में भारत में विकसित होने वाले भवनों को सम्मिलित रूप से सल्तनत वास्तु का नाम दिया जाता है । इस काल में निर्मित होने वाले भवनों का आकार प्रकार तथा रचना शैली विशिष्ट प्रकार की है। धार्मिक एव धर्मनिर्पेक्ष भवनों के बाह्य स्वरूप में तथा पूर्वगामी भारतीय वास्तु में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है । इस काल में इस्लाम धर्म के अनुयायियों की आवश्यकता के अनुसार मस्जिदों तथा मकबरों का निर्माण व्यापक रूप से किया गया । पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात के अस्सी वर्ष (632-712 ई) के भीतर ही उनके अनुयायियों ने अरेबिया फारस सीरिया पश्चिमी तुर्किस्तान सिन्ध मिश्र उत्तरी अफ्रीका तथा दक्षिणी स्पेन पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था । फारस सीरिया तथा मिश्र में भर्ती की गई विशाल सेना में एशियाई कलाकार भी होते थे । इन कलाकारों ने सर्वत्र एशियाई कला का प्रसार करने के साथ ही स्थानीय कला के रूपों में अपने धर्म की आवश्यकता के अनुकूल सशोधन किये । अरब जिनके पास अपनी नाममात्र की कला थी ('द अरबस आलदो पजसिंग लिटल ऑर्ट ऑव दियर ओन) [1] स्थानीय शैली का मुस्लिम उद्देश्यों के लिए उपयोग करने के साथ ही उसमें एकरूपता की सामान्य विशेषता लाने में सफल रहे । इसे ही अब मुस्लिम कला के रूप में जाना जाता है । भारत में मुस्लिम सता की स्थापना के साथ ही कला के क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन हुए । इस काल में वास्तुकला के क्षेत्र में मुसलमानों के साथ आई अनेक वैज्ञानिक एव तकनीकी पद्धतियों का प्रयोग किया गया ।

भारतीय वास्तुकार शताब्दियों स भवन सरचना के सिद्धान्तों एवं शैली में बिना परिवर्तन एव सशोधन के वास्तु के विस्तार में सलग्न था । मध्यकाल में इस्लाम धर्म के अनुयायियों द्वारा राजनैतिक सत्ता हस्तगत करने के पश्चात इस स्थिति में परिवर्तन आया । वे अपने साथ न केवल नया मिश्रित रक्त लेकर आये वरन विभिन्न देशों से प्राप्त किया गया कलात्मक अनुभव नवीनता तथा नूतन

1 स्मिथ, अ हिस्ट्री आव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन,(पुनर्मुद्रित 1969) पृ 152

सिद्धान्त भी लाये । इस प्रकार इस्लामी शासन काल में जो वास्तु कला विकसित हुई वह मुस्लिम (सारसेनिक आर्ट) कला नाम से जानी गई। किन्तु इस नामकरण का अब परित्याग कर दिया गया है । नये प्रकार के भवनों का निर्माण मुसलमानों के वर्ग विशेष (सारसेन्स) के कृतित्व का परिणाम नहीं था । वस्तुत नवीन भवनों को इस्लाम धर्म के भारत में व्यक्त प्रकट रूप में देखना चाहिए । पर्सी ब्राउन ने इसका इण्डो–इस्लामिक [2] (भारतीय इस्लामी) नामकरण उपयुक्त माना है । विंसेन्ट स्मिथ ने इसे इण्डो मुहम्मडन आर्ट (भारतीय–मुस्लिम कला) कहा है। मुसलमानों द्वारा 12 वीं शताब्दी तक अपनी धार्मिक एव सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ विशिष्ट वास्तु रूपों एव परम्पराओं का विकास कर लिया गया था । वास्तु विकास की इस प्रक्रिया में उन्होंने बिजैंटाइन, फारसी तथा पूर्व की विशेषत बौद्ध कलात्मक एव तकनीकी अनुभव का खुलकर उपयोग किया । इस प्रकार यह नवीन कला किसी धार्मिक वर्ग विशेष के प्रयत्नों मात्र का प्रतिफल न होकर एक ऐसी मिश्रित कला थी जिसके विशिष्ट बाह्य रूपों की कल्पना निश्चित ही अभारतीय मूल की थी । किन्तु मस्जिदों, मकबरों मीनारों आदि के भारत में निर्माण की प्रक्रिया में तुर्कों के साथ आये मिले–जुले कला विषयक ज्ञान और अनुभव के अतिरिक्त भारतीय कलाकारों का उल्लेखनीय योगदान था ।

भारत में सल्तनत वास्तु का प्रारम्भ स्थूलत 1200 ई से माना जा सकता है । भारत में इस नवीन वास्तु के प्राचीनतम स्मारकों को कुतुबुद्दीन ऐबक तथा इल्तुतमिश के शासन काल में रखा जाता है । इस काल की प्रमुख इमारतों में अजमेर की मस्जिद दिल्ली की कुतुब मस्जिद तथा मीनार एव बदायू की मुख्य मस्जिद और इल्तुतमिश का मकबरा उल्लेखनीय हैं ।

भारतीय इस्लामी वास्तु का स्वरूप—सल्तनत युगीन वास्तु कला के नामकरण को लेकर भले ही मतान्तर हो किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मुस्लिम शासन की स्थापना के साथ ही कला के क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन हुये । फर्ग्युसन[3] ने लिखा है, भारत में इन पठानों के स्थापत्य सम्बन्धी कार्यों के प्रारम्भ से अधिक तेजोमय तथा साथ ही साथ विलक्षण अन्य कोई चीज नहीं हो सकती थी ...वे सैनिकों की जाति के थे और केवल युद्ध के लिए सुसज्जित होकर आय थे इसलिए अपने साथ वे न कलाकारों को लाये और न शिल्पियों को किन्तु तूरानी नस्ल की अन्य जातियों की भाति उनमें सुदृढ स्थापत्य प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं उनकी अपनी एक शैली थी इसलिए उनकी कोई स्थापत्य योजना विफल नहीं हुई । इसके अतिरिक्त अपनी नयी प्रजा में उन्हें अगणित ऐसे शिल्पी मिल गये जो उनकी किसी भी प्ररचना को कार्यान्वित करने में समर्थ थे ।

मुसलमानों के भारत आगमन के पश्चात उनके द्वारा सरक्षित तथा प्रेरित भवनों की आकृति परम्परागत भारतीय वास्तु सरचनाओं से नितान्त भिन्न थी । नोकीली छतों तथा शिखराकार (पॉइन्टेड रूफ एण्ड स्पाइरल) हिन्दू तत्वों के स्थान पर गुम्बद का प्रयोग होने लगा । सामान्यत यह कहा जा सकता है कि पिरामिडीय आकार से अण्डाकार (ओवॉइड) की ओर भवनों का रूप परिवर्तन इस काल की वास्तुकला की एक अन्य विशेषता थी । रहस्यात्मक मन्दिरों का स्थान मस्जिदों ने ले लिया । मस्जिद में खुला आगन होने के साथ ही इसके अनेक द्वार भवन के खुलेपन का आभास देते हैं जबकि

2. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड) छठा सस्करण 1975 पृ० 2

3 एस आर शर्मा द्वारा भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास पृ० 161 में उद्धृत ।

मन्दिर में पवित्र एव अधेरे कक्ष (देवायतन) का पर्याप्त महत्व है । भारतीय वास्तुकला में भवन की छतों को तिरछी धरनों (बीम्स) द्वारा पाटा जाता था । इसे ट्राबिएट शैली कहा जा सकता है । इसके विपरीत मुस्लिम भवनों में रिक्त स्थानों को भरने के लिए तथा छत को आधार प्रदान करने हेतु मेहराबों का प्रयोग किया जाता था । इसे आर्क्यूएट शैली कहा जाता है । इसके साथ ही मेहराबों के निर्माण में व्यापक रूप से गारे का प्रयोग किया जाने लगा । इन भवनों में महराब का व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है । पर्सी ब्राउन के विचार में कुछ मुस्लिम मेहराबों को प्राचीन बौद्ध चैत्यों के सूर्यद्वार अथवा गवाक्ष वातायन की वश परम्परा में रखा जाना चाहिए । कुतुब मस्जिद (दिल्ली) में सर्वप्रथम इस विशिष्ट मेहराब का प्रयोग किया गया है । सर्प–बेल अभिप्राय भी उक्त मेहराब में प्रयुक्त हुआ है । सक्षेप में इस काल के भवनों की साज सज्जा पर भारत का प्रभाव देखा जा सकता है ।

मस्जिद, मकबरा, मीनार तथा मेहराब — भारतीय मुस्लिम वास्तु कला में पर्याप्त परिष्करण दिखाई देता है । काहिरा (मिस्र) बगदाद (ईराक) दमिश्क (सीरिया) तथा कोर्डोवा (स्पेन) में पहले ही अनेक भवनों का निर्माण हो चुका था । यही कारण है कि मुस्लिम शासन काल में अधिक विकसित भवनों का निर्माण हो सका । वस्तुत स्थापत्य सौन्दर्य का एक प्रमुख कारण हिन्दू कलाकारों का तदविषयक ज्ञान एव दीर्घकालिक अनुभव ही था । शताब्दियों तक भारतीय स्थपतियों ने मन्दिरों के निर्माण से प्रस्तर वास्तु के क्षेत्र में जो दक्षता एव अनुभव प्राप्त किया उसका उपयोग भवनों के निर्माण में किया गया । भारतीय स्थपतियों ने वैज्ञानिक एव कलात्मक वास्तु के विकास में अपने ज्ञान का भरपूर उपयोग किया । भारत में सुघटित प्रस्तरखण्डों द्वारा मुस्लिम शासन के काल में भवनों का निर्माण एक महत्त्वपूर्ण घटना है । अन्य देशों में प्राय कुछ को छोडकर ईंट प्लास्टर तथा अनगढ पत्थरों से ही अधिकाश मुस्लिम भवनों का निर्माण किया है । भारतीय मुस्लिम वास्तु को दो स्थूल भागों में बाटा जा सकता है —(1) धार्मिक भवन जिसमें मस्जिद मकबरे आदि सम्मिलित हैं तथा (2) धर्मनिरपेक्ष भवन जिसमें आवासीय भवन नगर द्वार दुर्ग–प्रासाद आदि का परिगणन किया जा सकता है ।

मस्जिद शब्द का शाब्दिक अर्थ है साष्टाग प्रार्थना स्थल (द प्लेस ऑव प्रॉस्ट्रेशन) । यह न केवल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भवन है वरन् इसे सम्पूर्ण शैली का मूल स्वर अथवा मूल् सिद्धान्त कहा जा सकता है । पर्सी ब्राउन के विचार में मूलत मस्जिद का विकास मदीना में पैगम्बर मुहम्मद साहेब के कुछ साधारण से आवास गृह से ही हुआ । मस्जिद में आयताकार खुला आगन (सहन) होता है जिसके चतुर्दिक परिस्तम्भित बरामदा होता है । इसके केन्द्र में फव्वारा या जलकुण्ड होता है जिसका उपयोग हाथ पैर धोने (अॅब्लूशन) के लिए किया जाता है । प्रक्षालन के उक्त कृत्य के महत्त्व को देखते हुए ही उसे आधा धर्म तथा प्रार्थना की कुञ्जी कहा गया है । भारत में मस्जिदों के पश्चिमी (मक्का की ओर) बरामदों का अधिक विकास करके उन्हें स्तम्भ युक्त कक्ष में बदल दिया गया है । इसके पीछे की दीवार में मेहराब बना होता है जा प्रार्थना के समय दिशा निर्देशन की ओर इगित करता है (किब्ला) । मेहराब की दाई ओर एक मच बना होता है । मुअज्जिन द्वारा लोगों का प्रार्थना के लिए आह्वान करने के निमित्त एक ऊँचे चबूतरे का निर्माण भी मस्जिद में किया जाता है । यही ऊचा स्थल प्राय मीनार का रूप ले लेता है । लगभग प्रत्येक बडे नगर में जामा मस्जिद निर्मित होती है । जामा मस्जिद (अल मस्जिदुल जामी शाब्दिक अर्थ है एकत्रित होने की मस्जिद) सम्बोधन उस एकत्रित होने की अथवा मुख्य मस्जिद के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें शुक्रवार की प्रार्थना (जुमा की नमाज) के लिए

धर्मानुयायी जमा होते हैं।

मकबरा अथवा समाधि (फ्यूनररी बिल्डिंग) का निर्माण भारतीय इस्लामी वास्तु का अन्य महत्वपूर्ण पक्ष था। प्रारभ में इस प्रकार के स्मारकों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा होने के कारण इसका विकास मन्थर गति से हुआ। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि जो आन्दोलन किसी भी प्रकार की स्मारकीय कला का समर्थक नहीं था उसकी अन्तत परिणति श्रेष्ठतम मक्बरों की श्रेणी के उदाहरणों के निर्माण में हुयी। मात्र फराओ के पिरामिड तथा लघु एशिया के हेलिकारनेसस में राजा मसोलियस की स्मृति में निर्मित मक्बरे जैसे कुछ ही स्मारक हैं जो आकार एव वास्तुगत वैभव में भारतीय मक्बरों स आगे हैं। मकबरों (फ्यूनररी बिल्डिंग) अथवा भव्य स्मारकों का निर्माण सुल्तान अथवा सामन्त अथवा सन्तों के अवशेषों पर ही होता था। कब्रिस्तान (टोम्ब) में प्राय एक कक्ष ही होता है जिसकी छत गुम्बद के रूप में होती है। सन्तों के महत्त्वपूर्ण मक्बरों को दरगाह (कोर्ट) कहा जाता है। मकबरे में गुम्बद के नीचे का कक्ष हुजराह कहलाता है। इस भवन के नीचे धरती में तहखाना होता है। जिसके केन्द्र में कब्र होती थी। गुम्बदीय कक्ष की पश्चिमी दीवार पर प्राय मेहराब बना होता है। कुछ बडे मकबरों के साथ अलग को एक ही प्रागण में मस्जिद भी निर्मित होती है। सल्तनत कालीन मकबरे अपेक्षया सादे हैं किन्तु मुगलकाल में भव्य मकबरे निर्मित किये गये।

मीनार को सल्तनत कालीन वास्तु का एक अन्य उल्लेखनीय अग कहा जा सकता है। माजिना नामक ऊँचा चबूतरा विशाल गुम्बदीय प्रार्थना कक्ष का एक आवश्यक अग था। इसी उन्नत चबूतरे से प्रतिदिन पाँच बार प्रार्थना के लिए मुसलमानों का आह्वान किया जाता था। यह ऊँचा चबूतरा ही मीनार का रूप ले लेता है। इस उद्देश्य के लिए ऊची मीनार का विचार मुस्लिम इतिहास में बहुत पहले ही विकसित कर लिया गया था। कुतुब मस्जिद से जुडी कुतुब मीनार भारत की ही नहीं वरन विश्व की अपने ढग की अनोखी वास्तु रचना है। लगभग इसी समय स्पेन का महत्वाकाक्षी मुस्लिम शासक यूसिफ प्रथम स्पेन के सलविले नामक स्थान में कुतुब से भी ऊँची मीनार के निर्माण में सलग्न था। वस्तुत कुतुब मीनार को विजय ध्वज के समान इस्लामी प्रभाव की अनेक पूर्वी सीमाओं में से एक का प्रतीक कहा जा सकता है। इसके पूर्व आठवीं नवीं शताब्दी में ईराक के समर्रा में सीरिया क रक्काह में तथा काहिरा के इब्न तुलुन में मीनारों का निर्माण हो चुका था। पूर्व की ओर अपने विकास के चार सौ वर्षों में मीनार ने गोल धारीदार (फ्लूटेड) तथा तारे की आकृति जैसे अनेक रुप धारण किये।

मेहराब के उल्लेख क बिना मध्यकालीन भारतीय— इस्लामी वास्तु का अध्ययन अपूर्ण ही कहा जायेगा। मस्जिद एव मक्बरे सरीखे धार्मिक भवनों से लेकर आगरा फतहपुर सीकरी तथा दिल्ली में निर्मित दुर्ग प्रासादों तथा आवासीय भवनों में सर्वत्र मेहराबों का आवश्यक रुप से निर्माण किया गया है। मुस्लिम भवनों में रिक्त स्थानों को भरने के लिए तथा छत को आधार प्रदान करने हेतु मेहराबों का प्रयोग किया जाता था। कुछ प्रारंभिक मुस्लिम भवनों में प्रयुक्त मेहराबों को प्राचीन बौद्ध चैत्यों के गवाक्ष वातायन की परम्परा में रखा जाता है। कुतुब मस्जिद में सर्वप्रथम इस विशिष्ट मेहराब का प्रयोग किया गया है। दिल्ली तथा भारत के विभिन्न स्थलों में सल्तनत युग में निर्मित मेहराब सादे हैं। धीरे धीरे उनका और अधिक विकास हुआ। मुगलकाल में शाहजहाँ के समय विभिन्न प्रकार के सुन्दर मेहराबों का निर्माण किया गया।

शाही वास्तु के प्रारंभिक स्मारक— मुस्लिम वास्तु को तीन खण्डों में रखा जा सकता है दिल्ली
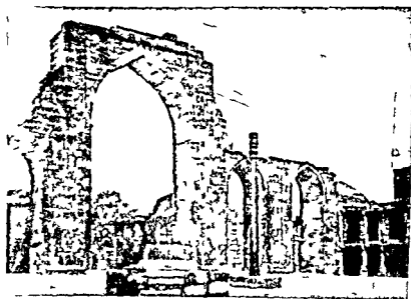
चित्र-74 दिल्ली की कुतुब मस्जिद

अथवा शाही वास्तु प्रान्तीय वास्तु तथा मुगल वास्तु । प्रथम कोटि की कला को प्राय पठान वास्तु नाम से भी जाना जाता है । यद्यपि सल्तनत कालीन वास्तु के निर्माता तुर्की अरब एव खिलजी उत्पत्ति के थे। 12वी शती के मध्य तक शाही अथवा पठान वास्तु का युग माना जाता है । इसके पश्चात मुगलवास्तु का युग प्रारभ हुआ । प्रान्तीय वास्तु शैली का विकास उन प्रान्तों में हुआ जिन्होंने दिल्ली की अधिसत्ता से अपने को स्वतत्र कर लिया था । 1400 ई में दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता को तैमूर के आक्रमणों से प्रबल आघात पहुँचा । इन प्रान्तों में वहाँ के शासकों ने अपने आदर्शों के अनुकूल वास्तु कला का विकास किया ।तीनों मुस्लिम वास्तु शैलियों में मुगल शैली सर्वाधिक विकसित थी। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात दिल्ली को राजधानी बनाया गया । कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1195 ई में कुतुब मस्जिद का निर्माण कराया (चित्र-74) । सामान्यत यह विश्वास किया जाता है कि उक्त मस्जिद सुल्तान कुतुबुद्दीन के नाम पर ही कुतुब मस्जिद कहलायी । विंसेन्ट स्मिथ के अनुसार इसका निर्माण कार्य 1198 ई में उस समय पूर्ण हुआ जब कुतुबुद्दीन एबक गजनी के सुल्तान के अधीन दिल्ली तथा भारतीय क्षेत्रों का गवर्नर था । किन्तु वास्तव में इसका यह नाम उश (बगदाद के निकट) के सन्त कुतुबुद्दीन के नाम पर पडा जिन्हें पास में ही दफ़न किया गया था । यह पूर्णत मदिरों के मलबे से बनाई गई थी अत वास्तु की दृष्टि से विशिष्ट नही । किन्तु 1199 ई में इस मस्जिद के पश्चिमी छोर पर मेहराब युक्त जाली का निमार्ण किया गया जिसे भारत में निर्मित इस्लामी वास्तु कला का प्रथम नमूना माना जा सकता है। उक्त मस्जिद को कुव्वतुल इस्लाम भी कहा जाता है ।

मामलुक भवनों में सर्वाधिक उल्लेखनीय कुतुबमीनार नामक वास्तु रचना है । यह स्मारक कुतुब मस्जिद के काल में ही रखा जाता है । मूलत यह 238 फुट ऊँची थी । इसके निर्माण में कई वर्षों का समय लगा । यह सुल्तान इल्तुतमिश के काल में बन कर तैयार हुई । मीनार अपनी आरभिक याजना में चार मजिलों वाली ह्रासोन्मुखी (टेपरिंग) इमारत थी । प्रत्येक मजिल में छज्जे बने हुए हैं । किन्तु चौथी मजिल में खिडकी युक्त गोलाकार छतरी (किओस्क) बनी थी । उसके उपर गुम्बदीय छत थी । कालान्तर में किये गये सुधारों के परिणामस्वरुप इसमें एक मजिल और जोडी गयी जिससे इसकी ऊँचाई बढ गयी । मीनार की योजना गोलाकार है । आधार में उक्त मीनार का व्यास 46 फुट है । शीर्ष में घट कर यह चौडाई 10 फुट रह जाती है । इसके चारों चरणों में से प्रत्येक खण्ड की अलग बनावट है । 12 वी शती में निर्मित अफगानिस्तान की तीन मजिली लगभग 60 मीटर ऊँची जाम मीनार में गियासुद्दीन मुहम्मद बिन साम (1163 1202ई) का नाम अकित है । इस मीनार को कूफी तथा नस्ख लिपियों से सजाया गया है । सौन्दर्य एव वैभव की दृष्टि से यह मीनार कुतुब मीनार की अपेक्षा कम आकर्षक है । कुतुब मीनार ईस्लाम की शक्ति एव प्रतिष्ठा का प्रतिनिधि स्मारक है । वह वास्तुकला की एक आश्चर्यजनक एव अनूठी कृति है ।

लगभग एक ही दशक में निर्मित होने वाले प्रारभिक भवनों में अजमेर की अढाई दिन का झोपडा नामक मस्जिद की गणना की जा सकती है । उक्त तीन भवन 1195 1205 ई क बीच इस्लामी वास्तु के प्रारभ का प्रतिनिधित्व करते हैं । कुतुब मीनार की भाति ही अजमेर की इस मस्जिद के निर्माण में सुघटित प्रस्तर खण्डों का प्रयोग किया गया है । आस पास के मन्दिरों के मलबे ने भवन निर्माण की सामग्री की समस्या का आसान समाधान प्रस्तुत किया । सम्भवत अढाई दिन तक चलने वाले मले के स्थल पर भवन का निर्माण होने से ही इसका नाम पडा । इसमें अत्यन्त सुन्दर स्तभों का

प्रयोग किया गया है। छत की ऊँचाई 20 फुट है । दो या तीन स्तम्भों को जोडकर एक स्तम्भ बनाया गया है । इल्तुतमिश के शासनकाल में इसमें कुछ सुधार किया गया । पर्सी ब्राउन के अनुसार इस मस्जिद का निर्माण लगभग 1200 ई में प्रारम्भ हुआ । अजमेर का अढ़ाई दिन का झोपड़ा दिल्ली की कुतुब मस्जिद से दुगने से भी अधिक बड़े क्षेत्र में विस्तृत है ।

गुलामवंशी कुछ अन्य भवन—ऐबक के पश्चात मामलुक सुल्तानों के क्रम में इल्तुतमिश महान निर्माता था जिसने अनेक भवन बनवाये । उसके शासन काल की चार महत्वपूर्ण वास्तु रचनाओं का उल्लेख मिलता है (1) अजमेर की मस्जिद के आमुख(फैकेड) का निर्माण(2) दिल्ली की कुतुब मस्जिद का भव्य विस्तार (3)सुल्तान के पुत्र नासिरुद्दीन माहम्मद के मकबरे का 1231 ई में निर्माण तथा (4) स्वयं सुल्तान इल्तुतमिश का मकबरा ।

अजमेर की मस्जिद का आमुख 13वीं शताब्दी की सुन्दर कलाकृति है । यद्यपि सजावट के तरीके से ऐसा प्रतीत होता है कि अजमेर के कलाकार ने दिल्ली के विपरीत धार्मिक नियंत्रण की सीमाओं में काम किया । नासिरुद्दीन माहम्मद का मकबरा भारत में निर्मित प्रथम मकबरा है (चित्र-75) । इसे सुल्तान घडी (सुल्तान आव द केव) नाम से जाना जाता है । इस प्रथम मकबरे के सम्बन्ध में पर्सी ब्राउन ने लिखा है भारतीय वास्तुकला में एक ऐसे भवन प्रकार का प्रादुर्भाव हुआ जो अभी तक रूप एवं लक्ष्य दोनों ही दृष्टियों से अज्ञात था । सम्भवत भूमि के गर्भ में बने कक्ष में स्मारक होने के कारण इसको स्थानीय लोग सुल्तानघडी नाम से जानते है । शमशुद्दीन इल्तुतमिश का मकबरा भी पुराना दिल्ली में ही बना हुआ है । नासिरुद्दीन का मकबरा भारत का प्रथम मकबरा होने के साथ ही अपनी आकृति एवं योजना में भी अनूठा है । दासवंश के शासनकाल में निर्मित भवनों ने इस्लामी वास्तु का भारत में विकास किया । बदायूं में भी तीन वास्तु रचनाएँ इस काल की हैं—हौजे शम्शी शम्शी ईदगाह तथा जामा मस्जिद । तीनों के नाम स्वयं इंगित करते है कि इनका निर्माण शमशुद्दीन इल्तुतमिश के काल में हुआ । मूलत 1223 ई में निर्मित जामा मस्जिद महत्वपूर्ण इमारत है । इस भवन में समय-समय पर संशोधन एवं परिवर्धन होता रहा । यह विस्तृत भवन सामने से 288 फुट चौडा है । तुगलक शासक मोहम्मद तथा मुगल शासक अकबर के काल में इसमें मरम्मत का कार्य किया गया । इस युग का एक अन्य स्मारक नागौर में अतरकिन का दरवाजा है । इसका अलंकरण अजमेर की उक्त मस्जिद की जाली के अलंकरण से मेल खाता है ।

बयाना के उखा मन्दिर का वास्तुगत सम्बन्ध इल्तुतमिश के शासन काल से था । वहाँ के नोकीले मेहराब दिल्ली की कुतुब मस्जिद की शैली में निर्मित किये गये हैं । यहाँ मंदिर की सामग्री से इल्तुतमिश के काल में मस्जिद बनाई गयी थी जिसे कालान्तर में उसके मौलिक रूप में बदल दिया गया ।[4] निःसन्देह गुलाम वंश के शासक इल्तुतमिश का मकबरा तत्कालीन मुस्लिम वास्तु की सर्वाधिक विकसित अवस्था का द्योतक है ।

गुलामवंश का अन्य उल्लेखनीय स्मारक बलबन का मकबरा है । यह किला-ई-राय पिथौरा के द पूर्व में स्थित है । यह स्मारक भग्न अवस्था में है । इसमें मेहराब का मौलिक विकास देखा जा

4 पर्सी ब्राउन, पूर्वोक्त पृ 14
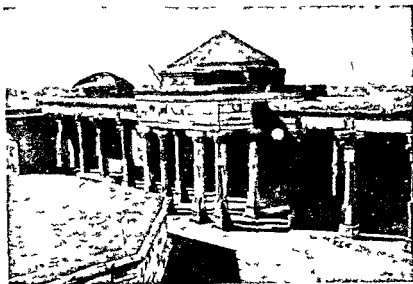
सकता है। इसके बाद 13 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में खलजी वश के उदय से पुन वास्तुकला के विकास सम्बन्धी प्रक्रिया को गति मिली ।

खलजी वश के काल म वास्तु कला—मामलुक अथवा गुलामवश के पश्चात दिल्ली में गजनी के निकट खलजी ग्राम के अफगानी तुर्क वश की सत्ता स्थापित हुई । खलजी वश के प्रतापी सुल्तान अलाउद्दीन खलजी ने दिल्ली में एक विशाल मस्जिद (जिसकी परिधि में पूर्ववर्ती सुल्तानों द्वारा निर्मित मस्जिदें समा जाएँ) तथा मीनार के निर्माण की योजना बनाई थी । किन्तु यह महत्त्वाकाक्षी योजना उसके शासन काल में (1296 1316 ई) पूरी नही हो सकी । उसके शासन काल के भवनों के अवशिष्ट रूप से वास्तुगत विकास तथा नवीनताओं का अनुमान लगाया जा सकता है । उसके काल की इमारतों में अलाई दरवाजा हौजखास हौज अलाई सीरी का किला एव हजार सितून महल की गणना की जा सकती है । अलाई दरवाजा नि सन्देह भवन निर्माण कला के क्षेत्र में अधिक प्रगति का सूचक है । आकृति तक्नीक मेहराब निर्माण के क्षेत्र में अन्वेषण गुम्बद निर्माण की प्रणाली तथा सजावट आदि की दृष्टि से यह स्मारक कला के दीर्घकालिक अभ्यास की ओर सकेत करता है । पर्सी ब्राउन की धारणा में खलजी वश के शासन काल की वास्तुकला पर पश्चिमी एशिया की सलजुक कला का प्रभाव प्रतीत होता है । मगोल आक्रमण से सलजुक साम्राज्य को क्षति पहुँची परिणामत वहाँ से भागे हुये कलाकारों ने भारत में शरण ली । खलजी वश के शासन काल में भारत प्रवेश के पश्चात इन कला तत्वों ने समकालिक वास्तु कला पर अपना प्रभाव रख छोडा । अलाई दरवाजा के मेहराबों की नवीनता में यह प्रभाव स्पष्ट झलकता है । इस प्रकार का अश्व पादीय मेहराब खलजी भवनों के बाद नही दिखाई दता । मेहराब की अलकरण पद्धति भी स्पष्टत सलजुक भवनों की याद दिलाती है । दिल्ली में अलाउद्दीन के काल में निर्मित अन्य इमारतों में तत्कालीन प्रसिद्ध मुस्लिम सन्त निजामुद्दीन औलिया को दरगाह के पास जमातखाना मस्जिद है । शेष भवन नष्ट प्राय हैं । चित्तौड में गम्भीरी नदी पर विख्यात दुर्ग के नीच एक पुल उसके काल में बनाया गया । यह भी अब भग्नावस्था में है ।

वास्तुकला का तुगलक कालीन स्वरूप—भवन निर्माण कला में तीन तुगलक वशी सुलतानों की विशेष रुचि थी — गियासुद्दीन तुगलक मोहम्मद तुगलक तथा फीरोज तुगलक । तुगलक वश के शासन काल में (1320 1413 ई) अनेक इमारतें बनी एव नगर बसाये गये । दिल्ली के चतुर्दिक फिरोजाबाद नगर जौनपुर तथा इनसे पूर्व दौलताबाद (देवगिरि) नगर इसी काल में बसाये गये । गियासुद्दीन तुगलक ने तुगलकाबाद नामक राजधानी का निर्माण करवाया जो अब खण्डहर के रूप में शेष है । इस नगर की दीवारों स जुडा हुआ गियासुद्दीन का मकबरा है । इब्न बतूता के अनुसार तुगलकाबाद नगर में सुल्तान ने महल बनवाया जो सोने ी इटों का था जो दिन में मूर्य की किरणों से इतना चमकता था कि उस पर कोई भी ज्यादा देर तक नहीं देख सकता था । मोहम्मद तुगलक के शासन काल में वास्तुकला की कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हुई । उसक उत्तराधिकारी फीरोज तुगलक (1351 88 ई) के काल में पर्याप्त निर्माण कार्य हुआ । फतूहात-ई-फीराज शाह (इलियट जिल्द 3 पृष्ठ 382) में वह कहता है कि ईश्वर ने जो भेंट मुझे दी है उनमें से ईश्वर के विनम्र दास द्वारा सार्वजनिक भवनों का निर्माण करने की ईच्छा भी एक है । उसने जिन भवनों का निर्माण कराया उन पर अपनी छाप रख छोडी है। राजधानी परिवर्तन से उत्पन्न कुशल कारीगरों की कमी एव मोहम्मद तुगलक की योजनाओं के कारण राजकोष की कमी से फीरोज के काल की वास्तुकला प्रभावित हुई ।

परिणामत अत्यन्त सादे एव मितव्ययी भवनों का निर्माण हुआ । यमुना के किनारे फीरोजाबाद नगर के अतिरिक्त जौनपुर, फतहबाद, हिसार नगर उसने बसाये । फीरोजाबाद नगर आजकल फिरोजशाह कोटला कहलाता है । इस्लामी सता के अधीन भारत में दुर्गप्रासाद के निर्माण का विचार फीरोज तुगलक के काल में प्रारम्भ हुआ । इसकी पराकाष्ठा आगरा इलाहाबाद एव दिल्ली के मुगल प्रासादों में दो सौ वर्ष बाद देखी जा सकती है । तुगलक वश के शासन के अन्तिम वर्षों में निर्मित एक अन्य इमारत झासी से 40 मील उत्तर में आइरिच की जामा मस्जिद है । यह सय्यद और तुगलक के मध्य सक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करती है ।

सय्यद एव लादी युगीन भवन — 14 वीं शताब्दी के अन्त में तैमूर के आक्रमण के पश्चात दिल्ली की सता लगभग नाममात्र की रह गयी । सय्यद (1414 51) एव लोदी (1451 1526) वश के शासन काल में भी अनेक इमारतें बनी । इस काल में वस्तुत न कोई दुर्ग प्रासाद नगर दुर्ग महत्वपूर्ण मकबरा राजधानी आदि बन और न ही कोई सार्वजनिक भवन निर्मित हुए । इस काल के निर्माताओं ने मक्बरों के निर्माण में अधिक रुचि दिखाई । दिल्ली की केन्द्रीय स्थिति के कारण वहाँ अधिकाश मकबरे बनाये गये । मकबरों की दो भिन्न योजनाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं — अष्टभुजी योजना के मकबरे जो एक मजिले हैं तथा वर्गाकार योजना वाले मकबर जो बिना बरामद वाले तथा कभी-कभी तीन मजिले हैं । 15 वीं शताब्दी में बने शीश गुम्बद को द्वितीय प्रकार की योजना के अन्तर्गत निर्मित भवन का उदाहरण माना जाता है । दोनों प्रकारों में गुम्बद बने हुये है । तीन अष्टभुजी योजना के महत्वपूर्ण मकबरों का निर्माण इस काल में किया गया । सामन्तों तथा उच्च पदाधिकारियों के मकबरे वर्गाकार योजना के हैं । अष्टभुजी मकबरे की योजना सर्वप्रथम फीरोज तुगलक के काल मे बने खाने जहाँ तिलगानी के मकबरे में दिखाई देती है (1368 9) । लगभग दो सौ वर्षों तक यह योजना अपनाई गयी । सय्यद तथा लोदी युग में इस पद्धति का विकास हुआ । सूरी वंश के काल में यह पद्धति अपने चरमोत्कर्ष पर तथा आदम खा के काल में समापन की अवस्था में प्राप्त होती है । मुबारक सय्यद मुहम्मद सय्यद तथा सिकन्दर लोदी का मकबरा— यह तीन उल्लेखनाय भवन हैं लोदी के मकबरे में दोहरा गुम्बद प्रभावशाली है । वर्गाकार योजना वाले अनेक मकबरे दिल्ली में बने जैसे बड़ा खा का गुम्बद छोटा खा का गुम्बद बडा गुम्बद शीश गुम्बद शिहाबुद्दीन ताज खा का मकबरा पोली का गुम्बद तथा दादी का गुम्बद ।

प्रान्तीय वास्तु — 14 वीं शती के अन्त में दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता के नियत्रण से अनेक प्रान्तों के महत्वाकाक्षी गवर्नरों ने अपने को अलग कर लिया । इन नव स्थापित स्वतत्र राज्यों में बनारस से चालीस मील दूर जौनपुर की शर्की सल्तनत सर्वाधिक उल्लेखनीय है । इसके अतिरिक्त मालवा गुजरात बगाल कश्मीर तथा दक्षिण में गोलकुण्डा (आन्ध्रप्रदेश) तथा बीजापुर (कर्नाटक) में मध्यकालीन वास्तुकला का सुन्दर विकास हुआ । जौनपुर के शर्की सुल्तानों के अधीन बनी मस्जिदों में हिन्दू तथा मुस्लिम वास्तु का सम्मिश्रण हुआ है । यहाँ की अटाला मस्जिद सर्वाधिक उल्लेखनीय वास्तु सरचना है । गुजरात कश्मीर तथा बगाल में स्थानीय शैलियों का प्रभाव सबसे अधिक देखने को मिलता है । मालवा जौनपुर तथा दक्षिण ने या तो विदेशी शैलियों को अपना लिया था जैसे बीदर (कर्नाटक) में फारसी अथवा केवल दिल्ली की इस्लामी शैली का ही अनुकरण किया जैसे माण्डू (म प्रदेश) में । प्रान्तों में निर्मित होने वाले भवन भी हिन्दू वास्तु के सौन्दर्य ओज तथा लालित्य से अछूते
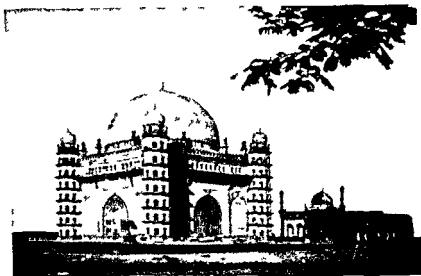
चित्र–76 गोल गुम्बज मुहम्मद आदिलशाह का मकबरा (1660 ई०)

न रह सके । इस सम्बन्ध में वस्तु स्थिति को स्पष्ट करने वाला हैवेल का यह कथन उल्लेखनीय है कि मुस्लिम गुजरात की राजधानी अहमदाबाद का निर्माण राजपूताना के राजशिल्पिया ने किया था गौड मुसलमान सुल्तानों का एक नया लखनौती था काशी जौनपुर की जननी थी धार माण्डू की माता थी विजयनगर के राजाओं के शिल्पियों ने बीजापुर के मुसलमानों की राजधानी का निर्माण किया ।

गौड की वास्तुकला की अपनी स्थानीय विशेषताएँ थी । वहाँ की छोटा सोना मस्जिद को गौड रत्न कहा गया है । मालवा की राजधानी माण्डू के भवन मुस्लिम शैली के हैं । गुजरात में हिन्दू, जैन तथा मुस्लिम शैलियों का विचित्र मिश्रण हुआ है । ढोल्का में हिलालखा काजी की मस्जिद की हिन्दू पिरामिडीय छत है । अहमदाबाद की सबसे सुन्दर वास्तु रचना महाफिज खा की मस्जिद है जिसमें हिन्दू प्रभाव दर्शनीय है । गुलबर्गा (कर्नाटक) की बन्द मस्जिद उल्लेखनीय है । हैदराबाद के निकट गोलकुण्डा में शाही मकबरे प्रभावशाली हैं । बीजापुर शैली दकिन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शैली है । यहाँ का गोल गुम्बज नामक विख्यात स्मारक बीजापुर के सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह (1636-60 ई) का मकबरा है (चित्र- 76) । यह विश्व की दूसरे नम्बर की सबसे बडी गुम्बज है । भीतर से यह 178 फुट ऊँचा है । चारों कोनों में चार अष्टभुजी तथा आठमजिली गुम्बद युक्त मीनारें बनी हैं । यह अपने ढग की उत्कृष्ट इमारत है ।

मुगल स्थापत्य—मुगल काल में उत्तरी भारत में मुस्लिम स्थापत्य कला का अभूतपूर्व विकास हुआ । प्राय मुगल शासक भवन निर्माण में रुचि रखते थे । वस्तुत दिल्ली के शाही अथवा पठान वास्तु में उभर रही हासोन्मुखी प्रवृत्ति में मुगलों के आगमन से नव जीवन का सचार हुआ । मुगल युग में अनेक भव्य इमारतें निर्मित हुयी जो मुगल बादशाहों की उत्कृष्ट अभिरुचि की परिचायक हैं । मुगल वश का सस्थापक बाबर एक निर्माता भी था । उसने अपने पाच वर्ष के तूफानी शासन काल में अनेक भवन बनवाये । मुगल शासन के प्रारभिक वर्षों में कोई महत्वपूर्ण कलाकृति निर्मित नहीं हो सकी क्योंकि मुगल बादशाह अपने शासन को अभी तक सुदृढ नही कर पाये थ । किन्तु उन्हें धीरे-धीरे भवन निर्माण की एक ऐसी स्व परिचायकी शैली का विकास करने में सफलता मिली जो भारत की एक प्रमुख वास्तु शैली बन गई ।

मुगल वास्तु शैली को हम क्षेत्रीय अथवा प्रान्तीय शैली नहीं कह सकते हैं । यह साम्राज्यिक आन्दोलन था जिस पर सीमित मात्रा में स्थानीय प्रभाव पडा । सम्पूर्ण साम्राज्य में निर्मित भवनों में लगभग समान प्रकार के वास्तुगत सिद्धान्त तथा एक रूपता दिखाई देती है । स्थापत्य कला के उत्कृष्ट विकास तथा लगभग दो सौ वर्ष तक उसके श्रेष्ठ स्तर को बनाये रखने में अनेक तत्वों का योगदान रहा। मुगलों की शक्ति तथा समृद्धि के अतिरिक्त सामान्यत उनके राज्य में स्थापित शाति एव व्यवस्था की गणना ऐसे तत्वों के अन्तर्गत की जा सकती है । नि सन्देह कला के व्यापक विकास के लिए मुगल सम्राटों की कलात्मक रुचि एव सौन्दर्य प्रेम को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव उत्तरदायी तत्त्व माना जाना चाहिए । इतिहास में ऐसे उदाहरण विरल ही होंगे जिसमें शासकों द्वारा अनवरत पाच पीढी तक किसी न किसी दृश्य कला के प्रति विशेष रुचि अभिव्यक्त की हो । मुगल कालीन सस्कृति सर्वत्र न केवल राज्य द्वारा प्रेरित एव प्रोत्साहित थी वरन पूर्णत उसी पर निर्भर भी थी । उदाहरणार्थ जहाँगीर तथा शाहजहाँ की रुचि तथा उनके द्वारा दिये गये राजकीय सरक्षण के परिणाम स्वरूप क्रमश उनके काल में चित्रशिल्प और स्थापत्य का उत्कृष्ट स्वरूप दिखाई देता है । किन्तु बादशाह औरगजेब के

विरोध एव क्लाओं क प्रति उपेक्षा ने विविध क्लाओं के ह्रास का मार्ग प्रशस्त कर दिया । बाबर स शाहजहाँ तक पाँच मुगल बादशाहों न मुगल कालीन स्थापत्य कला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया । स्थूलत मुगल वास्तु का दो चरणों में रखा जा सकता है—प्रारंभिक चरण जिसमें सम्राट अकबर के काल में भवना का निर्माण मुख्यत लाल बालुकाश्म (रड सैंड स्टान) से किया गया तथा उत्तरवर्ती चरण जिसमें शाहजहाँ की विलासमय रुचियों की पूर्ति के लिए श्वत सगमरमर का भवनों के निर्माण में अधिकाशत प्रयोग किया गया ।

मुगल राजवश द्वारा कलाओं का दिय गये उत्साही सतत तथा अनुबाधक (पर्मेप्सिव) सरक्षण का इतिहास में समानान्तर उदाहरण ढूढना एक व्यर्थ का प्रयास होगा । न्यूनाधिक मात्रा में कुछ हल्क उदाहरणों की तुलना की जा सकती है । क्रीट के मिनोवा युग में ताज द्वारा कलाओं का मिलन वाला समर्थन हो अथवा गुप्त शासकों द्वारा दिया गया प्रश्रय या इसी तरह के चीन और ब्रिटेन क उदाहरण हों इनमें से कहीं भी कलाकार तथा शासक क मध्य वैयक्तिक एव अन्तरग लगभग सहयोग जैस सम्बन्ध का मुगल बादशाहों द्वारा प्रस्तुत आदश नहीं मिलता । मुगल क्ला की श्रेष्ठता का यही रहस्य है ।

मुगल काल क प्रारंभिक भवन—यद्यपि मुगल वास्तु शैली न 16 वीं शती ई के द्वितीयार्द्ध में अकबर के काल तक ठोस रूप धारण नहीं किया था किन्तु उसके बीज बाबर तथा हुमायूँ द्वारा बाये जा चुक थे। कहा जाता है कि बाबर ने भवन निर्माण की अपनी योजनाओं के क्रियान्वयन के लिय कुस्तुन्तुनिया से विख्यात ऑटोमन स्थपति सिनान क शिष्यों को भारत में बुलाया था ।[5] किन्तु इस प्रकार की महत्वाकाक्षी योजना की सफलता सदिग्ध है। मुगलों द्वारा उस समय विदेशी स्थपति का नियुक्त किये जाने का काई प्रमाण नहीं है और न ही पश्चातकालीन मुगल भवनों से एसे किसी प्रभाव का आभास मिलता है । अपने सस्मरणों में बाबर ने लिखा है कि भवन निर्माण का पर्याप्त कार्य उसक आदेशों पर प्रारम्भ किया गया था । यह मुख्यत अलकृत उद्यानों तथा क्रीडा वनों (प्लीजेंस) के निर्माण से सम्बन्धित था । उसके द्वारा बनवायी गई दो मस्जिदें मिलती हैं —पानीपत की काबुलीबाग मस्जिद तथा सम्भल की जामा मस्जिद । दोनों ही भवनों का निर्माण 1526 ई में पूरा हो गया था । दोनों में से किसी में भी कोई वास्तुगत विशिष्टता नहीं है । आगरा के पुराने लोदी दुर्ग में सम्भवत अपने द्वारा बनवाई गयी एक अन्य मस्जिद के सम्बन्ध में वह अपनी शिकायत दर्ज करते हुए कहता है कि यह अच्छी नहीं बनी यह भारतीय शैली की है ।[6]

हुमायूँ शिल्प कला का प्रेमी था । किन्तु उसने किसी महत्वशाली इमारत का निर्माण नहीं करवाया । उसके द्वारा निर्मित करवाया गया दिल्ली का दीनपनाह नामक महल सुन्दरता एव दृढता की दृष्टि से अनुल्लेख्य ही था । यह भवन अस्तित्व में नहीं है । अफगान शासक शेरशाह को सत्ता हस्तगत करने में मिली सफलता ने हुमायूँ को 15 वर्ष तक देश निकाले की स्थिति में रहने के लिए बाध्य कर दिया । ऐसी मन स्थिति में भवन निर्माण के लिए उसे समय ही नहीं मिला । बाबर के समान ही उसके काल की भी दो मस्जिदें भग्नावस्था मे मिलती हैं —आगरा में तथा फतेहाबाद (हिसार) में । हुमायूँ क फारस प्रवास के कारण फारस की जिस समृद्ध वास्तु परम्परा का भारत में आगमन हुआ हुमायूँ क जीवन काल में उसका उद्घाटन नहीं हो सका । निश्चित ही इन प्रभावों

5 स्मिथ पूर्वोक्त, पृ० 158

6 पर्सी ब्राउन पूर्वोक्त पृ० 89

कीअभिव्यक्ति हुमायूँ के मकबरे में हुई जो प्रथम महत्त्वपूर्ण मुगल इमारत है ।

शेरशाह सूर कालीन वास्तु — 1539 ई में मुगल बादशाह हुमायूँ की शेरखाँ (शेरशाह सूर) के हाथ चौसा में पराजय एक महत्त्वपूर्ण घटना है । इससे मुगलों का नवोदित सूर्य कुछ समय के लिए घने बादलों से पूर्णत ढक गया । शेरशाह सूर का अल्प शासन काल वास्तु कला के इतिहास में विशिष्ट महत्त्व रखता है । उसे स्थापत्य के विकास के लिए कार्य करने का विशेष अवसर नही मिला । सूरवश के शासन काल में अनेक भवन बने । शेरशाह सूर कालीन भवनों के दो वर्ग हैं—1540 ई के पहले के प्रथम चरण में उसके पिता हसन खा तथा स्वय शेरशाह के भव्य मकबरों का सासाराम अथवा सहसराम (शाहाबाद जि बिहार) में निर्माण तथा द्वितीय चरण में (1540 ई के पश्चात जब वह बादशाह बना) पुराना किला तथा किला-इ-कुहना मस्जिद का निर्माण किया गया ।

शेरशाह का सहसराम स्थित मक्बरा इस युग का एक उत्कृष्ट भवन है । इसका निर्माण झील के मध्य एक ऊँचे चबूतर पर किया गया है । यह चबूतरा 30 फुट ऊचा है । उसके गुम्बद का व्यास 71 फुट है । पर्सी ब्राउन का कहना है कि यह भवन अनेक दृष्टियें स ताज से अधिक प्रभावशाली है । इसकी याजना तथा भव्यता दर्शनीय है । इस भवन का निर्माता स्थपति अलीवाल खा था । ताजमहल तथा उक्त मक्बरे में पर्याप्त समानता है । स्मिथ ने इसे सबसे अच्छी डिजाइन वाली भारत की सर्वाधिक सुन्दर इमारतों में से एक तथा प्रारभिक उत्तरी भवनों में वैभव तथा गरिमा (ग्रैन्डियर एण्ड डिगनिटी) की दृष्टि से अनुपम कहा है यह अष्टभुजी योजना का मकबरा है (चित्र—77) ।

1540 ई में हिन्दुस्तान का बादशाह बनने के उपरान्त शेरशाह ने पुराना किला नामक प्राचीर युक्त दुर्ग के (छठी दिल्ली) निर्माण की योजना बनायी थी । उसने 1542 ई में किला-इ-कुहना मस्जिद का निर्माण कराया था । यह 158x45 फुट लम्बी चौडी तथा 66 फुट ऊँची मस्जिद है । इसमें पाच प्रवेश द्वार हैं जिनकी मेहराब नोकीली हैं । फर्ग्यूसन ने इसे अपने ढग की पूर्ण इमारत कहा है ।

16 वीं शती के मध्य स्थापत्य कला में उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई देता है । कला ने फीरोज तुगलक के समय की रूढिवादिता एव पुरातनता के प्रभाव (प्यूरिटैनिकल इन्फल्यूयेन्स) के आवरण का त्याग करना प्रारम्भ कर दिया । लगभग दो सौ वर्ष तक इस सज्जा रहित सयमी कला का प्रभाव बना रहा । इसके परिणामस्वरूप भारतीय कलाकार अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के उपयोग से वचित रहा । शेरशाह ने अपने दिल्ली के लघु शासन के अन्तर्गत जिस स्थापत्य शैली का श्री गणेश किया वह उच्च कोटि की शैली तो थी ही इसके अतिरिक्त उसने कालान्तर की शैली को भी प्रभावित किया । शेरशाह और अकबर के कालों की स्थापत्य शैली के सम्बन्ध में फर्ग्यूसन ने लिखा है अकबर तथा शेरशाह के स्थापत्य के मध्य इतना कम अन्तर है कि दोनों को ऐसी एक ही शैली का मानना चाहिए जिसका प्रारम्भ सौम्यता एव लालित्य से होता है तथा समापन कुछ अनियत्रण की ओर अग्रसर अलकरण की प्रचुरता में होता है फिर भी बहुत सुन्दर है_

अकबर तथा अकबरेतर कालीन भवन — मुगल बादशाह अकबर के काल में सर्वाधिक भवनों का निर्माण किया गया । उसके काल में विभिन्न स्थानों पर भवनों का निर्माण हुआ था । इस काल की वास्तु रचनाओं में हिन्दू-मुस्लिम कला तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ है । मुगल सम्राट की उदारता के कारण यह समन्वय सम्भव हो सका । उसके काल में निर्मित वास्तु रचनाओं में हिन्दू प्रभाव भी दिखाई

चित्र-77 शेरशाह सूर का सहसराम का मकबरा

देता है । अकबर के काल की प्राचीनतम वास्तु रचना दिल्ली स्थित हुमायूँ का मकबरा है । इसका निर्माण सम्राट की सौतेली मा हाजी बेगम की निगरानी में फारस निवासी स्थपति मिरक मिर्जा गियास ने किया था । इस पर फारसी कला की छाप दिखाइ दती है । इसका निर्माण 1560 ई में किया गया। यह स्मारक भारत में उभरी हुई दुहरी गुम्बद का प्रथम नमूना ह । यह समरकन्द क तैमूर और बीबी खानम के मकबरों से मिलता है । हुमायूक मकबरे का मुख्य गुम्बद श्वेत मगमरमर का है शेष भवन लाल बालुकाश्म का बना है । अलकरण हतु भी सगमरमर का उपयोग किया गया है । हुमायूँ का मकबरा मुगल शैली का प्रथम भव्य मकबरा होन के साथ ही सगमरमर तथा लाल बालुकाश्म क मिल जुले प्रयाग से निर्मित प्रथम मुगल मकबरा भी है (चित्र- 78) । भारत में इस्लामी सत्ता की स्थापना के साथ ही मकबरों के निर्माण की परम्परा प्रगति करती है । मुगल युगीन मकबरे अपनी सजावट क लिए विख्यात हैं । मस्जिदा से यह अधिक कलात्मक है । मकबरे के चतुर्दिक दीवारा के भीतर उद्यान बनता था । इसमें एक या अधिक प्रवेश द्वार हाता था । मध्य में अष्टभुजी या वर्गाकार भवन बनता था जिसक शीर्ष पर गुम्बद होता था । कही-कहीं मकबरे की सुन्दरता में वृद्धि के लिए चारों ओर गुम्बद युक्त कक्षों का निर्माण होता था । इसके सामने चार मार्ग बनते थे जिनमें सगमरमर की नालियाँ बनती थी । सजावट के लिए कृत्रिम फव्वारे तथा पेड पोधों को लगाया जाता था । निर्माता की मृत्यु के पूर्व इसका प्रयोग मनोरजन शाला के रूप में होता था किन्तु मृत्यु के बाद उसके अवशेषों को केन्द्रीय गुम्बद के नीचे भीतर की ओर गाढ दिया जाता था। इसके पश्चात् भवन फकीर को सौंप दिया जाता था ।

अकबर ने आगरा में दुर्ग प्रासाद की नीव 1564 ई में रखी । यह 2700 फुट लम्बा था । इसके चतुर्दिक 70 फुट ऊँची दीवार सुघटित प्रस्तर खण्डों से बनाई गई । दुर्ग प्रासाद लगभग 1 1/2 मील की परिधि में विस्तृत है । पत्थर के जोडों की बारीकी दर्शनीय है । यह दुर्ग प्रासाद दो वर्ष में बनकर तैयार हुआ । इसमें सगमरमर का अलकरण प्रयुक्त होने के साथ ही सर्वप्रथम सजावट के लिए कुरान शरीफ़ में वर्जित चिडिया अभिप्राय का प्रयोग मिलता है । इसके दो प्रवेश द्वार थे । इसका पश्चिम दिशा का द्वार दिल्ली द्वार (हाथी द्वार) कहलाता था । दूसरा प्रवेश द्वार अमरसिंह के नाम पर अमरसिंह द्वार कहलाता था । आगरा किल की सामान्य रुपरेखा ग्वालियर के मानसिंह के किले से मिलती है । अकबर ने आगरा के लालकिले क भीतर जो भवन बनवाये उनमें अकबरी महल तथा जहाँगीरी महल उल्लेखनीय हैं । दोनों की बनावट की विशेषता उसकी कडियों और तोडो में है । द्वितीय भवन पर हिन्दू शैली का प्रभाव है । दीवाने खास तथा दीवाने आम को दुर्गप्रासाद के दर्शनीय भाग कहा जा सकता है ।

अकबर ने रणथम्भौर विजय के पश्चात 1569 ई में फतहपुर सीकरी नामक नया नगर बसाया जो आगरा से 26 मील दूर है । यह नगर 15 वर्ष पश्चात 1584 ई में बन कर तैयार हुआ । अकबर की नयी राजधानी में विभिन्न प्रकार के भवनों का निर्माण किया गया । यहाँ के धार्मिक भवनों का वर्ग सर्वाधिक प्रभावशाली है जिसके चार भागों में जामा मस्जिद इसका दक्षिणी द्वार अथवा बुलन्द दरवाजा शेख सलीम चिश्ती की दरगाह तथा इस्लाम खा का मकबरा सम्मिलित हैं । बुलन्द दरवाजा (लॉफ्टी पोर्टल) अपने ढग की आश्चर्यजनक वास्तु कृति है । यह भारत का सबसे बडा दरवाजा है । विश्व के सबसे बडे तोरणों में इसकी गणना की जा सकती है । अकबर ने अपनी खानदेश की विजय
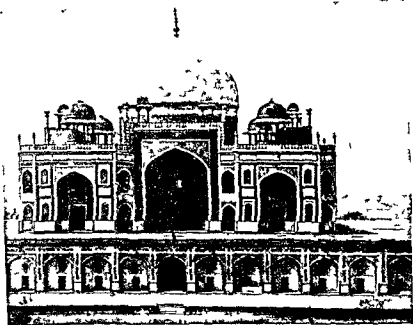
चित्र–78 हुमायूँ का मकबरा दिल्ली

की स्मृति में 1601 2 ई में इसका निर्माण कराया था ।यह बुलन्द दरवाजा अपने नाम को सार्थक करता है । यह उन्नत चबूतरे से 134 फुट ऊँचा है तथा धरती से इसकी ऊँचाई 176 फुट है (चित्र 79)। फतहपुर सीकरी के अन्य उल्लेखनीय भवनों में जोधाबाई महल बीरबल महल दीवान इ खास ख्वाबगाह (हाउस ऑव ड्रीम्स) तथा पचमहल (पैलेस ऑव फाइव स्टोरीज) आदि की गणना की जाती है । यह सभी भवन कला और सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं । 1569 ई से 1584 ई तक दरबार का मुख्य केन्द्र फतहपुर सीकरी था । 1585 ई से 1598 ई तक लाहौर अकबर के साम्राज्य की राजधानी था । 1598 इ में अकबर आगरा लौट आया । उल्लेखनीय है कि अकबर मृत्युपर्यन्त फतहपर सीकरी का ही अपने आवास के लिए वरीयता देता था ।

आगरा के पास पाँच मील की दूरी पर सिकन्दरा में अकबर के मकबरे की योजना स्वय बादशाह ने बनवायी थी । यह मक्बरा जहाँगीर के काल में तैयार हुआ था । अकबर ने 1570 ई में अजमेर का दुर्ग बनवाया । उसने 1583 ई में इलाहाबाद के दुर्ग प्रासाद का निर्माण प्रारम्भ कराया । मुगल बादशाह अक्बर ने लाहौर में भी दुर्ग प्रासाद लगभग उसी समय बनवाया जिस समय आगरा की राजधानी का निर्माण किया गया । यह आगरा से आकार में छोटा है। यह 1200x1050 फुट लम्बे चौडे क्षेत्र में विस्तृत है । इस दुर्ग प्रासाद की वास्तु शैली आगरा जैसी ही है । यह भी लाल बालुकाश्म से बना है । यहाँ के कलाकारों की अलकरण सम्बन्धी काल्पनिक क्षमता आगरा से अधिक समृद्ध एव विस्तृत प्रतीत हाती है । इस दुर्ग प्रासाद का अतिरिक्त आकर्षण निसन्देह रगीन चमकदार खपडों का (कलर्ड ग्लेज टाइल्स) अलकरण है । यह लगभग 480 गज लम्बे क्षेत्र में विस्तृत है । उपर्युक्त भवनों नगरों दुर्ग प्रासादों आदि की लम्बी सूची यह प्रमाणित करती है कि सम्राट अकबर महान भवन निर्माता थे । यद्यपि अक्बर के पुत्र एव उत्तराधिकारी जहाँगीर की विशेष रुचि चित्रशिल्प में थी तथापि उसके काल में अनक भवनों का निर्माण किया गया । सम्राट अक्बर का सिकन्दरा स्थित मकबरा जहाँगीर के शासनकाल में 1612 ई में बनकर तैयार हुआ । यह कुछ-कुछ फतहपुर सीकरी के पचमहल से मिलता है । इस काल में बेगम नूरजहाँ द्वारा दो महत्त्वपूर्ण मकबरे बनवाये गये । नूरजहाँ न आगरा में अपने पिता एव महत्त्वपूर्ण मुगल दरबारी इतिमादुद्दौला का मकबरा बनवाया जा पूर्णत सगमरमर से बनी मुगल कालीन प्रथम इमारत है । मुगल काल में सर्वप्रथम जडाऊ काम इमी भवन में देखने को मिलता है।[7] रत्नों के जडाऊ काम द्वारा (पीत्रा घूरा) श्वेत सगमरमर के भवन की सुन्दरता में वृद्धि की गई है ।यह स्मारक 1626 ई के लगभग बन कर तैयार हुआ था । इस भवन को अकबर एव शाहजहाँ के मध्य वास्तु शैलियों की कडी माना जा सकता है। इस काल की अन्य इमारत बादशाह जहाँगीर का मकबरा है जो लाहौर में रावी नदी के पार नूरजहाँ ने बनवाया था ।

शाहजहाँ कालीन स्थापत्य—मुगल वास्तु कला के इतिहास में शाहजहाँ के शासनकाल का विशिष्ट महत्त्व है । मुगल समृद्धि एव वैभव की अभिव्यक्ति इस काल के भवनों में स्पष्टत देखी जा सकती है । सौन्दर्य वैभव एव पूर्णता की दृष्टि से शाहजहाँ के काल में निर्मित भवन बेजोड हैं । भवन निर्माण के क्षेत्र में अभी तक अधिकाशत प्रयुक्त बालुकाश्म का स्थान इस काल में सगमरमर ने ले लिया। शाहजहाँ ने आगरा के दुर्ग प्रासाद में पूर्वजों द्वारा बालुकाश्म में निर्मित भवना को तोडकर अधिक चमकदार तथा सुन्दर भवनों का निर्माण कराया । उसकी यह नीति आगरा के भवनों में

7 दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया जिल्द IV पृ० 553
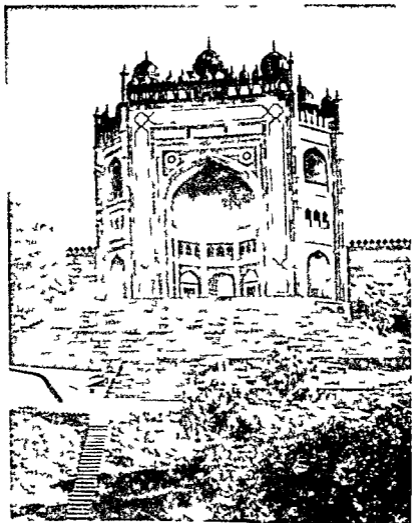
चित्र-79 बुलन्द दरवाजा फतहपुर सीकरी

सर्वाधिक व्यक्त रूप में दिखाई देती है । 16 वी शती के द्वितीयार्द्ध में बालुकाश्म से निर्मित जहाँगीर महल से 17 वीं शता के प्रथमार्द्ध में निर्मित खासमहल जैसे सगमरमर के मण्डपों तक दो चरणों की वास्तुकला के अन्तर को प्रदर्शित किया गया है । इस काल में आगरा में सर्वप्रथम सगमरमर का प्रयोग दीवाने आम के निर्माण में किया गया । इसके एक दशक बाद दीवानेखास में परिवर्तन किये गये । आगरा की मोती मस्जिद शाहजहाँ कालीन शैली का सर्वोत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करती है ।

आगरा में यमुना नदी के किनारे स्थित श्वेत सगमरमर से निर्मित ताजमहल विश्वविख्यात स्मारक है (चित्र-80) । यह आश्चर्यजनक वास्तु सरचना शाहजहाँ की प्रिय पत्नी अर्जुमान बानू बेगम का मक्बरा है । उसकी मुमताज महल (चोजन ऑव द पैलेस) तथा ताजमहल (क्राउन ऑव द पैलस) नामक उपाधियों का सक्षिप्तीकरण ताज में कर दिया गया है। इस अदभुत भवन की कल्पना शाहजहाँ के मस्तिष्क की उपज थी । बादशाह के आदर्श स्वप्न को मूर्तरूप देने वाले स्थपति की पहचान को लकर कुछ विवाद है । ईसाई पादरी सिबैस्टियन मैनरिक के अनुसार ताज का स्थपति जेरोनिमो वेरोनियो नामक वेनिस का जौहरी था । विंसेन्ट स्मिथ ने ताज के विदेशी स्थपति वाले विचार का समर्थन किया है । इसके विपरीत समकालिक पाण्डुलिपियों में ताज के निर्माता कलाकारों के नाम आदि मिलत हैं । इस विषय में पर्सी ब्राउन की धारणा उचित जान पडती है । उसके अनुसार भवन का रूप स्वत इगित करता है कि यह मुगल स्थापत्य के तर्कसगत विकास का परिणाम तथा विदेशी प्रभाव से पूर्णत मुक्त था । हुमायूँ क मकबरे स ताज के कलाकारों ने कुछ प्रेरणा अवश्य ली होगी । दीवान इ अफरीदी के अनुसार इसमें एक करोड सत्रह लाख रुपया व्यय हुआ था । बादशाह नामा के अनुसार मात्र मक्त्ररे के निर्माण में 50 लाख रूपया खर्च हुआ था । इसके निर्माण में ग्यारह वर्ष लगे (1632 1643 ई) । सगमरमर के इस मक्बरे का निर्माण मुकर्रमत खा तथा मीर अब्दुल करीम की निगरानी में हुआ । अमानतखा शिराजी उस्ताद ईसाखा उस्ताद पीरा बनुहर झटमल जोरावर एव इस्माइल खा रूमी (गुम्बद निर्माता) निर्माता कारीगर थे । राममल कश्मीरी ने उद्यान का निर्माण किया था । अफरीदी 20 प्रकार के रत्नों के निर्माणार्थ आयात किये जाने का उल्लेख करता है।

ताजमहल का निर्माण 22 फुट ऊँचे चबूतरे पर किया गया है । इसका योजना वर्गाकार है । इस वर्गाकार प्रागण की एक ओर की लम्बाई 186 फुट है । बम्बाकार केन्द्रीय गुम्बद के शीर्ष तक यह 187 फुट ऊँचा है । इसके चार कोनों में चार स्तूपीयुक्त मीनारें बनी हैं । प्रत्येक 137 फुट ऊँची है । सम्पूर्ण योजना 1900 x 1000 फुट आयताकार क्षेत्र में विस्तृत है । ताजमहल की प्रशसा करते हुए फर्ग्युसन लिखता है यह अनेक सुन्दरताओं का सगम है प्रत्येक एक दूसरे पर पूर्णत आश्रित है तथा मिलकर एक एसी सम्पूर्ण रचना का सृजन करती है जो विश्व में अद्वितीय है तथा उनको भी प्रभावित करने में कभी असफल नही रहती जो स्थापत्य की वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न प्रभावों के प्रति बहुत अधिक उदासीन रहत हैं बादशाह ने अपने लिए यमुना पार काले सगमरमर का एक ऐसा भव्य मकबरा बनाने की योजना भी बनाई थी जो पुल द्वारा ताज से जुडा रहता ।

शाहजहाँ ने दिल्ली में भी अनेक भवन बनवाये । उसने 1639 ई में दिल्ली के लालकिले की नीव रखी । यह दुर्ग प्रासाद 1648 ई में 9 वर्ष 3 माह में बनकर तैयार हुआ । इसमें 60 लाख रूपया खर्च हुआ । पूर्व से पश्चिम इसकी लम्बाई 1600 फुट है तथा उत्तर से दक्षिण 3200 फुट । इसके चतुर्दिक लाल बालुकाश्म की प्राचीर बनी है । इसका दीवाने खास सभी भवनों से अधिक अलकृत
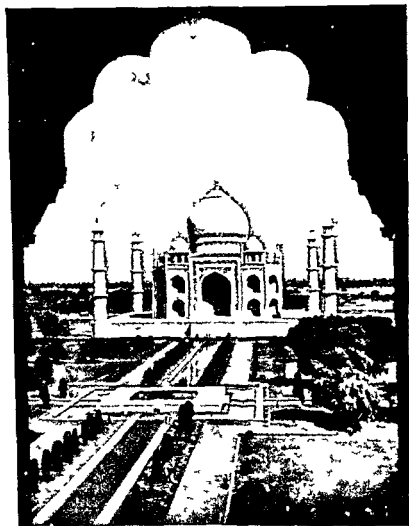
चित्र–80 ताजमहल (1632 53 ई०) आगरा

है। यह आगरा से आकार में बडा और अधिक समृद्ध है । इसकी बहुमूल्य पत्थरों की जडाई अनुपम है। इसकी छत पर यह लेख कि यदि धरा पर कहीं स्वर्ग है तो यहीं है यहीं है उत्कीर्ण है । दीवाने आम (200 x100 फुट) के केन्द्र में एक अत्यन्त सुन्दर एव अलकृत आला (निच) बना हुआ है जहाँ बहुमूल्य रत्नों से जडे हुये सगमरमर के चबूतरे पर कभी मयूर आसन था जिसे 1739 ई में नादिरशाह ने अधिकृत कर लिया । यह तख्ते ताउस 3 गज लम्बा 2 1/2 गज चौडा और 5 गज ऊँचा था । यह सात वर्ष में बनकर तैयार हुआ । बादशाहनामा के अनुसार इस पर एक करोड रूपया व्यय हुआ । यहीं पूर्व की ओर रगमहल (चित्रित कक्ष) बना हुआ है । दिल्ली के दुर्ग प्रासाद के प्रमुख शेष भागों में प्रवेश कक्ष नौबत खाना (सगीत कक्ष) दीवाने आम दीवाने खास तथा रगमहल हैं । इस किले के भीतर श्वेत सगमरमर से बनी मोती मस्जिद का निर्माण औरगजेब ने कराया था ।

शाहजहाँ ने दिल्ली में भारत की सबसे बडी मस्जिद का निर्माण कराया था जो जामा मस्जिद के नाम से विख्यात है । यह 1658 ई में बनकर तैयार हुई । इसमें दो मीनारें हैं । इसका निर्माण एक ऊँचे चबूतरे के उपर किया गया है । प्रस्तर की दीवार के भीतर विस्तृत चतुष्कोणीय प्रागण है । मस्जिद के सामने की दीवार की लम्बाई 325 फुट है । इसमें बालुकाश्म के साथ काले तथा श्वेत सगमरमर का प्रयोग हुआ है । उसने आगरा में भी अपनी पुत्री जहाँनारा बेगम की स्मृति में जामा मस्जिद का निर्माण कराया था ।

शाहजहाँ निःसन्देह एक महान निर्माता था । उसके काल में बनी प्रत्येक इमारत पर उसकी विशिष्ट रूचि की छाप है । उसने अत्यन्त व्ययसाध्य भवनों का निर्माण कराया । उसके काल में मेहराबों की शैली में परिवर्तन किया गया । इस काल की स्थापत्यगत अन्य विशेषताओं में कटेदार मेहराब युक्त श्वेरत सगमरमर के ढके हुये मार्ग (ह्वाइट मारबल आर्केडस ऑव ऐन्मेल्ड आर्चेज) का उल्लेख किया जा सकता है । भवन निर्माण में व्यापक रूप से सगमरमर का प्रयोग एव रत्नों की जडाई द्वारा उन्हें अलकृत करने का चलन इस काल के वास्तु की अन्य विशेषता थी ।

मूर्ति शिल्प के मुगलयुगीन सूत्र —मूर्तिशिल्प के स्वतत्र उदाहरणों का अभाव मुगल युगीन कला की उल्लेखनीय विशेषता है । कुछ मुगल युगीन मुद्राओं का उल्लेख यहाँ समीचीन होगा । अकबर के एक सिक्के में ताजयुक्त धनुर्धारी पुरुष तथा महिला की आकृति उत्कीर्ण है । यह सिक्का बीजापुर के शासक द्वारा मुगलों की सत्ता की अधीनता स्वीकारने एव शहजादा दानियाल को अपनी कन्या विवाह में देने की स्मृति में प्रचालित किया था (1604 5 ई)[8] । मुगल बादशाहों में मात्र जहाँगीर ने ही सिक्कों में अपनी आकृति को उत्कीर्ण कराने का दुःसाहस किया था । उसने शराब निषेध की कठोर इस्लामी परम्परा की उपेक्षा की । उसे हाथ में शराब के प्याले के साथ अपनी आकृति को सिक्कों में उत्कीर्ण कराने में कोई सकोच नहीं था । शाहजहाँ द्वारा शहजादा खुर्रम के रूप में अनूपराय को शेर के जबडो से बचाने की घटना को भी एक रत्न में उत्कीर्ण किया गया है ।

वस्तुतः मुगल मूर्तिशिल्प के उदाहरणों में सवार सहित अथवा बिना सवार के प्रस्तर निर्मित हाथियों की मूर्तियों के अवशेषों का उल्लेख किया जा सकता है । ऐसी मूर्तियाँ प्रायः दुर्गों के प्रवेश द्वार पर रखी जाती थी । फतहपुर सीकरी में पत्थर के दो विशाल हाथी प्रेवश द्वार पर बनाये गये थे

8 स्मिथ, पूर्वोक्त, पृ० 168-69

जिनके मस्तक बाद में सम्भवत औरगजेब द्वारा तोड दिये गये थे ।

जहाँगीर कालीन अग्रेज यात्री विलियम फिन्च आगरा दुर्ग के एक द्वार पर दो मूर्तियों को देखने का उल्लेख करता है (1610 ई) जिन्हें अकबर या जहाँगीर ने बनवाया था । इन्हें दो राजाओं की प्रतिमा कहा गया है । शायद ये दो राजपूत वीरों की मूर्तियाँ थी जिन्हें भाषण की निर्भीकता के लिए राजा के सम्मुख दरबार में कत्ल कर दिया गया । एक अनुमान के अनुसार सम्भत यहाँ अखैराज (अकबर के साले राजा भगवान दास का पुत्र) के पुत्रों की ओर सकेत है जो किसी बात पर आपस में लडते हुए राजमहल में मारे गये ।

जहाँगीर ने अपने शासन के 11 वें वर्ष में चित्तौड के राना (अमरसिंह) एव उसके पुत्र करन की सगमरमर की मूर्तियाँ बनवायी थी । इन्हें आगरा स्थित प्रासाद के उद्यान में दर्शन झरोखे के नीचे रखा गया था । इस तथ्य का उल्लेख स्वय बादशाह जहागीर ने किया है । ऐसा लगता है कि प्रारभिक मुगल बादशाह मनुष्यों की आदमकद मूर्तियों के निर्माण के विरोधी नहीं थे । उद्यान में स्थापित उक्त मूर्तियों के कोई अवशेष नहीं मिले है ।

बर्नियर ने 1663 ई में दो हाथी सवारों की मूर्तियाँ दिल्ली के दुर्ग प्रासाद के प्रवेश द्वार पर देखन का जिक्र किया है । कुछ वर्ष पश्चात उन्हें थेवनाट ने देखा था । बर्नियर को बताया गया था कि वे 1568 ई में चित्तौड की अकबर के आक्रमण से सुरक्षार्थ प्रबल प्रतिरोध करने वाले जैमल एव पत्ता नामक वीरों की प्रतिमाएँ थीं । सम्भत उनके अदम्य साहस एव स्वामिभक्ति से अभिभूत होकर ही उनके शत्रु ने उनकी प्रतिमाएँ बनवायी । इन मूर्तियों को शाहजहाँ के काल में आगरा या फतहपुर सीकरी से दिल्ली लाया गया होगा । बाद में औरगजेब ने इन्हें तुडवा दिया था ।[9]

9 उक्त प्रतिमाओं के सम्बध में कुछ अन्य सदर्भों के लिए देखिए जहूरखा मेहर कृत, जयमल मेड़तिया (राजस्थानी), जोधपुर 1993 पृ 70-73

अध्याय 12

अजन्ता की चित्रकला

चित्रकला की पुरातात्त्विक एव साहित्यिक पृष्ठभूमि —कलाओं में चित्रशिल्प का अपना विशिष्ट स्थान है । चित्रकला का इतिहास पाषाणयुगीन मानव द्वारा प्राकृतिक शिलाश्रयों में निर्मित रैखिक चित्रों से प्रारभ होता है । यह प्रागैतिहासिक चित्र मुख्यत आखेट कर्ता आखेट के लक्ष्य पशु तथा आखेट के लिए प्रयुक्त आयुधों के रेखाकन तक सीमित थे । चित्रकारी की यह परम्परा सिन्धु घाटी में भी दृष्टिगत होती है जहाँ कन्दराओं के स्थान पर मृत्पात्र (मिट्टी के बर्तन) विविध प्रकार की आकृतियों और अलकरणों को चित्रित करने के लिए प्रयुक्त हुये हैं । इसे मृत्पात्रों की चित्रकला कहा जा सकता है ।

प्राचीन भारतीय धार्मिक एव लौकिक साहित्य में प्राप्त होने वाले चित्रशिल्प के व्यापक सदर्भ कला क निरन्तर विकास की ओर इगित करते हैं । ऋग्वेद में चर्म पर अग्नि का चित्र बनाने की चर्चा है। रामायण क उत्तरकाण्ड में पुष्पक विमान में अनेक दृश्यों के चित्रित होने के सदर्भ मिलते हैं । हनुमान ने लका में एक चित्रशाला एव चित्रों से सज्जित क्रीडागृह देखा था । युधिष्ठिर की सभा के चित्रों से अलकृत होने का उल्लेख महाभारत में हुआ है । सत्यवान द्वारा दीवार पर घोडे के चित्र बनाये जाने का भी सदर्भ महाकाव्य में मिलता है । यज्ञशालाओं के द्वारों पर स्वर्णांकित देवी आकृतियों को वैयाकरण पाणिनि ने प्रतिकृति कहा है । भरत के नाटयशास्त्र में नाटयशाला को चित्रित किये जाने का सुझाव है । कामसूत्र में चित्रकला को आलेख्य कहा गया है । ग्रथ के टीकाकार यशोधर पण्डित ने अपनी जयमगला नामक टीका में आलेख्य के छ अग बताये हैं—रूपभेद (फॉर्म) प्रमाण (मेजरमेंट) भाव (एक्सप्रेशन) लावण्य योजना (ब्यूटी) सादृश्य (आइडेन्टिटी) वर्णिकाभग (कलर सिन्थेसिस)[1] । इसके अतिरिक्त कालिदास के ग्रथों तथा अन्य सस्कृत काव्यों नाटकों प्रहसनों में भी चित्रल्ला के सदर्भ मिलते हैं । बौद्ध और जैन साहित्य में भी चित्रकला सम्बन्धी सूचना मिलती है। विनय पिटक में कोशल नरश प्रसेनजित के चित्रागार का उल्लेख है । थेरगाथा के अनुसार राजा बिम्बिसार ने राजा तिस्स को भगवान बुद्ध की जीवनी का एक चित्रफलक (अलबम) भेंट किया था । महावश मिलिन्दप्रश्न धम्मपद आदि ग्रथों में भी चित्रकर्म के सदर्भ मिलने हैं । जैन आचारागसूत्र में जैन साधुओं को चित्रशालाओं में न जाने का सुझाव दिया गया है । नायाधम्म कहाओ में श्रेणिक के महल की दीवारों के चित्रित होने का उल्लेख है । उक्त ग्रथ विदेह शासक मल्लदिन्न के चित्रकारों द्वारा कोकशास्त्र में वर्णित 84 आसनों पर उत्कृष्ट चित्रों के निर्मित किये जाने का उल्लेख करता है । प्रश्नव्याकरणसूत्र तथा कल्पसूत्रटीका आदि ग्रथों में भी चित्रकला का उल्लेख मिलता है । चित्रकला पर सर्वाधिक उल्लेखननीय रचना नग्नजित का चित्र लक्षण है । नग्नजित का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण और महाभारत में भी हुआ है । विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रविद्या सम्बन्धी

---

1 रूपभेदा प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्य वर्णिका भंग इति चित्र षडङ्गकम् ॥

नव अध्यायों (35-43) में गुप्तकालीन चित्रकला के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है । उक्त ग्रंथ में चित्रकला को सब कलाओं में उत्तम बताने के साथ ही चित्र साधना को[2] धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति का माध्यम भी कहा गया है ।

कुछ मध्यकालीन शिल्पग्रंथों से भी चित्रकला के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञानवर्धक सूचना प्राप्त होती है । चौतीस ग्रंथों के रचयिता राजा भोज परमार ने *समरागणसूत्रधार* एव *युक्ति कल्पतरू* नामक दो शिल्पग्रंथों का प्रणयन किया था । इनमें से प्रथम ग्रंथ का चित्रकर्म नामक अध्याय चित्रकला के विषय में उपयोगी जानकारी देता है । कल्याण के चालुक्य राजा द्वितीय विक्रमादित्य के पुत्र सोमेश्वर ने अभिलषितार्थ चिन्तामणि अथवा मानसोल्लास नामक ग्रंथ लिखा । इस ग्रंथ में जिन विभिन्न विषयों की चर्चा हुई है उनमें वास्तुकला और चित्रकला भी सम्मिलित हैं । उक्त साहित्यिक सदर्भों से इस बात का स्पष्ट सकेत मिलता है कि प्राचीन काल मे मध्यकाल तक चित्रकला क्रमशः विकसित होती रही ।

जोगीमारा के गुहाचित्र—जोगीमारा के गुहाचित्रों को अजन्ता के भित्ति चित्रों की पृष्ठभूमि में रखा जा सकता है । ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में चित्रशिल्प के प्रथम प्रमाण मध्यप्रदेश की पुरानी सरगुजा रियासत में स्थित रामगढ पहाडी की जोगीमारा की गुफाओं में मिले हैं । यह चित्र प्रागैतिहासिक कला की अविच्छिन्नता को पुष्ट करते प्रतीत होते हैं । यहाँ से प्राप्त लेखों की लिपि के आधार पर ब्लॉख ने इन चित्रों को तृतीय शताब्दी ई पूर्व का माना है यहा के चित्रों में मुख्यत रथो गजों तथा मकरों के चित्रों की गणना की जा सकती है । मानव आकृतियाँ अपने अभिव्यञ्जन में नितान्त आदिम कालीन लगती हैं । चित्रों के निर्माणार्थ यहाँ काले लाल और पीले रगों का प्रयोग किया गया है । निःसदेह जोगीमारा के भित्ति चित्र प्राचीन भारत की विकसित ललित कला के प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकते किन्तु उनकी अपनी अलग ही श्रेणी मानी जा सकती है । जोगीमारा की प्राकृतिक गुफाओं की 10 फुट चौडी खुरदरी सतह पर चित्रों का निर्माण किया गया है । यहाँ के भित्ति चित्रों का निर्माण गीली दीवार पर वर्ण लेप द्वारा चित्र निर्माण की परम्परागत भारतीय पद्धति के अन्तर्गत हुआ है। जोगीमारा के भित्ति चित्रों की प्रतिलिपि असीत कुमार हाल्दार तथा समरेन्द्र नाथ गुप्त नामक विख्यात चितेरों ने 1914 ई में तैयार की थी ।

अजन्ता के गुहा चित्रों का इतिहास—अचिन्त्य पर्वतमाला में वास्तु मूर्ति एव चित्रशिल्प की त्रिवेणी प्रवाहित होती है । शताब्दियों तक अकेले ही मौन रहकर अज्ञातवास की वेदना तथा प्राकृतिक प्रकोपों से जूझने का कष्ट सहने का सिलसिला 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में समाप्त हो गया । 1819 ई में एक अंग्रेजी सैनिक टुकडी को भारत की अमूल्य सास्कृतिक निधि को खोजने में सफलता मिली । कुछ समय पश्चात् जनरल मर जेम्स ने यहाँ का सक्षिप्त परिचय रॉयल एशियाटिक सोसायटी को दिया । 1843 ई में भारतीय कला के परम स्नेही जेम्स फर्ग्युसन ने अजन्ता के चित्रों का विवरण प्रकाशित किया । 19वी शती के प्रथमार्द्ध के अन्तिम दशक में अजन्ता के चित्रों की अनेक प्रतियाँ तैयार कराई गयी जो ब्रिटेन के राजमहल में प्रदर्शित हुयीं । यह सब प्रतियाँ 1866 ई के अग्निकाण्ड में भस्म हो गयी । तदुपरान्त बम्बई आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल ग्रिफित्स द्वारा तैयार की गई प्रतिकृतियाँ

2 इसमें मंदिरों राजप्रासादों, तथा व्यक्तिगत घरों के लिए उपयुक्त चित्रों का वर्गीकरण किया गया है । इसके अतिरिक्त उक्त ग्रंथ प्रगीतात्मक (लिरिकल) यथा तथ्य (ट्रू) एव ऐहिक (सेक्युलर) चित्रों के मध्य अन्तर करता है ।

भी जलकर नष्ट हो गयीं । इसके बाद 1915 ई में नन्दलाल बोस आदि भारतीय चितेरों के सहयोग से यहाँ के अनेक चित्रों की नकलें पुन तैयार करवाई गयी । कालान्तर में निजाम सरकार ने भी अजन्ता के कला वैभव के बढते हुए महत्व को देखते हुये इन गुफाओं के चित्रों की देखभाल की व्यवस्था की । इस नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत यहाँ के चित्रों की प्रामाणिक नकलें तैयार की गयीं । भारत सरकार ने भी चार जिल्दों में एक प्रामाणिक चित्रावली प्रकाशित की । अजन्ता के चित्रों पर सैकडों देशी विदेशी विद्वानों द्वारा प्रकाश डाला जा चुका है । अजन्ता के भित्ति चित्रों के अनेक प्रकाशित सग्रहों में न्यूयॉर्क यूनेस्को से 1954 ई मे प्रकाशित प्रिंटिंग्स ऑव अजन्ता केव्ज' नामक सस्करण उल्लेखनीय है ।

बौद्ध कला का समृद्ध केन्द्र अजन्ता औरगाबाद से 106 किलोमीटर (66 मील) दूर फर्दपुर से मात्र 4 मील के फासले पर स्थित है । महाराष्ट्र प्रान्त का यह विश्वविख्यात बौद्ध कला केन्द्र राष्ट्र का गौरव है । यहाँ 79 मीटर ऊँवी लगभग लम्बवत चट्टानी दीवार पर 29 गुफाएँ उत्कीर्ण की गयीं हैं । भारत में ही नही समूचे विश्व में कहीं भी वास्तु मूर्ति एव चित्रशिल्प का इतना स्तुत्य सम्मिलन देखने को नही मिलता । यहाँ गुफाओं के उत्कीर्ण किये जाने की प्रक्रिया का प्रारम्भ यद्यपि द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व हो चुका था किन्तु निर्माण कार्य सातवीं शती ई तक रुक रुक कर होता रहा । यहाँ 25 विहार एव 4 चैत्यगृह हैं । विहार गुफाओं का निर्माण भिक्षुओं के निवास के लिए किया गया है । चैत्यगुफाएँ पूजा प्रार्थना के निमित्त उत्कीर्ण की गयीं । यहाँ की चित्रकारी उतनी पुरातन नहीं है जितनी गुफाएँ ।

अजन्ता का प्राकृतिक सौन्दर्य चित्ताकर्षक है । यह एकान्त स्थल प्राचीन कला पण्डितों की साधना के लिए सर्वथा उपयुक्त था । उत्कीर्ण गुफाएँ चट्टानी दीवार को अर्द्धचन्द्राकार रूप प्रदान करती हैं । इनके नीचे बाघोरा नदी प्रवाहित होती है । अजन्ता के दरीगृहों की भित्तियों पर निर्मित चित्रों के पीछे महायान धर्म की प्रेरणा थी । धर्म को व्यापक आधार प्रदान करने के निमित्त महायान मत ने बुद्ध–बोधिसत्त्वों की प्रतिमा निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ की थी । इससे बौद्धधर्म में मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ । इसी क्रम में शिलाश्रयों को अलकृत करने तथा बौद्ध विषयों को दीवारों पर चित्रित करके उनकी स्मृति को निरन्तर बनाये रखने की भावना से चित्रों का निर्माण किया गया है ।

अजन्ता का निर्माण एव तिथि—इस प्रश्न का कि बौद्ध कला का यह सुविख्यात केन्द्र कब और किसने विकसित किया ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है । यहाँ की गुफाएँ उनकी प्रतिमाएँ तथा उनकी भित्तियों पर आलेखित चित्र सभी किसी काल विशेष में निर्मित नहीं हुए । यहाँ की कला के विभिन्न अवयवों (अगों) का निर्माण अलग–अलग कालों में हुआ । उदाहरणार्थ यहाँ शिलाश्रयों को उत्कीर्ण करने की क्रिया यद्यपि द्वितीय शताब्दी ई पूर्व शुग काल में आरम्भ हो चुकी थी किन्तु निर्माण कार्य गुप्तोत्तर युगीन प्रारम्भिक शताब्दियों तक (6-7 वीं शती) होता रहा । यहाँ की कला में शुग सातवाहनकुषाण वाकाटक गुप्त और चालुक्यों का सम्मिलित योगदान रहा है । अजन्ता की 9 वीं तथा 10वीं गुफा के कुछ खण्डित चित्र सर्वाधिक प्राचीन माने जाते हैं । यह चित्र सावी की प्रतिमाओं से इतना नैकट्य रखते हैं कि इन्हें लगभग उसी काल का माना जा सकता है ।[3] इनका निर्माण अन्ध्र–सातवाहन राजाओं के काल में हुआ । शुगकालीन शिलाश्रयों की यह चित्रकला अपनी समृद्ध परम्परा

3. स्मिथ, पूर्वोक्त, हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सी लोन, पृ० 87

की ओर संकेत करती है । इनकी मुख और हाथों की मुद्राएँ भावशून्य लगती हैं । रगों के चयन में भी गुप्तकालीन वैविध्य दृष्टिगत नहीं होता । इसके बाद शताब्दियों तक चित्रण का कार्य स्थगित रहा । गुप्त वाकाटक युग में पर्याप्त चित्रों का निर्माण किया गया । 16 वीं गुफा में वाकाटक अभिलेख मिलता है । स्थूलत अजन्ता की चित्रकला को प्रथम शताब्दी ई पूर्व से 6 7 वीं शती ई तक के मध्य रखा जाता है ।

1879 ई में बर्जेस ने अजन्ता की कुल 16 गुफाओं में (1 2 4 6 7 9 10 11 15 16 17 19 20 21 22 26) चित्रकारी होने की बात कही है । इनमें से नव गुफाओं में अधिक महत्वपूर्ण चित्रों के अश थे । गुफा सख्या 17 में सर्वाधिक विस्तृत चित्रकारी थी । बर्जेस के उक्त विवरण की पुष्टि तीन दशक पश्चात (1909 10 ई में) श्रीमती हेरिंघम द्वारा प्रस्तुत सर्वेक्षण के ब्यौरे से नहीं होती । उन्हें मात्र गुहा सख्या 1 2 9 10 16 तथा 17 में ही चित्रों के अधिकांश अवशेष मिले थे । निश्चित ही उस समय तक शेष चित्र नष्ट हो चुके थे ।

अजन्ता के चित्रो की निर्माण पद्धति —ग्रिफित्स के अनुसार अजन्ता के भित्ति चित्रों के निर्माण में टेम्परा तथा फ्रेस्को दोनों पद्धतियों का सम्मिलित प्रयोग किया गया है । गीले प्लास्टर की सतह पर रग करके चित्र निर्मित करने की पद्धति से अजन्ता के चित्रों का निर्माण किये जाने के कारण ही उन्हें फ्रेस्कोज कहा जाता है । अजन्ता के चित्र निर्माण की इस पद्धति का उपयोग भारत में तबसे आधुनिक युग तक होता चला आ रहा है । अजन्ता में मिट्टी गोबर तथा पत्थर के चूरे से निर्मित गारे की प्रथम परत का उपयोग किया गया है । इसमें चावल की भूसी भी कही–कहीं प्रयोग में लाई जाती थी । इसके ऊपर अडे की जर्दी की परत चढाई जाती थी । इससे प्लास्टर व चित्रों को जो सुदृढता मिली वह आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति एव रासायनिक विज्ञान भी नहीं दे सका है । अजन्ता के प्रथम गारे की परत के स्थान पर आधुनिक युग में चूने का प्लास्टर लम्बे समय तक नम रह सकता है । उसकी यह प्रकृति नम प्लास्टर तथा रग के मध्य अच्छा तालमेल बैठाती है । कुछ भी हो अजन्ता में प्रयुक्त चित्र निर्माण की पद्धति इतनी अधिक सरल होने के बाद भी इतनी सुदृढ प्रमाणित हुयी । शताब्दियों तक बिना किसी सरक्षण के प्रकृति के प्रकोपों तथा मौसम की मनमानी को सहते हुये यह चित्रकला जीवित रह सकी यह तथ्य अपने आप में निर्माण पद्धति की श्रेष्ठता का प्रमाण पत्र है ।

फ्रेस्को पद्धति की किसी भी रुप में चित्रकारी में चूने के क्षतिकारक प्रभाव का अवरोध करने की क्षमता वाले सीमित रगों का ही उपयोग किया जाता है । अजन्ता और बाघ (धार जिला म प्रदेश) में प्राय प्रयुक्त रंगों में विभिन्न स्तर के सफेद लाल एव भूरे रगों का उल्लेख किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त हल्के हरे एव नीले रग का भी प्रयोग किया गया है पीले रग का प्रयोग अजन्ता में विरल ही हुआ है ।

चित्रकला की विषय वस्तु — अजन्ता की चित्रकला यद्यपि बौद्धधर्म से उत्प्रेरित है तथापि यह कहा जा सकता है कि कलाकारों ने जीवन के विभिन्न पहलुओं का अकन किया है । यद्यपि चित्रशिल्प की विषय वस्तु नितान्त धार्मिक है और विश्व करुणा के प्रतीक भगवान बुद्ध का विविध रूपों में चित्रण उसका मुख्य ध्येय है फिर भी जीवन और समाज के सभी पक्षों और अगों के साथ कला ने तालमेल बैठाने की चेष्टा की है । यहाँ के चितेरों की सहानुभूति चराचर जगत के सभी पहलुओं के साथ थी । इसकी पुष्टि कलाकार द्वारा उन सबके चित्राकन से होती है । युद्धरत सैनिक क्रूर व्याध मछली पकडते

हुये मछुवे , भीख मागते भिखारी शान्त जीवन यापन करते मामीण कोलाहल एव विलासिता युक्त नगरीय जीवन निरीह सवक साधुवेशधारी धूर्त परिचारिका तपस्वी राजभवनों में विलासरत राजा-रानियों आदि मानव जीवन के विविध रूपों पर दृष्टिपात करके अथवा उनका चित्रण करके कलाकार ने अपने चित्रों में सभी वर्गों के लिए आकर्षण पैदा किया है ।

कलाकार ने जिन विभिन्न भावों को अपनी कलाकृतियों के माध्यम से दर्शाने की सफल चेष्टा की है उनमें प्रेम लज्जा हर्ष हास शोक चिंता भय उत्साह क्रोध घृणा विरक्ति निस्सगता शाति आदि का मुख्यत उल्लेख किया जा सकता है । कलाकार ने कुरूप एव सुरूप दोनों के चित्रण में समान अभिरुचि दिखाई है । ओज और सौकुमार्य दोनों ही की सफलता के साथ अभिव्यजना हुई है। चित्रों में कहीं भी अनावश्यक अलकरण का प्रयोग नहीं किया गया है । विषय के आधार पर अजन्ता के चित्रों को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है आलकारिक (डेकोरेटिव) वर्णनात्मक (डस्क्रिप्टिव) तथा रूप चित्र (पार्ट्रेट्स) । प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रयुक्त विषयों का लक्ष्य मुख्य चित्र की शाभा द्विगुणित करना है । अलकरण के लिए प्रयुक्त विषयों में यक्ष किन्नर नाग गन्धर्व अप्सरा राक्षस गरुड पशु पक्षियों क चित्र अलौकिक पशु पुष्पयुक्त लताएँ आदि की गणना की जा सकती है। गुहा सख्या एक की छत में अलकरण डिजायन के निर्माण में अजन्ता के चितेरे के हस्तकौशल का खुला प्रदर्शन हुआ है । ग्रिफित्स जिसने यहाँ के डिजाइनों की प्रतिकृतियाँ बनाने में पर्याप्त रुचि दिखाई के अनुसार यहाँ प्रयुक्त असीमित प्रकार क डिजाइनों का बारीकी से चित्रण किया गया है। कल्पना को यहाँ मुक्त रखा गया है । कला में प्रयुक्त प्रकृति के साधारण से विषयों को कलाकार ने सुखकर एव प्रभावशाली अलकरणों में परिवर्तित कर दिया है ।

प्रथम वर्ग के चित्रों में पर्याप्त विषय वैविध्य है । चित्रकार ने प्रकृति जगत से व्यापक रूप से अपनी कृतियों की सज्जार्थ जिन उपकरणों का उपयोग किया है उनमें नदियाँ पर्वत वन फल फूल वृक्ष बेलें पशु पक्षी आदि का उल्लेख किया जा सकता है । पक्षी जगत से मोर तोता हस कोयल आदि एव पशु जगत से हाथी बैल बदर लगूर आदि का अधिकाशत चित्रण हुआ है । गुहा सख्या एक के कोष्ठक में दो लडते हुए बैलों का चित्र अत्यन्त प्रभावशाली है । यह चित्र कलाकार की पशु के शरीर सरचना की जानकारी तथा ओजस्वी कृत्य को अभिव्यक्त करने की क्षमता को प्रमाणित करता है। फूलों में कमल का व्यापक रूप से चित्रण किया गया है । चित्रकारों ने जिन विविध प्रकार के भारतीय फलों का अकन प्राय किया है उनमें नारियल केला अगूर आम अजीर शरीफा आदि की गणना की जा सकती है ।

द्वितीय वर्ग के चित्रों में मुख्यत जातकों से लिए गये विवरणात्मक कथानकों पर आधारित चित्रों की गणना की जाती है । यहाँ शरभ जातक शिविजातक ब्राह्मण जातक तथा मातृपेरू जातक से सम्बद्ध अनेक चित्रों का निर्माण किया गया है । यहाँ के कुछ चित्र विश्वविख्यात हैं । गुफा सख्या 10 में[4] छदन जातक सम्बन्धी हाथियों के समूह का चित्र इसी कोटि का माना जाता है । इस चित्र की एक ओर विशाल जन समूह का चित्र है जिसमें सखों सहित सैनिक तथा नारियाँ चित्रित हैं । जातक कथाओं से जुडे हुए अनेक चित्रों में सिद्धार्थ का जन्म सप्तपदी तपश्चर्या मार विजय तथा निर्वाण की

4 स्मिथ पूर्वोक्त पृ० 90

घटना का चित्रण किया गया है । षडदन्त जातक की पूरी कथा का अंकन भावगम्य है । इस कथानुसार बोधिसत्त्व अपने किसी एक जन्म में छ दांतों वाले सफेद रंग के गजराज थे । उनकी दो में से एक हथिनी ने सौतियाडाह के कारण आत्महत्या करली तथा राजा के घर में जन्म लिया । नये जन्म में भी डाह से अभिभूत हो राजकन्या ने व्याधों को गजराज का सिर लाने का आदेश दिया । यह जानते ही गजराज स्वयं व्याधों के सम्मुख उपस्थित हुआ । उसके इस व्यवहार से प्रभावित होकर व्याधों ने राजकुमारी को फुसलाने के लिए गजराज के छः दांत काट लिए । दांतों को देखते ही राजकुमारी मूर्छित हो गयी । रहस्य का उद्‌घाटन होने के पश्चात गजराज ने क्षमा का उपदेश दिया । यह चित्रावली इतनी सजीव है कि जैसे समूची घटना मानो हमारे सम्मुख घटित हो रही हो । गज जातक एवं वेस्सतर जातक के चित्रित दृश्य भी मर्मस्पर्शी हैं । लगभग 20 जातकों से कथानक लिये गये हैं ।

अजन्ता के चित्रों के तृतीय वर्ग में रूप चित्रों की गणना की जा सकती है । अजन्ता के सर्वश्रेष्ठ चित्रों को तृतीय श्रेणी में ही रखा जाता है । इसके अन्तर्गत बुद्ध बोधिसत्त्व लोकपाल राजा-रानियों पाचिक हारीती आदि के अतिरिक्त बुद्ध का अभय वरद आदि विभिन्न मुद्राओं में अंकन सम्मिलित है । सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण एवं संबोधि प्राप्ति के दृश्यों का चित्रांकन भी हुआ है ।

कला की दृष्टि से तृतीय श्रेणी के चित्र उत्कृष्ट हैं । इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय चित्र गुहा संख्या एक में बोधिसत्त्व पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का चित्र है । महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत बोधिसत्त्व दस पारमिताओं (ट्‌यन वर्च्यूज) की पराकाष्ठा का अभ्यास करता है । उसे करुणा का प्रतीक माना गया है । बोधिसत्त्व सर्वदा अपने संचित पुण्यों का लोक कल्याणार्थ वितरण करने के लिए तत्पर रहते हैं । वह प्रत्येक व्यक्ति के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । बोधिसत्त्व की यह उदात्त आदर्श कल्पना उक्त चित्र में सजीव हो उठी है ।भाव प्रवणता एवं आदर्श का ऐसा विलक्षण नियोजन अन्यत्र दुर्लभ है । विश्वविख्यात पद्मपाणि अवलोकितेश्वर के चित्र की तुलना माइकेलेंजिलो की सिस्टाइन चैपल में निर्मित कृतियों से की जाती है । बेंजामिन रोलैण्ड ने पद्मपाणि की आकृति के छायांकन की तुलना इटली के पुनर्जागरण कालीन प्रारंभिक चित्रकार गिओट्टो (1276-1336ई) की कृतियों के छायांकन से की है । बोधिसत्त्व को गजस्कन्ध (एलिफेंटाइन शोल्डर्स) एवं सिंह सदृश्य (लियोनाइन) अंकित किया गया है । उनका मुख पूर्णतः अण्डाकार तथा आंखों की भवें धनुषाकार चित्रित की गयी हैं । चित्र में अन्य आकृतियों की अपेक्षा बोधिसत्त्व को सैद्धान्तिक कारणों से पर्याप्त बड़े आकार का चित्रित किया गया है । अवलोकितेश्वर के विशाल चित्र में उन्हें दायें हाथ में नीलकमल धारण किये हुये विचारमग्न मुद्रा में दर्शाया गया है । बोधिसत्त्व के शरीर की भंगिमा (टिल्ट) एवं मुख का करुणा भाव दर्शनीय है (चित्र-81) ।

अजन्ता के अन्य विख्यात चित्रों में मरणासन्न राजकुमारी एवं कृष्णवर्णा श्रृंगार करती राजकुमारी की गणना की जा सकती है । माता पुत्र का चित्र भावांकन की दृष्टि से दर्शनीय है । इस चित्र में तथागत (भगवान बुद्ध) की शान्त छवि आकर्षक है । माता पुत्र भक्ति और श्रद्धा से शास्ता को निर्निमेष देख रहे हैं । 17वीं गुफा का यह चित्र बुद्ध की भिक्षाटन के लिए कपिलवस्तु की यात्रा की स्मृति दिलाता है । माता-पुत्र क्रमशः यशोधरा एवं राहुल हैं । हैवेल ने चित्र की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि उत्कृष्ट भावों की दृष्टि से यह चित्र जियोवनी बेलिनी की आश्चर्यजनक मेडोनाओं से तुलनीय है । लॉरेंस बिन्योन के अनुसार यह अजन्ता की अविस्मरणीय वस्तुओं में से एक है ।

चित्र–81 पद्मपाणि अवलोकितेश्वर गुहा सख्या १

भव्यता एव सुकुमारता की दृष्टि से इससे अधिक गभीर रुप से प्रभावित करने वाला कोई चित्र अन्यत्र नही है । 17वी गुफा एक से एक उत्कृष्ट चित्रों से भरी हुई है । इसमें वृत्तात्मक चित्रों का प्राधान्य है । यहा रुरु षडदन्त शिवि नालगिरि तथा विश्वन्तर जातकों का अकन है । इस गुफा में अक्नि सिंह और मृग के शिकार और हाथियों के समूह चित्रण भी असाधारण हैं । विश्वन्तर जातक के दृश्याकन में विश्वन्तर नामक राजकुमार के रुप में जन्म बोधिसत्व ने चमत्कारी शक्तियुक्त राजकीय हाथी अपना रथ उसके घोडे तथा अन्त मे अपने दोनो बच्चे भी दान कर दिय । एक अन्य दृश्य चित्र में ईर्ष्यालु देवदत्त द्वारा बुद्ध पर किय गय घातक प्रहार अकित हैं । दो बार असफलता मिलन पर उसन तीसरी बार एक क्रुद्ध हाथी को उन पर छोडा । बुद्ध को देखते ही क्रुद्ध पशु ठहर गया और प्रणाम करन लगा ।[5]

गुहा सख्या 16 में मरणासन्न राजकुमारी का चित्र (डाईंग प्रिंसेस) निःसदह कलाकार की एक मार्मिक कृति है । ग्रिफित्स बर्जेस तथा फर्ग्युसन न उक्त चित्र की मुक्तकठ स प्रशसा की है । सम्भवत यह बुद्ध क सौतल भाइ नन्द की पत्नी सुन्दरी का चित्र है जिसका दिल अपने पति क सघ प्रवेश के कारण टूट चुका है । उसकी निराश एव दृष्टिहीन आखों में वदना है । आसन्न मृत्यु की बेचैनी का दुरूह भाव राजकन्या के मुख पर सफलता से अकित किया गया है । चित्र को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार बेचैनी एव करुणा के भावों का चित्रण करने में सिद्धहस्त था । ग्रिफित्स ने उक्त चित्र स प्रभावित हो टिप्पणी करते हुय लिखा है कि कारुणिकता और भावुकता तथा इसकी कहानी कहने के सुस्पष्ट तरीके के कारण यह चित्र कला के इतिहास में अद्वितीय है । फ्लोरेंसी कलाकारों द्वारा इसस अच्छे रेखाचित्रों का निर्माण हो सकता था और वेनिस के चितेरे अच्छा रग कर सकते थे किन्तु दोनों में से कोई भी चित्र में इससे अच्छी अभिव्यक्ति नही ला सकता था ।

इस गुहा के एक अन्य चित्र में सिद्धार्थ के रात्रि में गृह त्याग करने का प्रदर्शन है । यशोधरा और राहुल निद्रा में निमग्न हैं । परिचारिकाएँ भी निद्रा की गोद में समाई हुइ हैं । शाक्यसिह को समूचे दृश्य पर मोह ममता रहित दृष्टि से निहारते अकित किया गया है ।

अजन्ता के चित्रशिल्प की विशेषताएँ—अजन्ता का कला केन्द्र प्राचीन भारतीय चित्रशिल्प की प्रगति का स्मारक है । यहाँ के उत्कृष्ट चित्रों ने समूचे विश्व के कलाप्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया । यह कला अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है । अजन्ता के चित्रों के निर्माण से भारतीय कला के क्षेत्र में नवीन आदर्शों की स्थापना हुई है । यहाँ की कला में जो आध्यात्मिक भावना दर्शित है उसमें एक अपूर्वता है । चित्रकला में ऐहिकता के साथ आध्यात्मिकता का अच्छा सामन्जस्य हुआ है । यद्यपि कलाकार नगरों ग्रामों राजप्रासादों तथा जन-जीवन के विविध पक्षों के निकट लगता है परन्तु यह बातें उसकी लम्बी यात्रा के पडाव मात्र हैं । उसकी मजिल तथा उसके उद्देश्य की निश्चित सीमा तो लौकिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त है । प्रकृति के तादात्म्य को ग्रहण करने और मानव की हास्य एव विनोद की प्रवृत्तियों को उभारने का जो प्रयत्न अजन्ता की चित्रावली में दिखाई देता है वह तो एक प्रलोभन मात्र है । एक ऐसा सस्ता विनोद जिसमें सहज ही में उलझ कर जिज्ञासु आग आग बढता जाता

५. १७ वी गुफा चित्रशिल्प की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय है । बर्जेस की विवरणिका में 61 दृश्यों की सूची है ।

है और अजन्ता की कला के महान अतीन्द्रीय उद्देश्य तथा उसके चरमोत्कर्ष का पता लगाने के लिए व्यग्र हो उठता है ।[6]

सुदूर पूर्व की कला के अधिकारी विद्वान लॉरेन्स बिन्योन के अनुसार अजन्ता की कला अपनी सशक्त रूपरेखा द्वारा जो प्रारंभिक एशियाई कला का आधार है पहचानी जाती है । आकृति एव चेहरे सजीव लगते हैं । उनमें शक्ति है अलग व्यक्तित्व है । जीवन की सबल चेतना है चितेरे अपने विषय के नियत्रण में थ तथा अपना कार्य श्रद्धा एव उत्साह से करते थे । अजन्ता की चित्रकला की निम्नलिखित उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं —

(1) जावन की विविधता —यहा के चित्रों का न तो पूर्णत मानव के ऐहिक जीवन से और न ही पूर्णत आध्यात्मिक जीवन से आबद्ध किया जा सकता है । अजन्ता की कला कृतियों मे जावन के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही पक्षा की सुन्दर अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है । कलाकार को नगरों के अशान्त जीवन एव ग्रामों के शान्त तथा सामान्य वातावरण के चित्रण में समान सफलता मिली है । समृद्धि एव वैभव से दरिद्रता एव निर्धनता तक सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का वास्तविक स्वरूप चित्रित किया गया है । चित्रों में प्रदर्शित वेष भूषा आमाद–प्रमोद रहन–सहन एव तत्कालीन सौन्दर्य सज्जा मुख्यत गुप्तकालीन सास्कृतिक छवि का यथार्थ परिचय देती है ।

(2) अभिव्यक्ति की प्रधानता —चित्र में अपक्षित भावों को रेखाओं वर्णों और तूलिका की सहायता से अभिव्यक्त करने की कला में अजन्ता के चितेरों को महारत हासिल थी । कलाकार प्रेम लज्जा हर्ष हास शोक चिन्ता भय उत्साह क्रोध घृणा विरक्ति शाति करुणा भक्ति विकलता आदि भावों की अभिव्यञ्जना में सिद्धहस्त था । गुहा सख्या एक में बोधिसत्व पद्मपाणि अवलोकितेश्वर के चित्र में प्रदर्शित अपूर्व करुणा भाव से 17 वीं गुफा में अकित माता पुत्र की भक्ति एव श्रद्धा भाव से (जिसकी हैवेल एव लॉरेन्स बिन्योन ने भूरि भूरि प्रशसा की है) 16 वीं गुफा में गृह त्याग के समय निद्रामग्न यशोधरा एव राहुल के प्रति सिद्धार्थ के वैराग्य भाव से तथा इसी गुफा के मरणासन्न राजकुमारी के चित्र में प्रदर्शित आसन्न मृत्यु की बेचैनी के भाव से उक्त कथन की पुष्टि होती है। मिफित्स ने इस चित्र की प्रशसा करते हुए लिखा है कि कारुणिकता और भावुकता तथा इसकी कहानी कहने के सुस्पष्ट तरीके के कारण यह चित्रकला के इतिहास में अद्वितीय है । फ्लोरेंसी कलाकार अच्छे रेखाचित्र बना सकते थे और वेनिस के चितेरे अच्छा रग कर सकते थे किन्तु दोनों में से कोई भी चित्र में इससे अच्छी अभिव्यक्ति नहीं ला सकता था ।

(3) नारी का उदात चित्रण—भारतीय परम्परा में नारी को पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । भारतीय धार्मिक चिन्तन में साहित्य में और मूर्तिशिल्प में सर्वत्र ही नारी प्रतिष्ठित है । अजन्ता में भी उसे सम्माननीय स्थान दिया गया है । चित्रकार ने नारी को आदर्श रूप में देखा है । उसका चित्रण निश्चित ही सैद्धान्तिक रूप में हुआ है मानवीय रूप में नहीं । वह विश्वजनीन सौन्दर्य का प्रतीक है । गौरव एर गरिमा की विभूति है । नारी इन्द्रियजनित आकर्षण का केन्द्र न होकर आध्यात्मिकता की परिचायिका है । ग्लैडस्टन सोलोमन ने इस सदर्भ में लिखा है सम्भवत कहीं भी अन्यत्र नारी को इतना अधिक सम्मान नहीं मिला है । उसकी स्पष्ट वास्तविकता के बावजूद अजन्ता में व्यक्ति यह

6 वाचस्पति गैरोला, भारतीय चित्रकला, पृ० 117

महसूस करता है कि नारी वहाँ व्यक्ति के रूप में नहीं वरन सिद्धान्त रूप में चित्रित है । वह वहाँ मात्र नारी नही है वरन् जगत के समस्त सौन्दर्य के अवतार रूप में चित्रित है ।

(4)पूर्वाग्रहों एव रूढियों से मुक्त कला — लेडी हेरिंघम ने अपने एक लेख में अजन्ता के चित्रों को ऐसे छ स्पष्ट वर्गों में रखा है जो विभिन्न कालों और शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनके विचार में इसे किसी एक शैली का विकास नही माना जा सकता । अजन्ता के चित्रशिल्प में जो शैलीगत विविधता दृष्टिगत होती है वह स्वत कला के पूर्वाग्रहों एव रूढियों से मुक्त होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है । रेखाओं की विभिन्नता क आधार पर यहाँ की कला में डेढ दर्जन से अधिक शैलियों की ओर सकेत किया जा सकता है । वर्ण योजना के आधार पर उससे भी अधिक शैलियाँ निकाली जा सकती हैं । चित्रों में विषयों की जो पुनरावृत्ति हुई है उसमें अलग-अलग हाथों ने अपना स्वतत्र कौशल दिखाया है । इसके परिणामस्वरूप उनमें नवीनता आई है । आलकारिक चित्रों के मूल में भी मौलिकता है ।

(5) वर्ण योजना तथा उत्कृष्ट रेखाकन —अजन्ता के चित्रकार ने विभिन्न रगों का प्रयोग जिस योजनाबद्ध तरीके से किया है उससे कलाकार की कुशलता का बोध होता है । यहाँ मुख्यत हरा गेरुवा काला नीला सफेद और लाल रग प्रयुक्त हुआ है । गहरे एव हल्के दोनों ही प्रकार के रगों का प्रयोग किया गया है । गहरे रगों का उपयोग करने के बाद भी चित्र बोझिल नहीं लगत । रगों के उपयोग की विधि निजी है । रेखाओं का उपयोग भी बडी कुशलता से किया गया है । रेखाएँ भावपूर्ण होने के साथ ही भारीपन से मुक्त हैं ।

(6) हाथ की मुद्राएँ भाव प्रदर्शन का माध्यम—विचारों और आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यञ्जना के लिए प्रयुक्त उपादानों में हस्तमुद्राओं का उल्लेखनीय स्थान है । कलाकार ने अपेक्षित भावों की अभिव्यक्ति के लिए हाथ की विविध मुद्राओं का जितना स्वच्छ एव सफल प्रदर्शन अजन्ता में किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । यद्यपि मुख की भगिमा एव नेत्रों का रूप भी कला के आकर्षण हैं । कलाकार की दृष्टि प्रत्येक मुद्रा में निष्णात है ।

अजन्ता के कलाकारों ने जो चित्र निर्मित किये हैं वह विश्व के लिए एक साकार स्वप्न की भाति हैं । यहाँ की चित्रकारी शताब्दियों पूर्व की गई थी परन्तु आज भी सुरक्षित चित्रों के रूप और रग में उसका वास्तविक सौन्दर्य उसी प्रकार प्रभावशाली है । यहाँ की कला शास्वत और चिरन्तन होने के साथ ही परवर्ती चित्रकारों की प्रेरणा का भी स्रोत है । राजपूत मुगल तथा पहाडी सरीखी विख्यात चित्रशैलियाँ अजन्ता से किसी न किसी रूप में प्रेरित और प्रभावित हैं । आधुनिक चितेरों ने भी अजन्ता की कला से प्रेरणा ली ।

अध्याय 13

राजपूत एवं पहाड़ी चित्रकला

मुगलेतर भारतीय चित्रकला के प्रारंभिक अध्ययन और वर्गीकरण का श्रेय आनन्द कुमारस्वामी को ही दिया जाना चाहिए । उन्होंने इस शताब्दी के द्वितीय दशक में राजपूत पन्टिंग पर लिखी अपनी पुस्तक में अनेक सुझाव दिये थे । उनके अनुसार राजपूताना बुन्देलखण्ड तथा पजाब की चित्रकला सामान्यत राजपूत चित्रकला के नाम से जानी जाती है । इस कला के ज्ञात उदाहरण 16 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 19 वीं शती तक विस्तृत है और दो वर्गों में विभाजित है (अ) राजस्थानी (राजपूताना और बुन्देलखण्ड) (ब) पहाडी । द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत भी दो भाग है—एक के अन्तर्गत सतलज के सभी पश्चिमी पर्वतीय राज्यों की चित्रकला जिसे जम्मू स्कूल कहा जाता है सम्मिलित है तथा द्वितीय के अन्तर्गत सतलज के सभी पूर्वी पर्वतीय राज्यों की कला का उल्लेख किया जाता है जिसे कागडा स्कूल कहते हैं । कागडा स्कूल के अन्तर्गत ही शिमला के पूर्व में स्थित गढवाल राज्य की चित्रकला भी रखी जाती है । गढवाल शैली की चित्रकला का प्रारभ 18 वी शती में कागड़ा शैली के आधार पर ही हुआ। रणजीत सिंह एव शेरसिंह के काल की (1790 1843 ई) चित्रकला जो मुख्यत लाहौर और अमृतसर में विकसित हुयी भी कागडा स्कूल से ही निकली है ।

राजपूत चित्रकला की पृष्ठभूमि —राजपूत चित्रकला की पृष्ठभूमि में गुजराती शैली की चित्रकला को रखा जा सकता है । इसे विद्वानों ने गुर्जर शैली जैन शैली पश्चिमी हिन्द शैली तथा अपभ्रश शैली सरीखे अनेक सम्बोधनों से पुकारा है । पश्चिमी भारत में 11 वी शती में उदित होने वाली चित्रशैली का प्रभाव मध्यभारत के अनेक स्थलों तक बना रहा । इस शैली में जैन एव जैनेतर चित्रित ग्रथों एव अनेक दृष्टान्त चित्रों का निर्माण किया गया । जैन कल्पसूत्रों कालकाचार्य कथा उत्तराध्ययन सूत्र निशीथचूर्णिका आदि ग्रथों के दृष्टान्त चित्र इस शैली के अन्तर्गत निर्मित हुए । इस शैली के जैनेतर सचित्र ग्रथों में गीत गोविन्द देवी माहात्म्य रति रहस्य बसन्त विलास तथा भागवत का उल्लेख किया जा सकता है । यह चित्रित ग्रथ 11 वीं से 15 वी शती के मध्य निर्मित हुये । इनमें जयदेव के गीतगोविन्द नामक कृष्ण काव्य विषयक गीतिकाव्य के चित्रों ने अत्यन्त प्रसिद्धि पायी । इस ग्रथ की रचना बगाल के राजा लक्ष्मणसेन के काल में हुयी । उक्त ग्रथ की कुछ आलोचकों ने उत्कृष्ट श्रृंगार का निकृष्ट ग्रथ कहकर आलोचना की है ।

मजुलाल रणछोडलाल मजूमदार ने गुजराती शैली की विशेषताओं का उल्लेख करते हुये लिखा है कि अजन्ता बाघ और एलौरा के भित्ति चित्रों की समृद्ध परम्परा को ताडपत्रीय पोथियों के लघुचित्रों के रूप में सुरक्षित रखने का श्रेय गुजराती शैली को ही जाता है । गुजराती शैली ही राजपूत चित्रशैली की जननी है । उनके विचार में नदी, पर्वत वृक्ष पृथ्वी अग्नि सागर आदि के चित्रण में जो सौन्दर्य राजपूत चित्रशैली में दिखाई देता है वह गुजराती शैली की ही देन है । राजपूत शैली के रागमाला चित्रों की परम्परा का केन्द्र वस्तुत लाट देश के चितेरों की शैली है । पुरातन भित्ति चित्रों तथा राजपूत-मुगल शैली के चित्रों के बीच की परम्परा में जो परिवर्तन हुए उनका इतिहास जानने के

एक मात्र साधन गुजराती शैली के चित्र ही हैं अकबर की शाही चित्रशाला में गुजरात के करीब सात चित्रकार थे जिनमें केशव माधव और भीम प्रसिद्ध थे ।

गुजरात शैली अथवा जैन शैली को रायकृष्णदास ने अपभ्रश शैली नाम से सम्बोधित करना उचित समझा है । इस शैली के चित्र ताडपत्रीय पोथियों कपडे और कागद पर मिलते हैं ।यह चित्र अब अमेरिका और ब्रिटेन के समहालयों में सुरक्षित हैं । इस शैली की अधिकाश सचित्र पोथियाँ जैनधर्म से सम्बद्ध हैं । मारवाड में भी इस शैली के चित्रों का निर्माण हुआ । जोधपुर के किसी ज्ञान भडार से प्राप्त 15 वी शती के पाण्डव चरित नामक महाकाव्य के कुछ चित्रों को भी अपभ्रश शैली का बताया गया है । 15 वी शती के लगभग गुजरात और मेवाड में जिस राजपूत शैली का उदय हुआ था वह अपभ्रश शैली का ही नवीन सस्करण था । रागमाला श्रगार और कृष्णलीला विषयक जिन चित्रों का निर्माण राजपूत शैली क कलाकारों ने किया उनके विषय अपभ्रश शैली से लिये गये हैं ।

विद्वानों में नामकरण की भाति अपभ्रश शैली के उदगम स्थल के सम्बन्ध में भी विवाद है । कुछ विद्वान उमे गुजरात मे बताते हैं किन्तु लामा तारानाथ ने उसे मारवाड में माना है । दक्षिण भारत में अपभ्रश शैली के पुरातन चित्रों का प्राधान्य है । मोतीचद इसी कारण दक्षिण को इसका उदगम स्थान मानते हैं । सर्वप्रथम एलोरा के कैलाशनाथ मदिर के 8 वी 9 वीं शती के चित्रों में इस शैली के दर्शन होते हैं ।

चित्रकला की उत्पत्ति एव प्राचीनता —राजपूत शैली की चित्रकला की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्राय अलग-अलग धारणाएँ व्यक्त की गयी हैं । इस शैली का आशिक निर्माण गुजरात और मेवाड के क्षेत्रों में 15 री शताब्दी के लगभग हुआ । कुछ विद्वानों की यह मान्यता रही है कि राजपूत शैली मुख्यत जहाँगीर कालीन मुगल शैली की एक शाखा मात्र थी । इस मत की पुष्टि स्वरूप यह तर्क दिया जाता है कि 16 वी सती तक का कोई भी राजपूत शैली का चित्र तिथियुक्त नहीं मिलता । उतराध्ययन सूत्र की जिस सचित्र प्रति पर 1591 की तिथि दी गई है उसको जैन-गुजराती मिश्रित शैली सिद्ध किया गया है । कुछ अन्य तिथियुक्त कृतियों को भी उन नवीन स्थानीय शैलियों का बता दिया गया है जिनका इतिहास अज्ञात है । किन्तु राजपूत शैली की चित्रकला को जहाँगीर कालीन मुगलशैली की एक शाखा मानना तथ्यों को उपेक्षा करना है । मुगल शैली स राजपूत शैली नितान्त भिन्न है । जो समानता मुगल और राजपूत शैलियों के लघुचित्रों में दिखाई देती है वह अकबर के काल मे सम्बन्ध रखने वाली चित्रकला में पायी जाती है उसके पूर्व की कला में नहीं । वस्तुत अधिकाश राजपूत शैली के चित्र अब नष्ट हो चुके हैं ।

आधुनिक काल में जिन अनेक विद्वानों ने राजपूत चित्रकला पर नये सिरे से शोध किये उनमें बासिल ग्रे (राजपूत पेन्टिंग) ओ सी गागुली (मास्टरपीसेज ऑव राजपूत पेन्टिंग्स) तथा हरमन ग्वेत्स (इण्डियन पेन्टिंग इन द मुस्लिम पीरियड ए रिवाइज्ड हिस्टॉरिकल आउटलाइन) प्रमुख हैं । राजपूत चित्रकला के सदर्भ में नये शोधों के अनुसार यह कला शैली 16 वी शताब्दी से भी प्राचीन है । दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पहले ही यहाँ राजपूत वशों के प्रभुत्वकाल में चित्रकला का विकास प्रारम्भ हो चुका था । इस समय की कला दरबारों की कला थी जो अब नष्ट हो चुकी है ।

काशीप्रसाद जायसवाल ने द्विवेदी अभिनन्दन ग्रथ में प्रकाशित अपने एक लेख में यह अभिमत

व्यक्त किया था कि मुसलमानों के भारत आगमन से पूर्व ही राजपूत शैली का विकास हो चुका था । उनके विचार में परमार राजा उदयादित्य (भोज के भतीजे) के काल में 11 वी शताब्दी में कुछ चित्र बने थे । दक्षिणात्य राजाओं पर अपनी विजय की स्मृति में उदयादित्य ने एलोरा की गुफाओं में कुछ चित्र बनवाये थे । ये चित्र युद्ध विषयक हैं जिन पर 'प्रमार' लिखा हुआ है । इन चित्रों में अकित बडी–बडी मूछें और ऊपर कपोलों की ओर चढी हुई दाढी राजपूती वेश–भूषा की नकल है । यह चित्र सैनिकों के हैं जिनमें कुछ तो घोडों पर सवार हैं और कुछ पैदल हैं । यह चित्र रगीन हैं और राजपूत–मुगल शैली से पहले के हैं । चित्रों में (स्वस्ती स्रि प्रमारराज) प्रयुक्त नागरी अक्षर उदयादित्य के समय की लिपि से मिलते हैं । इन चित्रों पर मुगल शैली के चित्रों का कोई प्रभाव नहीं है ।

प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित गीतगोविन्द की सचित्र प्रति (17 वी शती का मध्य) चावन्ड (मेवाड में प्रताप की नयी राजधानी) में 1604 ई में चित्रित रागरागिनी के चित्र नेशनल म्यूजियम में सुरक्षित नायक–नायिकाओं के 1640 ई में निर्मित चित्र और जगतसिंह प्रथम (मेवाड नरेश) के समय में चित्रित अनेक पाण्डुलिपियाँ एव बहुत से स्फुट चित्र राजपूत शैली के प्राचीन अस्तित्व का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

राजपूत शैली की प्राचीन समृद्धि के परिचायक सूत्र—हरमन ग्वेत्स ने राजपूत अथवा राजस्थानी शैली की प्राचीनता की ओर सकेत करने वाले निम्न बिन्दुओं का उल्लेख किया है —

1 ग्वालियर दुर्ग में राजा मानसिंह तोमर (1486-1516 ई) कालीन आकृति युक्त जालियाँ फर्श तथा दीवारों पर बने चित्र ।

2 जयपुर के पोथीखाना में रज्मनामा पर आधारित चित्र (1583 1587 ई) जिनकी शुद्ध मुगल पृठभूमि में पूर्णत विकसित राजपूत शैली विद्यमान है ।

3 बैराट में मानसिंह कछवाहा के उद्यान भवन के भित्तिचित्र जिनकी तिथि 1586 87 ई निर्धारित की गयी है ।

4 अम्बर के राजा बिहारीमल और भगवानदास की छतरियों के छतों पर बने चित्र जा 16 वीं शती के अन्तकाल में रख जाते हैं ।

5 अम्बर मथुरा वृन्दावन और नूरपुर के कछवाहा मदिर पर बने चित्र जो 1570 1613 ई के बीच के हैं और जिनमें प्राचीन राजपूत कला के अस्तित्व के प्रमाण हैं ।

6 समस्त राजस्थान में फैली स्मृति शालाएँ (पालियाँ) जो बीकानेर मारवाड और जयपुर में 15 वीं शती के अन्त में निर्मित हुई तथा जिनमें तत्कालीन राजपूत शैली के सर्वोच्च सभी गुण हैं ।

7 ओरछा (म प्रदेश) के राजमहल पर बने जहाँगीर कालीन भिति चित्र ।

8 भागवत की एक सचित्र पाण्डुलिपि से यह विदित होता है कि असम र्म 1539 ई में एक समानान्तर शैली का अस्तित्व था । इसी प्रकार विजयनगर के सिंहासन की छत को देखकर पता चलता है कि दक्षिण में एक मिलती–जुलती चित्र शैली का प्रचलन था ।

9 राजपूत चित्रकला भारत में मुस्लिम सल्तनत प्रतिष्ठित होने से पहले की है । मुगल सल्तनत के काल में भी हिन्दू चित्रकारों द्वारा जिस चित्रशैली का निरन्तर निर्माण एवं विकास हो रहा था

वही राजपूत शैली के नाम से विख्यात हुई ।

उक्त विवरण से इस बात का आभास होता है कि राजपूत अथवा राजस्थानी शैली की चित्रकला का इतिहास 16वी शताब्दी से अधिक पुरातन है । कालान्तर में मुगल चित्रकला के साथ-साथ भी राजपूत चित्रकला की प्रगति हुई ।

राजपूत चित्रशिल्प के प्रमुख केन्द्र — राजपूत शैली के चित्रों का अस्तित्व राजपूत महलों (दतिया ओरछा उदयपुर बीकानेर) में देखा जा सकता है । प्राचीनतम राजपूत शैली के चित्रों में कृष्ण लीला का चित्राकन उल्लेखनीय है । अन्य महत्वपूर्ण चित्रों में रागमाला चित्रों की प्रथम तथा द्वितीय सीरीज की गणना की जा सकती है । दोनों ही सीरीज के चित्रों की तिथि 16 वीं शती का उत्तरार्द्ध है । यह चित्र विशुद्ध राजपूत शैली के हैं । रागमाला चित्रों की तृतीय सीरीज पर मुगल शैली के प्रकाश और छाया (टोनैलिटी) के प्रभाव का अनुकरण स्पष्ट है । 18 वीं शती के प्रारम्भ में यह प्रभाव उत्तम रासलीला चित्रों में अधिक विस्तृत है जो जयपुर राजमहल पुस्तकालय में उपलब्ध हैं । रागमाला चित्रों में 36 राग और रागिनियों अर्थात सगीत के भावों (मूडस) का प्रदर्शन हुआ है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार के चित्र विविध रागों द्वारा उत्पन्न (इवोक्ड बाइ वेरियस मोडस) एव अभिव्यक्त अलग-अलग भावों के उपयुक्त परिस्थित का चित्रण करते हैं । इन चित्रों में प्राय परिस्थितियों का अत्यधिक काव्यात्मक और सजीव चित्रण करने वाली कविता लिखी रहती है ।

ग्वालियर और अम्बर—राजपूत कला केन्द्रों में ग्वालियर तथा अम्बर उल्लेखनीय हैं । ग्वालियर के मानसिंह तोमर (1486 1516 ई.) का दरबार कला का केन्द्र था । यहाँ गुजराती परम्परा से भिन्न किन्तु राजपूत और अकबर युगीन कला से प्रभावित चित्र शिल्प का विकास हुआ । लोदियों की ग्वालियर विजय (1518 ई.) के पश्चात छिन्न-भिन्न कलाकारों के कारण ग्वालियर कला का सर्वाधिक प्रभाव बुन्देलखण्ड पर पडा । दतिया के राजा वीरसिंह देव के महल की छत का रासलीला विषयक चित्र एव ओरछा के राजमहलों के चित्रों में अशत अकबर शैली एव वैराट तथा अम्बर के भित्ति चित्रों का प्रभाव है । 16वी शताब्दी के मध्य से लेकर जहाँगीर के शासन तक अम्बर के मन्दिरों में पुरानी अविकसित राजपूत शैली के चित्र मिलते हैं । पूर्णत विकसित चित्रों में अम्बर के शाहपुरा द्वार के समीप विहारीमल (1584 ई) और भगवानदास (1589 ई) की छतरियों तथा बैराट के मानसिंह के उद्यान भवन (1586 87 ई) के चित्र हैं । जयपुर के रज्मनामा (1583 84) के चित्रों में भी अम्बर शैली का प्रभाव है ।

मेवाड़ शैली—राजस्थान की चित्रकला का विकास विभिन्न स्थलों में अनेक कलाकारों के सहयोग से हुआ । मेवाड चित्रकला की प्राचीनतम उपलब्ध कलाकृति रूपासनाचर्यम् (1423 ई) है। इसका उल्लेख विजयवल्लभ सूरी स्मारक मथ में हुआ है । सामग्री के अभाव में मवाड शैली का 16वीं शती ई में स्वरूप निर्धारण कठिन है । चित्तौड मेवाड उदयपुर तथा नाथद्वारा प्रमुख केन्द्र थे । कृष्ण द्वारा राधा की प्रतीक्षा (17 वीं शती) तथा भागवत की उदयपुर केन्द्र की सचित्र प्रति में मेवाड शैली के सर्वोच्च रूप के दर्शन होते हैं । रामायण की चित्रित प्रति (1651 ई की उदयपुर सरस्वती भडार मे) केशवदास की रसिक प्रिया (17 वीं शती की मेवाड शैली की पाण्डुलिपि बीकानर दरबार के सग्रह में) तथा सूरसागर' पर निर्मित चित्रों (गोपीकृष्ण कनोडिया सग्रह 1650 51 ई के) के अतिरिक्त पशु एवं प्रकृति के चित्र भी निर्मित हुये । इस शैली का उन्नत काल 16 वीं 17 वीं शताब्दी

था । मेवाड शैली की आरम्भिक कृतियों में कलात्मक अभिरुचि दर्शनीय है । फिनिशिग की बारीकी सुहावने रग तथा लैंडस्केप की सज्जा आदि आकर्षक हैं ' यह शैली जन मामान्य म भी लाकप्रिय रही क्योंकि चित्रकारी के विषय लोकरुचि क अनुकूल थ । 17वा शता क अन्त तक मवाड शैली म परम्परागत सौन्दर्य की कमी कलाध्येयों की कमी तथा व्यापार भावना की वृद्धि हा चली । अत्र इस कला का विस्तार राजाओं के अतिरिक्त सामन्तों धनिकों और आचाया तक हा गया । भक्तिरत्नावली पृथ्वीराज रासो दुर्गामाहात्म्य और पचतत्र पर आधारित चित्रा क अतिरिक्त योरोपीय शैली पर आधारित चित्र भी बने है । नायिका भेद बारहमासा तथा रागमाला क चित्र भी निर्मित होत रहे । 18 वी और 19 वी शती क मवाडी शैली के चित्रों में यथार्थ चित्रण की प्रधानता क कारण आकर्षण की कमी है ।

मारवाड़ आर बीकानर—मारवाड शैली की आकृतियाँ कद में छोटी आर बहुधा स्थूलकाय ह । सिर नीचे और गाल हैं मस्तक पाछ की आर झुक हुये हैं । अम्बर की अपक्षा मारवाड शैला का पाशाक तथा आभूषण भी भिन्न हं । मारवाड में औरगजेब और बहादुरशाह क विरुद्ध सघर्ष ने एक नये वीर युग का जन्म दिया । चित्रकला की स्थिति उन्नत थी । अभयसिह (1724 1750 ई) बखतसिंह (1726 53 ई) के समय मारवाड में नवीन राजपूत शैली का विकास हुआ । विनयसिह के समय यह शली श्रगार प्रधान हुई और मानसिंह (1803 -43 ई) के समय पराकाष्ठा को पहुँची । तखतसिंह (1843 73 ई) क समय भद्दी और अश्लील बन कर शिथिल पड़ गयी । राजपूत शैली की एक शाखा बीकानर म उदित हुई । रायसिंह (1571 .611 ई) के समय की मघदूत की एक सचित्र पाण्डुलिपि मात्र मिलती है । यह प्रति बीकानेर शैली की कला की आरम्भिक अवस्था की द्योतक है । रायसिंह ने उदयपुर जोधपुर तथा अम्बर राज्यो से लघुचित्रों का सग्रह भी किया था । बीकानेर शैली के चित्रों का प्रौढरूप अनूपमहल तथा फूलमहल की सज्जा में तथा चन्द्रमहल और सुजानमहल के द्वारों की चित्रकारी में दिखाइ दता है । इसक अतिरिक्त रागमाला एव बारहमासा के दृष्टान्त चित्र भी उल्लखनीय हैं । यहाँ क अधिकाश चितेरे मुसलमान थ । राजपूत चित्रकला पहले रनिवासों, फिर सामन्तों और वहाँ से छोटे-छोटे स्थानीय केन्द्रा में पहुँची । मुगलों क प्रभुत्व की वृद्धि के साथ राजपूत दरबारों में मुगल शैली का प्रचलन हुआ । राजनीतिक परिवर्तनों ने कला क विकास को प्रभावित किया। 19 वी शती में अग्रजा क आगमन क समय राजाआ का जावन विलासमय युद्ध साहस और रुचियाँ क्षीण हा गयी ।

किशनगढ़ अथवा कृष्णगढ़ शली—मारवाड शैली की एक उन्नत शाखा कृष्णगढ शैली के रूप में विकसित हुयी । किशनगढ एक समय बल्लभ सम्प्रदाय का एक प्रमुख कन्द्र था । राधा-कृष्ण एव कृष्ण लीला सम्बन्धी अनेक चित्रों का निर्माण इसी भावना से होता रहा । इस शैली क प्राचीन चित्रों में वल्लभाचार्य के चित्र हैं ।किशनगढ के राजा सहसमल (1616 ई) का चित्र कलात्मकता एव प्राचीनता की दृष्टि म उल्लखनीय है । यहाँ क प्रमुख चित्रकार थ निहालचन्द उमरचन्द व सीताराम । किशनगढ की चित्रशैली के इतिहास में महाराज सामन्तसिंह और उनक चित्रकार निहालचन्द का वही स्थान है जा कागडा की शैली में महाराज ससारचन्द और उनके कलाकार का स्थान है । इस शैली में नारी सौन्दर्य का चित्रण जितना भी सभव हो सकता है किया गया । राधा का चित्र अपनी माहनी छवि क कारण समस्त राजस्थानी शैली क उत्कृष्ट चित्रों में माना जाता है । शुक नासिका कमान **की तरह**

भवें मत्स्याकार आखें आदि सभी श्रगार रस पूर्ण चित्र के पूरक अग है । इस शैली के अन्तर्गत राजा महाराजाओं सामन्तों सन्तों गायकों नायक नायिकाओं आदि के छवि चित्रों का मुख्यत अकन हुआ है । इसके साथ ही प्रकृति चित्रण उत्सव नौका विहार आदि का भी अकन समुचित मात्रा में किया गया है । यहाँ के चित्रों में वर्ण योजना वस्त्रों की साज–सज्जा तथा आभूषणों की दृष्टि से परिधानों के उपर लम्बी लटकी मोतियों की लडों का चित्रण अत्यन्त सुन्दर है ।

कोटा बूदी कलम—राजस्थानी चित्रशिल्प का एक अन्य केन्द्र कोटा–बूदी नाम से विख्यात है। इस शैली के अनेक सुन्दर चित्र विदेशों में पहुँच गये हैं । बूदी के 18 वी शती के लघु चित्रों में जोधपुर शैली का प्रभाव तथा पोशाक में जयपुर शैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है । इस शैली का सर्वोच्च सग्रह विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्युजियम लन्दन में है । बूदी कलम पर अम्बर शैली का प्रभाव है । बूदी कलम का स्थानीय वैभव कुछ समय पश्चात कोटा राज्य में उदित हुआ । कोटा नरेश उमदसिह के समय कोटा शैली की उन्नति हुई । यहाँ व्यक्ति चित्रों के अतिरिक्त पशु एव प्रकृति दृश्यों का भी अकन किया गया है । हरे रग की पृष्ठभूमि में गुलाबी और भूरे रगों का समन्वय कोटा शैली की नवीनता को व्यक्त करता है । रामसिंह (1826 1866 ई) के समय दृश्याकन की सूक्ष्मता एव भावाभिव्यञ्जना उल्लेखनीय है ।

राजपूत चित्रकला की विशषताएँ—अजन्ता की बौद्ध कला के पश्चात् तथा मुगलकालीन चित्रशिल्प के पूर्व की चित्रकारी के नमूनों में स मात्र कुछ भित्ति चित्रों के अतिरिक्त अब कुछ शेष नही रहा । किन्तु कुछ चित्रित जैन पाण्डुलिपियाँ मुगल युग के आगमन तक चित्रशिल्प की अविच्छिन्नता की ओर सकेत करती हैं । कुमारस्वामी नामक विख्यात कलाविद् क अनुसार राजपूत चित्रकला मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के प्रत्यक चरण का प्रदर्शन करती है । वस्तुत इसक कथानकों को बिना भारतीय महाकाव्यों कृष्णलीला साहित्य सगीत और कामशास्त्र का सम्यक ज्ञान प्राप्त किये नही समझा जा सकता ।[1] मुगल दरबार के हिन्दू चितेरों की कृतियों से अभिभूत हो अबुल फज्ल ने कहा था कि उनके चित्र वस्तुओं की हमारी कल्पना स श्रेष्ठ थे । वस्तुत विश्व में कुछ ही चित्र उनकी बराबरी के हैं । निश्चित ही उक्त हिन्दू चितेरे राजपूत शैली की चित्रकला की कल्पनाशीलता की ओर सकेत करते हैं । राजपूत शैली की चित्रकला की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं

(1) राजपूत चित्रशैली भारतीय मूल की है और उसका प्रारम्भ भित्ति चित्रों से हुआ । उसके प्रतिमान (नार्म) तथा सविधान (टेक्नीक) भी भारतीयता से ओत–प्रात हैं ।

(2) राजपत शैली की सभी शाखाआ का चित्रशिल्प 18 वी शताब्दी तक विकसित हो चुका था। इसका प्रारभ 15 वी शती के उत्तरार्द्ध स 16 वी शती के पूर्वार्द्ध के मध्य हो चुका था ।

(3) राजपूत चितेरों क कला विषयों का विस्तार सम्पूर्ण जन जीवन में है । जैसे बुनाई करता जुलाहा छपाई करता रगसाज शीत ऋतु में अलाव के पास आग सकते कृषक प्रेम पत्र लिखती कोई प्रेमिका आदि । इस शैली के चित्रों में कल्पना तथा रूमानीपन (रोमान्टिसिज्म) का सयोग है ।

(4) इस शैली के चित्रों में काव्यमयी कल्पना की अभिव्यक्तियों का आधिक्य है । कृष्ण के

1 कुमारस्वामी पूर्वोक्त पृ 128

लीलामय रूपों एव व्रजभूमि के सुन्दर दृश्यों स धार्मिक निष्ठा तथा सौन्दर्यबोध झलकता है ।

(5) नारी जीवन के श्रगार रूप परसेवा भाव मातामयी ममता आदि विभिन्न रूपों को राजपूत चितेरों ने आदर्शमय तरीके से चित्रित किया है ।

(6) राजपूत कला में वैष्णव एव शैव गाथाओं पर आधारित विशेषत कृष्ण सम्बन्धी चित्रों का बाहुल्य है । महाकाव्यों के अतिरिक्त पौराणिक चित्र भी हैं । किन्तु सामान्य जीवन से सम्बन्धित चित्रों एव पशु-पक्षी आदि के चित्रों की नी कमी नहीं है ।

(7) इस शैली के चित्रों की वर्ण योजना तथा अलकरण सज्जा इत्यादि यथार्थवादी नहीं है । मारवाडी घाघर अथवा लहगे की शोभा सजावट आदि का अकन चितेरे का रुचिकर विषय रहा है ।

(8) राजपूत शैली म आदर्शमय हिन्दू जीवन की पौराणिक परम्पराओं के साथ ही सौन्दर्य का भी समावश था । इस शैली में सूर तुलसी एव मीरा की वाणियों का प्रभाव होने के साथ ही ऐहिक प्रेम वर्णन मे भी पारलौकिक प्रणय की छाप है ।

(9) इसमें राधा कृष्ण एव गोपियों के चित्रों में आध्यात्मिक प्रेम भावना की प्रधानता है ।

(10) इस शैली क चित्रों में चितेरों का नाम नही मिलता है ।

(11) राजपूत शैली के चित्रों का विस्तार कुछ नगरों तक नही होकर भारत के विस्तृत भूभागों में था जिममें गजस्थान पजाब हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरप्रदेश सम्मिलित थे ।

(12) इस शैली के चित्रों की एक विशेषता यह है कि उनमें विदेशी प्रभाव साफ झलकता है ।

(13) राजपूत शैली के चित्रों की रेखाओं रगों तथा विषयों के चित्रण आदि से इगित होता है कि कला में यह परिष्करण दीर्घकालिक अभ्यास एव अध्ययन का प्रतिफल है ।

(14) राजपूत शैली के चित्र प्राय दीवारों पर अंकित है किन्तु कागद पर वह छोटे आकार के होते हैं ।

कुमारस्वामी क विचार में राजपूत चित्रकला ऐसी सामन्ती लोककला है जो समाज के सभी वर्गों को प्रभावित करती है । सतुलित एव सगीत मय है । राजपूत शैली के कुछ चितेरों के नाम मिलते हैं जिनमें लालचद साहिबराम लक्ष्मनदास हुकमचद सालगराम मन्नालाल रामचदर मुरली और गगाबख्श का नाम लिया जा सकता है । राजपूत कला के प्रमुख आश्रयदाता नरेशों में जयसिंह ईश्वरीसिंह प्रतापसिंह रामसिह तथा रावल शिवसिंह का नाम लिया जा सकता है ।

पहाड़ी शली—मुगल शैली की पृष्ठभूमि पर तथा राजपूत शली की चित्रकला के सविधानों को लेकर पर्वतीय रियासतों में जिस चित्रशैली का विकास हुआ उसे पहाडी चित्रकला नाम दिया जाता है। नि सन्देह पहाडी शैली की चित्रकला के उदय में मुगल दरबार के आश्रय विहीन हो गये उन चितेरों की प्रमुख भूमिका रही जिन्होंने विभिन्न पर्वतीय क्षेत्रों की स्थानीय रियासतों में आश्रय प्राप्त किया । इस शैली की चित्रकला का प्राण स्रोत निश्चित ही राजपूत चित्रकला है । 17 वीं शताब्दी में मुगल बादशाह औरगजेब की उपेक्षा क कारण तथा 18 वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के विघटन से दरबार क सरक्षण मं पनप रही मुगल चित्रकला की गति पूर्णत अवरुद्ध हो गयी । दरबारी चितेरों ने बदली हुई परिस्थिति में नये आश्रयों की खोज की । नये आश्रय की खोज में निकले मुगल दरबार के

उपेक्षित चित्रकारों ने कागडा दून की रियासतों में प्रवेश किया । उन्ही चितेरों के हाथों पहाडी शैली का बीजारोपण हुआ ।

राजपूत चित्रकला के एक अनुभाग के रूप में पहाडी चित्रकला नाम सुविदित है । पहाडी चित्रकला के दो वर्ग हैं —एक वर्ग के अन्तगत सतलज नदी के पश्चिमी पवतीय राज्यों की चित्रकला जम्मू स्कूल के नाम से जानी जाती है । द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत सतलज नदी के सभी पूर्वी पर्वतीय राज्यों की कला का उल्लेख कागडा स्कूल के नाम से किया जाता है । कागडा स्कूल के अन्तर्गत ही गढवाल राज्य में विकसित चित्रकला को रखा जाता है । कहा जाता है कि कागडा नरेश ससारचन्द्र की दो कन्याएँ गढवाल नरेश को ब्याही गयी । इस वैवाहिक सम्बन्ध के कारण कागड के चित्रों एव चितेरों ने गढवाल में प्रवेश किया । इसी समय से गढवाल में पहाडी शैली की चित्रकला का प्रारम्भ हुआ । कागडा से गढवाल दहेज में आये चित्रों में गीतगोविन्द और बिहारी चित्रावली अत्यन्त प्रभावशाली है । सक्षेप में कहा जा सकता है कि राजपूत शैली ने पहाडी रियासतों म जो स्वरूप पाया उसे पहाडी शैली का नाम दिया जाता है ।

आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार 17 वी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में कुछ नवीनताओं को लिय हुए पजाब की पहाडी रियासतों में विशेषत डोगरा के पहाडी राज्यों में जम्मू सहित एक चित्रकला शैली विकसित हुई । यहाँ के चित्रों को उनकी शैली के अतिरिक्त उनकी ताक्री लिखावट से पहचाना जा सकता है । उदाहरण के लिए रामायण के बृहत चित्रों का उल्लेख किया जा सकता है विशेषत लका के घेर (सीन आव लका) से सम्बन्धित चित्र । यहाँ रेखाकन उतना सवेदनशील नही है किन्तु सम्पूर्ण चित्र चमकीले रग एव पृष्ठभूमि की अनुरूपता आदि सभी प्रशसनीय है । व्यक्ति चित्रों का निर्माण 17 वी के उत्तरार्द्ध तथा 18 वीं शताब्दी में हुआ । भव्य व्यक्तिचित्र कुछ स्थानीय शारीरिक विशेषताएँ लिये हुए हैं जैसे पीछे की ओर ढलुआ मस्तक (रिट्रीटिंग फोरहाड) प्राय पगडी में ताज फूलों का प्रयोग दिखाया गया है जो पहाडों तक सीमित विशेषता है । इस स्कूल की चित्रकारी में प्राय जिन विषयों का अकन हुआ है उनमें राजस्थानी शैली स कुछ भिन्न प्रकार के वर्गीकरण पर आधारित रागमाला चित्रों तथा नायक–नायिका भेद से सम्बन्धित चित्रों का उल्लेख किया जा सकता है । अलकार शास्त्रियों (रिटॉरिसियन्स) क ग्रथों का अनुसरण करते हुए नायिकाओं का उनकी वय स्वभाव तथा परिस्थितियों के अनुसार वर्गीकरण प्रदर्शित करन का प्रयास चितेरों ने किया है ।

अन्य पहाडी स्कूल यथा कागडा (गढवाल तथा सिख स्कूल सहित) 18 वी शताब्दी के अन्तिम चतुराश तथा 19 वी शती के प्रारंभिक वर्षों में विकसित हुआ । कागडा स्कूल अपने विकास की पराकाष्ठा को अन्तिम महान कटौच शासक ससारचन्द्र (1774 1823 ई) के काल म प्राप्त होता है । कागडा स्कूल के प्रिय कथानक हैं —कृष्ण लीला नायक–नायिका भेद तथा महाकाव्यों के प्रसिद्ध प्रणय प्रसग जैसे नल–दमयन्ती कथा आदि । कागडा शैली ने अपनी समन्वयवादी प्रकृति के कारण ही अन्य सहयोगी शैलियों के साथ अपना सम्बन्ध बनाय रखा । यद्यपि आज जम्मू गढवाल कुल्लू, चम्बा बसौली कागडा गुलेर मडी आदि की चित्र शैलियाँ हमारे सम्मुख विद्यमान हैं जो स्वतत्र अस्तित्व रखती हैं किन्तु वास्तव में व परस्पर इतना सयुक्त हैं कि किसी एक का अध्ययन बिना सबके इतिहास का अध्ययन किये नहीं किया जा सकता । डब्ल्यू जी आर्चर ने कागडा के प्रारंभिक चित्रों पर पश्चिम के प्रभाव का उल्लेख किया है । आचर क उक्त विचार को अनेक विद्वान स्वीकार

करने में कठिनाई महसूस करते हैं । कागडा की चित्रकला को जीवन और गति देन में गुलेर और बसौली (जम्मू राज्य के कथुवा जिल क अन्तर्गत) के कलाकारों का महत्वपूर्ण यागदान रहा है । कागडा शैली रामाटिक है । उसकी रखाओं और तूलिका में मन को प्रभावित करन की क्षमता है । एक विख्यात कलाविद् क अनुसार यूनान के कलश चित्रों और जापान के डिजाइन चित्रा में भल ही अन्य आकर्षण समृद्ध कल्पनाय ओजस्विता और रूप वैचित्र्य समाहित हो किन्तु कागडा क चित्रा में मादकता गति और स्वातत्र्य है जिसका हमारे उपर वसा ही प्रभाव पडता है जैसा कि बैलेड की कविता का ।

18वी शताब्दी क अन्तिम वर्षों में चित्रकला का एक लघु स्कूल गढ़वाल क पहाडी राज्य म उदित हुआ । यहाँ उन हिन्दू चित्रकारों के वशज रहत थ जिन्होंने कभी मुगल दरबार में चित्र साधना की थी । मुगल दरबार से वह औरगजब क भतीजे राजकुमार सुलेमान शिकोह क साथ पहाडों में भाग आय थ । मुगल शहजादे के साथ गढवाल जान वाल चित्रकार थ शामदास तथा उसका पुत्र हरदास । य दोनों गढवाल के विख्यात चितेरे मोलाराम के पूर्वज थ । सम्भवत मोलाराम उक्त मुगल दरबार स भागकर आय हुए चितेरों की पाँचवी पीढी म था । गढवाल स्कूल चित्रकला क कागडा स्कूल के सर्वाधिक निकट है । यह भी सम्भव है कि कागडा के चित्रकारों ने विषम परिस्थितियों में अन्यत्र सरक्षण की तलाश की होगी ।

पजाब में चित्रकला की सिख शैली का समय स्थूलत 1775 1850 ई के मध्य म है । सिख सस्कृति में अभिजात परम्पराओं का धर्म में पुराकथाओं एव मूर्तियों का अभाव था अर्थात् सस्कृति मात्र व्यक्तिगत उपलब्धियों पर आधारित थी । सिख शैली की चित्रकला में प्राय व्यक्तिचित्रों का प्राधान्य है । सिख गुरुओं सरदारों तथा दरबारियों के स्वतत्र एव समूह चित्रा का निर्माण हुआ । उत्तम चित्रों में सजीवता एव सतुलन दिखाई देता है । यह चित्रकला शैली मौलिक नही थी ।

पहाडी चित्रकला शलियों की सामान्य विशषताएँ —

(1) पहाडी चित्रशैली का उदय यद्यपि पजाब में हुआ किन्तु धीरे-धीरे इस शैली का विस्तार हिमालय के विस्तृत अचल में फैले हुए पहाडी प्रदशों में हुआ । सभी स्थलों पर लगभग एक साथ विकास हुआ और पतन का प्रारम्भ भी एक साथ हुआ ।

(2) पहाडी चित्रशैली के निर्माण में 17 वी शती के मुगल शैली के यथार्थवादी चित्रों का प्रभाव है । वस्तुत मुगल दरबार के निराश्रित चित्र साधकों के पहाडी राज्यों में बस जाने के कारण ही पहाडी शैली का उदय हुआ ।

(3) पहाडी शैली के चित्रों में भावों एव प्राकृतिक घटनाओं का सफल चित्रण हुआ है । इसके अन्तर्गत महाकाव्यों एव पुराणों के अतिरिक्त ब्रजभाषा की कविताओं एव काव्यों के दृष्टान्त चित्रों का आधिक्य है ।

(4) कृष्ण लीला सम्बन्धी चित्रों के निर्माण में पहाडी शैली का सर्वोच्च विकास दिखाई देता है । ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध कृष्णलीला दृश्यों का मार्मिक चित्रण हुआ है ।

(5) पहाडी चित्रकारों ने चित्रों की पृष्ठभूमि में प्रसगानुसार वातावरण की सृष्टि करने में सफलता प्राप्त की है ।

(6) नायिका भेदों की विभिन्न आकृतियों को सजोने सवारने में भी पहाडी कलम का अपना विशिष्ट स्थान है ।

(7) पहाडी शैली के चित्रकार रस और भाव के अभिव्यजन में पटु थ ।

(8) पहाडी शैली के चित्रकारों ने कथानक क अनुरूप भावों की अभिव्यक्ति अनक व्यक्तियों के चित्रों में कलात्मक एकता का समावेश और विषय के अनुसार वातावरण का सपुजन (कम्पोजिशन) कुशलता से किया है । चित्रों में पशु पक्षी वृक्ष लता तथा नर-नारी का सतुलन प्रशसनीय है । इन्हीं कारणों से पहाडी शैली के चित्र सुन्दर बन पडे हैं ।

(9) पहाडी शैली के चित्रों में लाक्षणिक प्रयोगों की भरमार नही है जैसा कि राजपूत शैली के चित्रों में दिखाई देता है । करुणा एवउत्साह आदि भावों की अभिव्यक्ति क लिए वर्ण योजना एव पृष्ठभूमि में दृश्यों का अकन विषयानुकूल करके अभिव्यजना का सुन्दर प्रयोग किया गया है ।

(10) इस शैली के चित्रकार काव्य शास्त्र के ज्ञाता थे । प्रसगानुसार अनेक गुणों का अच्छा अभिव्यजन हुआ ह । वे कुशल चितेरे थ । चित्रकारों की उदात्त कल्पना उनके सतुलित एव सुनियोजित वर्ण विधान तथा उनकी प्रवाहमयी प्राणवान रेखाओं आदि न मिलकर उनकी कला का महान बना दिया है । लोकप्रियता की दृष्टि स अजन्ता के पश्चात पहाडी शैली के चित्रों को भारत में ही नहीं वरन विश्व में सराहा गया है ।

भारतीय चित्रकला की समृद्धि का यह मध्य युग था । इस काल में अनेक शैलियों के उदय से कला के क्षत्र में नयी मान्यताएँ स्थापित हुई । भारतीय चित्रकला की सर्वांगीण प्रगति इसी काल में हुई। विदेशी कलाकारों के एव कला समीक्षकों के आकर्षण का केन्द्र भा इसी युग की चित्रशैलियाँ रहीं। इस युग में कला को राजनैतिक सम्मान के साथ-साथ धार्मिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुयी। यद्यपि इस शैली के अन्तर्गत श्रगारिक और अलकारिक चित्र भी बने किन्तु उसकी विशेषता धार्मिक चित्रों के निर्माण में है । महाभारत गीतगोविन्द तथा भागवत सरीखे श्रीकृष्ण विषयक ग्रथों के सबसे अधिक दृष्टान्त चित्र बनाये गये ।

अध्याय 14

चित्रशिल्प का मुगल कालीन स्वरूप

मुगल वंशी शासन की स्थापना मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी । मुगल शासक प्राय साहित्य एवं कला में विशेष रुचि रखते थे । बाबर एवं जहांगीर द्वारा विरचित आत्मकथाएं मुगल बादशाहों के साहित्यानुराग के सबल प्रमाण हैं । बाबर के पूर्वज भी कलाकारों के सरक्षक थे । तैमूर का पुत्र शाहरख चित्रकारों का आश्रयदाता था । तैमूरी वंश के सुल्तान हुसेन मिर्जा (15 वीं शती ई) ने अनेक अच्छे चितेरों को सरक्षण दे रखा था । ईरानी शैली का विख्यात चित्रकार बिहजाद उनमें से एक था । हुमायूँ स्वय भी कला प्रेमी था । उसने अपने फारस प्रवास से वापसी के समय तब्रेज में शीराज निवासी ख्वाजा अब्दुस्समद से भेंट की थी । कालान्तर में अब्दुस्समद तथा मीर सैयद अली नामक दो विख्यात चित्रकारों ने हुमायूँ के काबुल दरबार में अपने को बादशाह की सेवा में प्रस्तुत किया । 1506 ई में हेरात के सुल्तान हुसैन मिर्जा की मृत्यु के पश्चात ईरान के सफवी (सफाविद) वंश का सम्राट शाह इस्माइल बिहजाद को तब्रेज ले गया । उसने अपनी उत्तम लिखाई और रंगों के अतिरिक्त ईरानी कला को विजातीय प्रभावों के मध्य समन्वय स्थापित करके सुन्दर कला का रूप प्रदान किया ।

चित्रशिल्प के प्रति इस्लाम धर्म की दृष्टि—चित्र निर्माण को इस्लामी दृष्टि से धर्म विरुद्ध कृत्य माना जाता है । इस्लाम धर्म के अनुसार जो भी मानव अथवा पशु आकृति बनाता है (अथवा चित्रित करता है ?) वह निर्णय के दिन अपनी आत्मा से च्युत हो सर्वनाश (पर्डिशन) को प्राप्त होता है । स्मिथ के अनुसार बगदाद की खिलाफत के पतन तक कला के सम्बन्ध में उक्त इस्लामी कानून का सम्मान किया जाता था । 13 वीं शती के अन्त तक किसी भी प्रदर्शित अथवा चित्रित अरबी पाण्डुलिपि के न मिलने से भी ऐसा ही इंगित होता है । ऐसा लगता है कि इस्लामी चित्रकला कुछ शास्त्रविरुद्ध (हैटरोडॉक्स) अयूबी (अयुबाइट) सुल्तानों के काल में अस्तित्व में आई । उनके सिक्कों के पृष्ठभाग में बिजैंटाइन ईसा का सिर अंकित है । तिथिक्रम के आधार पर फारसी कला को तीन वर्गों में रखा जाता है —मंगोल तैमूरी तथा सफवी । निश्चित ही इस्लामी कला की शाखा के रूप में चित्रकला का अस्तित्व सीधे धर्म विरुद्ध आचरण का परिणाम था । अब्बासी प्रभुत्व के अन्तर्गत बगदाद वसीत तथा बसरा नगरों में अरब चित्रकला का विकास हुआ । 1258 ई के मंगोल आक्रमण के कारण इसकी प्रगति रुक गयी ।

मुगल चित्रकला की पृष्ठभूमि—मंगोलों के शासन काल में चीन फारस के सीधे सम्पर्क में आया । कहा जाता है कि हुलागू (हलाकू) की ईसाई पत्नियाँ थी । मंगोल इस्लाम के स्थान पर ईसाई मत के पक्षधर थे । यह बात बल देकर कही जाती है कि मध्य एशिया विशेषत तरिम बेसिन एक ऐसा बहुभाषीय (पॉलीग्लॉट) विदेशी संस्कृतियों के सम्मिलन का केन्द्र था जिसके तीन मुख्य भागीदार थे—चीन पश्चिम तथा भारत । फारसी चित्रकला के विकास की दृष्टि से चीनी कला की सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थिति है । फारसी कला की प्रेरणा और तकनीक का स्रोत चीन था । चीन से न केवल

कलात्मक सामग्री का आयात किया गया वरन् वहाँ से विभिन्न प्रकार के शिल्पकार तथा चित्रकार भी लाये गये । इस प्रकार मध्ययुगीन सुल्तानियाँ तथा तबरेज के मंगोल नगरों में कला का विकास हुआ । मंगोल युग के लगभग आठ दशकों की अवधि के अवसान के पश्चात् (1258 1335 ई) तैमूर के वंश का उदय हुआ । उसके शासन काल में वक्षु (आक्सस) बुखारा तथा समरकन्द के नगरों में संस्कृति एवं कला का विकास हुआ । इस युग में फारसी वास्तुकला ने भी पर्याप्त प्रगति की । तैमूर का पुत्र तथा हेरात का शासक शाहरुख चितेरों का आश्रयदाता था । एक अन्य तैमूरी वंशज सुल्तान हुसैन मिर्जा के दरबार में भी अनेक चित्रकारों को संरक्षण प्राप्त था । बिहजाद उसके दरबार का प्रसिद्ध चित्रकार था ।

प्रारंभिक मुगल चित्र—मुगलों के मूल निवास मध्यएशिया का चीन के पड़ोसी होने तथा बौद्धधर्म से प्रभावित होने के कारण मुगल बादशाहों का कलाओं के प्रति रुझान होना स्वाभाविक था। बाबर तथा हुमायूँ दोनों ही कला प्रेमी थे । भारत में मुगल चित्रशिल्प के बीजारोपण की दृष्टि से तबरेज के सफवी दरबार में हुमायूँ के एक वर्ष के प्रवास का महत्वपूर्ण स्थान है । वह बदख्शा के चित्रकार मीर मन्सूर के पुत्र मीर सैयद अली तथा युवक चित्रकार अब्दुस्समद से बहुत अधिक प्रभावित था । दोनों ही चित्रकार हुमायूँ के काबुल दरबार में थे । बादशाह ने सैयद अली को यहाँ दास्तान इ अमीर हमजाह (इलस्ट्रेशन आव द रोमान्स आव अमीर हमजाह) के चित्रों का निरीक्षक नियुक्त किया । एक सौ पृष्ठों के 12 ग्रन्थों में चित्रकारी की गयी । यह सभी चित्रकारी मीर सैयद अली के अधीन चित्रकारों ने की थी । हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात मीर सैयद अली अकबर के दरबार में कार्य करता है। उसने मक्का की भी यात्रा की था । हम्जा चित्रावली के साठ सूती वस्त्र पर बने चित्र अब वियाना में हैं । इस श्रेणी के पच्चीस चित्र दक्षिणी केन्सिंगटन संग्रहालय में है । यद्यपि इन प्रारम्भिक मुगल चित्रों की शैली प्रायः सफवी है किन्तु इन चित्रों में संशोधन एवं विकास के लक्षण स्पष्ट दिखते हैं । चित्रकार द्वारा फूल एवं बेल-बूटों का प्रयोग फारसी के स्थान पर भारतीय पद्धति से किया गया है । इस युग की चित्रावली के विस्तार में कुछ सादगी का वर्चस्व दिखाई देता है । चित्रों में वेषभूषा एवं सज्जा लघुआकार की है । वस्त्रों पर चित्रांकन का चलन भारत में लोकप्रिय रहा है । चित्र निर्माणार्थ बड़े आकार के कागद प्राप्त करना निश्चित ही आसान नहीं था । पर्सी ब्राउन ने प्रारम्भिक मुगल चित्रकला को सफवी स्कूल की उपज और बिहजाद की शैली में प्रशिक्षित कलाकारों के कृतित्व का परिणाम कहा है ।

अकबर एवं जहांगीर का चित्रकला प्रेम — मुगल बादशाह अकबर ने अपने पिता हुमायूँ की चित्रकला के प्रति अपनाई गई नीति का अनुसरण करने के साथ ही अपनी उदार दृष्टि एवं चित्रकारों को दिये गये संरक्षण द्वारा उसे परिपुष्ट किया । अकबर ने प्रसुप्त भारतीय चित्रशिल्प को नवजीवन प्रदान किया । उसने चित्रकारों को अपने दरबार में आमंत्रित करने के साथ ही उन्हें संरक्षण प्रदान किया । उसने धर्म से नियंत्रित चित्रकला का उद्धार । मुगल सम्राट जहाँगीर ने चित्रकला के सम्बन्ध में अकबर द्वारा अपनाये गये नमनशील दृष्टिकोण का पूर्ण समर्थन किया । इसी कारण मुगल शैली के चित्रशिल्प को उसके संरक्षण में विकास के ऊँचे सोपान तक चढ़ने में सफलता मिली ।

इस काल में प्रधानतः लघुचित्रों (मिनिएचर्स) तथा रूपचित्रों (पोर्ट्रेट्स) का निर्माण किया गया । दोनों ही प्रकार के चित्रों को छवि चित्रों की श्रेणी में रखा जाता है । इसके अतिरिक्त पशुजगत तथा

प्रकृतिजगत का भी समुचित प्रतिनिधित्व समकालीन चित्रकला में हुआ है । पुस्तका क दृष्टान्त चित्रों तथा दरबारियों के चित्रों का भी निर्माण किया गया है । इस काल के चित्रा म ईरानी और भारतीय दा शलिया का सम्मिलित रूप है । बाह्य सान्दय की अभिव्यक्ति के लिए इरानी शैली तथा अत सौन्दय की अभिव्यञ्जना हेतु भारताय शैली का उपयाग किया गया है । उत्कृष्ट रेखाकन ईरानी शैली का तथा भावना की प्रधानता भारताय शैला क चित्रा का प्रबल पक्ष है ।

मुगल शैली की चित्रकला क विधिवत आरम्भ का वस्तुत अकबर क काल म ही रखा जाना चाहिए । उसमें उदात्त कलाभिप्रायों तथा नवान तत्वों का समावश जहाँगीर क काल म हुआ । जहाँगीर उच्चकाटि का कला पारखी था । उसक चित्रकलानुराग प्रकृतिप्रेम सहृदयता जिज्ञासा प्रज्ञा सग्रह करन की प्रकृति वर्णन कौशल आदि की प्रशसा उसक समकालिक न की है । उसकी चित्रकला का भावना की परिपक्वावस्था क प्रमाण स्वरूप कहा जाता है कि वह एक ही चित्र व विभिन्न चितरों द्वारा चित्रित विभिन्न अशों का पहचान कर सकता था । आका रिजा तथा उसका पुत्र अबुल हसन जहागीर क प्रिय पात्र थ । चित्रा क सग्रह में बादशाह की विशष रुचि थी । उसक काल की कला में विदेशी प्रभाव धीरे धीरे समाप्त हाने लगा । सम्भवत इसी कारण उसक काल में निर्मित चित्र विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण क अनुरूप दिखाइ दत हैं । सम्भवत मुगल दरबार में भारताय चित्रकारों का प्रारम्भ स ही अधिक सख्या में कार्यरत रहना इसका कारण था । उसका काल चित्रशिल्प की पराकाष्ठा का काल था। इसक पश्चात चित्रकला क पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी । औरगजेब कालीन परिस्थितिया चित्रशिल्प क अनुकूल नही थी । औरगजब क अनुदार दृष्टिकोण न चित्रकला की प्रगति की सभी सभावनाओं को निर्मूल कर दिया ।

जहाँगीर कलाकारों का सम्मान करता था उन्हें वह धन एव आदर दकर प्रसन्न करता था । अपनी कामल कल्पनाओं को चित्ररूप में परिणत करने हेतु अपने प्रिय चितरा को बादशाह आदेश देता था । उसने बिशनदास नामक हिन्दू चित्रकार की अपनी आत्मकथा में सराहना की है । उसन अपने चित्रकारों का उस्ताद अल मुसव्वरीन (चित्रकार शिरोमणि) नक्वात अल मुहर्ररीन (लेखक शिरामणि) तथा नादिर उल असर' (युग शिरामणि) आदि उपाधियों से सम्मानित किया था । मानवीय इच्छाओं आचरणों तथा भावनाओं के अनुरूप चित्रकारी नवीन रगों का उपयोग वस्त्राभूषणों की याजना में यथार्थ दृष्टि अग प्रत्यग का कुशल चित्रण आदि जहाँगीर कालीन चित्रों की विशेषताएँ है । जहाँगीर कालीन सभी विशेषताओं का उदाहरण भारतीय सुन्दरी शीर्षक चित्र में दृष्टव्य है (भारतकला भवन वाराणसी में सुरक्षित) । इस चित्र में एक सुन्दरी शिवार्चन के लिए एक हाथ में पुष्पहार एव दुसरे में फूलों की डाली लिए जाती हुई दिखाई गई है । उसके अगों की सुघडता और सुन्दरता आभूषणों स द्विगुणित हो गयी है । इसमें आलकारिकता के साथ साथ स्वाभाविक सौन्दर्य[1] दर्शित है । जहाँगीर उदात्त अभिरुचि का महान कला पारखी था ।

टॉमस रो ने जहाँगीर के साथ हुये वार्तालाप के रोचक सस्मरण का उल्लेख किया है । उसने बादशाह को एक ऐसा चित्र दिया जिसकी नकल होना असम्भव था । बादशाह ने कुछ समय पश्चात उक्त चित्र का छ प्रतियाँ देते हुए आदेश दिया कि मैं उनमें से अपना चित्र छाट लू । कुछ कठिनाई के पश्चात मैंने अपना चित्र पहचाना । जहाँगीरनामा में बादशाह को यह कहते उद्धृत किया है कि उसकी चित्र की रुचि और पहचान यहा तक बढ गई है कि प्राचीन एव नवीन उस्तादों में से जिस किसी का

काम देखने म आता है उसका नाम सुने बिना ही झट उसे पहचान लेता हूँ कि अमुक उस्ताद की कृति है । —यदि एक ही चहरे में आँखें किसी की और भवें किसी की बनाई हुई हो तो भी मैं पहचान लूँगा कि बनाने वाला कौन है ।

मुगल चित्रो क विषय —मुगल कालीन चित्रशिल्प में विविध प्रकार के विषयों का अकन हुआ ह । मुगल कालीन चित्रकार ने भारतीय तथा अभारतीय कथाओं एतिहासिक पोथियों व्यक्तियों पशु–पक्षिया पड पाधों आदि का चित्रण किया ह । अकबर कालीन चित्रकला विभिन्न प्रकार की पुस्तकों क दृष्टान्त रुप में अधिक उपलब्ध ह। किन्तु जहागीर कालीन चित्र स्फुट रुप से अधिक बने । अकबर के समय क चित्रों को चार वर्गों में रखा गया है

(1) हम्जा चित्रावली जसे अभारतीय कथा चित्र

(2) महाकाव्यों आदि पर आधारित भारतीय कथा चित्र

(3) ऐतिहासिक चित्र । शाही पोथीखाना लगभग चौबीस हजार हस्तलिखित पोथियों मे सुसज्जित था । उसमें सैकडों सचित्र पोथिया थी ।

(4) रुप चित्र अथवा छविचित्र अकबर को छविचित्रों का बहुत शाक था । उसने राज्य के विशिष्ट व्यक्तियों तथा पूव पुरुषों क चित्रों का एक बडा अलबम तैयार करवाया था ।

फतहपुर सीकरी के भवनों को भित्ति चित्रों म भी अलकृत किया गया था । कुछ चित्र पूर्णत फारसी शैली के और कुछ भारतीय शैली क है। सुलेख या खुशनवीसी का भी मुगलकाल में पर्याप्त विकास हुआ । चीन की भाति फारस एव भारत में भी सुलेख को ललित कला का सम्मान प्राप्त था । अबुल फज्ल न एस कलाकारों की सूची दी है जो अपन सुलेख क लिए ख्यात थे । अकबर के काल का प्रसिद्ध खुशनवीस कश्मीर का मुहम्मद हुसन था । लिखावट क सीधेपन तथा घुमाव में तुलनात्मक अन्तर के आधार पर 16वीं शताब्दी में आठ प्रकार की लिखावट की शैलियों के प्रचलन का उल्लेख अबुल फज्ल ने किया है ।अकबर को नस्तलिक (घुमावदार) सुलेख पसन्द था ।

मुगल कालीन सचित्र पोथियाँ —यद्यपि अकबर की रुपचित्रों के अकन में भी रुचि थी किन्तु पुस्तकों के आधार पर चित्रावली तैयार कराने में उसने विशेष उत्सुकता दिखाई । अकबर क शाही पोथीखाने में हजारों पोथियाँ थीं ।स्पेन के पादरी फादर सिबैस्टियन मैनरिक (जो 1641 ई में आगरा में था) के अनुसार उस नगर के शाही पोथीखाने में चौबीस हजार ग्रन्थ थे जिनकी कुल अनुमानित कीमत 720000 पौण्ड अथवा 6463731 रुपये थी । एक अन्य अनुमान के अनुसार जयपुर पोथीखाने में सुरक्षित रज्मनामा नामक महाभारत के सक्षिप्त फारसी अनुवाद जिसका प्राक्कथन 1588 ई का है का लागत मूल्य 40 हजार पौण्ड था ।

शाही पोथीखाने की कुछ बहुमूल्य चित्रित पोथियों में किस्सा इ अमीर हम्जा शाहनामा तवारीख खानदान ए तैमूरिया रज्मनामा वाकुआत-बाबरी (बाबर की आत्मकथा) अकबरनामा , अनवर सुहैली [1](पचतत्र का अनुवाद) आयार दानिश (पचतत्र का अनुवाद) 'तारीख रशीदी दराबनामा खमसा निजामी बहारिस्ताने जामी रामायण हरिवश महाभारत योग वाशिष्ठ

[1] मुल्ला हुसैन वायज अल–काशफी ने अपने आश्रयदाता शेख अहमद अल–सुहैली के नाम पर यह अनुवाद किया था ।

नल दमयन्ती कथा शकुन्तला कथासरित सागर' कालिय दमन चगजनामा जाफरनामा दशावतार' कृष्णचरित तूतीनामा अजीबुलमखलूकात आईने अकबरी आदि उल्लेखनीय हैं ।

अकबर कालीन सचित्र पोथियों की उपलब्धि भारत के जिन सग्रहालयों में सभव है उनमें खुदाबख्श लाइब्रेरी पटना राजकीय पोथीखाना जयपुर राजकीय सग्रहालय हैदराबाद राष्ट्रीय सग्रहालय दिल्ली भारत कलाभवन वाराणसी आदि मुख्य हैं । इसके अतिरिक्त छोटे बडे घरों एव सग्रहालयों में भी यह सामग्री बिखरी पडी है । आगरा दिल्ली तथा लाहौर नामक तीन बडे नगरों में अकबर का शाही पुस्तकालय विस्तृत था । यहा की अनक बहुमूल्य पोथियों अब लदन फ्रास तथा अमरिका के अनेक निजी तथा सार्वजनिक सग्रहालयों में प्रदर्शित हैं ।

मुगल कालीन प्रसिद्ध चित्रकार —सम्राट अकबर का बाल्यकाल से ही चित्रशिल्प की ओर झुकाव था । उसके दरबार में छोटे बडे चित्रकारों का अच्छा जमघट था । उसके दरबारी चित्रकारों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे । उसके दरबार क महान चित्रकारों में ख्वाजा अब्दुस्सद मीर सैयद अली खुसरव कुली दसवन्त (जसवन्त) कहार बसावन माधो मुकुन्द केसो जगन्नाथ गोवर्द्धन गोविन्द मथुरा ताराचद महेश सावलदास खेमकरण नैहल राम हरवश लाल मिसकीन फर्रुख कुलमाक आदि का नाम लिया जा सकता है । उक्त सूची में हिन्दू चित्रकारों की सख्या मुसलमान चितरों से अधिक बडी है ।

कला के क्षेत्र में अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई भारतीयकरण की परम्परा जहाँगीर के शासन काल में अपनी उन्नति के शिखर पर थी । उसके आश्रित चितेरों ने रगों तथा रेखाओं के क्षेत्र में अपनी विशेषता का परिचय दिया । वे अग प्रत्यगों के चित्रण मत्स्याकार आखों मुखाकृति एव हाथों के अकन की कला में निष्णात थे । उसके काल के प्रमुख चित्रकारों में आका रिजा अबुल हसन मोहम्मद नादिर मोहम्मद मुराद मनोहर दौलत उस्ताद मसूर सावला फर्रुखबेग बिशनदास लाल और गोवर्द्धन की गणना की जा सकती है ।

चित्र निर्माण में सहयोग—साधारणत मुगलकाल में रेखाकन से लेकर रग भरने तक की चित्रनिर्माण की प्रक्रिया एक ही चित्रकार द्वारा सम्पन्न की जाती थी । किन्तु कभी कभी एक ही चित्र के विविध अगों का निर्माण अनेक कलाकारों द्वारा भी किया जाता था । ठोस रेखाकन द्वारा चित्र निर्माण की परम्परा ने इस क्षेत्र में श्रमविभाजन का सूत्रपात किया जिसमें एक व्यक्ति द्वारा रेखाकन तथा दूसरे व्यक्ति द्वारा रग भरा जाता था । उदाहरणार्थ अकबरनामा की दक्षिणी केन्सिगटन में सुरक्षित चित्रित प्रति में आधमखा के चित्र का रेखाकन मिसकीन ने तथा रग शकर ने किया था । उक्त पुस्तक में ही दरबार के एक अन्य दृश्य का रेखाकन मिसकीन ने चेहरों का निर्माण अज्ञात कलाकार ने शरीर की आकृति (सूरत) माधो ने तथा रगने का काम सखन (श्रवण) ने किया था ।

चित्रकारी में प्रयुक्त विविध वर्ण—मुगलकाल के चित्रकारों ने अनेक रगों का प्रयोग किया है । मुख्यत नीले सिन्दूरी बसन्ती (क्रोमयेलो) आदि रग प्रयुक्त किये गये हैं । इनके मिश्रण द्वारा भी अनेक रग बनाये जाते थे । सुनहरा रग भी प्रयुक्त होता था । मुगलकाल में खनिज रगों [गेरुआ लाजवर्दी(लैपिस लजूली)] वानस्पतिक रगो (नील) जातविक रगों (गुलाली कृमिज) तथा रासायनिक रगों (स्याही जगाल (हरा) (सिरके के प्रभाव से ताबे का रुपान्तर हरा) आदि) का प्रयोग होता था ।

मुगल शैली के चित्रशिल्प की प्रधान विशेषताएँ—भारतीय चित्रशिल्प को मुगल काल में एक नवीन स्वरुप प्राप्त हुआ । मुगल बादशाहों का कलानुराग समकालिक स्रोतों से प्रमाणित होता है । कला के विकास में उनकी विशिष्ट अभिरुचि के परिणाम स्वरुप ही मुगल काल में ललित कलाओं की प्रगति हो सकी । मुगल चित्रकला का प्रारम्भ मीर सैय्यद अली तथा अब्दुस्समद स माना जाता है । दोनों हो चित्रकार हुमायू के काबुल दरबार में थे । सैय्यद अली को बादशाह ने दास्तान इ अमीर हमजाह के चित्रों का निरीक्षक बनाया था । अब्दुल कादिर बदायूँनी के अनुसार 1582 ई में अकबर ने भारतवर्ष की प्रधान पुस्तक महाभारत के अनुवाद की आज्ञा दी । इसका कारण यह था कि बादशाह ने शाहनामा तथा किस्सा अमीर हम्जा को सत्रह जिल्दों में पन्द्रह वर्ष के समय में लिखवाया था और उनके चित्रों में बडा रुपया लगा था । विचार यह हुआ कि ये सब कवियों की उपज हैं । पर भारतीय पुस्तक सत्य है फिर क्यों न हम फारसी में इनका अनुवाद करावें ? मुगल चित्रशिल्प की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

1 मुगल चित्रकला का आधार ईरानी था किन्तु उसमें भारतीय तत्वों का प्रचुर सम्मिश्रण हुआ। इस प्रकार एक मिश्रित हिन्दू ईरानी श्रेणी के चित्रों का निर्माण किया गया ।

2 मुगल शैली मुख्यत सामन्तवादी विचारों से प्रभावित और व्यक्ति प्रधान है । इसमें छविचित्र पर्याप्त मात्रा म बन ।

3 मुगल चित्रों का प्रारभ लघु चित्रों म हुआ । उनमें कलम की बारीकी रगो का आकर्षण एव परम्परा आदि में कुछ सीमा तक प्रतिबन्ध था ।

4 इस शैली के चित्रो की वर्ण योजना तथा अलकरण योजना आदि यथार्थवादी है । चित्रों का रेखाकन प्रभावशाली है ।

5 मुगलकला में बादशाहों के रुझानों विलासों और वासनाओं की प्रबलता है । बादशाहों की अभिरुचि विलासिता एव तडकीले भडकीलेपन में होने के कारण चित्रकला में उसकी अभिव्यक्ति स्वाभविक थी ।

6 मुगल चित्रकला का एक सुन्दर रुप अक्षरलेखन कला में दिखाई देता है । फारस की यह श्रेष्ठ परम्परा मुगलों के साथ ही भारत में आई । परिणामत भारत में अनेक चित्रित पाण्डुलिपिया तैयार की गई । दाराशिकोह ने अपने काल के विख्यात खुशनवीस अब्दुल रशीद दयालमीर से सब प्रकार की लिपि सीखी थी । अतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह स्वय एक श्रेष्ठ खुशनवीस था ।

7 मुगल शैली के चित्रों में अन्तपुर का रुप सौन्दर्य और विलासपूर्ण जीवन का अकन तथा सम्राटों के विनोद के लिए दासियों तथा बेगमों की भडकीली पोशाकों व झीने वस्त्रों के भीतर अगों का रुपाकन अधिकता से पाया जाता है।

8 मुगल चित्रों में उनके निर्माताओं के नाम मिलते हैं । लगभग एक सौ चितेरों के नाम उनके द्वारा निर्मित चित्रों में किये गये हस्ताक्षरों से ज्ञात होते हैं । इस शैली के चित्रों का निर्माण दिल्ली आगरा लाहौर आदि बडे बडे नगरों तक सीमित रहा ।

9 मुगल शैली के चित्रों में फारसी तथा चीनी सरीखा विदेशी प्रभाव पूर्णत एकाकार हो गया

है ।

10 मुगल चित्रकारों ने ऐतिहासिक महत्व के व्यक्तियों के रुपचित्र तैयार किये जिनसे इतिहास के अध्येता को दो सौ वर्षों की अवधि में मुगल सम्राटों एवं महत्वपूर्ण कर्मचारियों के व्यक्तिगत रुप को समझने में सहायता मिलती है ।

11 मुगल दरबार के निराश्रित हिन्दू चित्रकारों ने पर्वतीय रियासतों में जाकर भारतीय चित्रशिल्प को नया रुप दिया ।

12 रेखाकन से रगभरने तक की प्रक्रिया साधारणत एक ही चित्रकार द्वारा सम्पन्न होती थी । किन्तु कभी कभी एक ही चित्र के विविध अगों का निर्माण दो से चार तक चित्रकार मिलकर करते थे । उदाहरणार्थ अकबरनामा का दरबार दृश्य जिसे चार कलाकारों ने बनाया था ।

13 मुगलयुगीन प्रारभिक चित्रों म फारसी शैली मुखरित रुप में दृष्टिगत होती है किन्तु जहाँगीर कालीन चित्रों म वह अपना निजस्व खो देती है ।

14 अकबर कालीन चित्रकला में निजस्व ईरानी कला म भिन्न है । वस्तुत इसकाल के चित्रों की अपनी अलग शैली है ।

15 हम्जा चित्रावली सूती कपड पर की गई है जिसे चित्रपट की तरह प्रयोग में लाया गया है ।

16 ईरान क सुन्दर वर्ण विधान और सुलेखन के आधार पर मुगलकाल में लिखी पोथियो ने भारतीय कलाकरों को आकर्षित किया ।

17 मुगलशैली को भारतीय एव फारसी कला शैलियों के सयोग से विकसित होने वाली एक मिश्रित शैली माना जाता है ।

18 पुस्तकों के दृष्टान्त चित्रों का निर्माण मुगलशैली की चित्रकला की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । भारतीय एव अभारतीय कथाचित्रों का निर्माण इसका प्रमाण है ।

19 मुगल चित्रों म बाह्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए ईरानी शैली तथा अत सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना हेतु भारतीय शैली का उपयोग किया गया है ।

आनन्द केंटिश कुमारस्वामी ने मुगल शैली की चित्रकला की समीक्षा करते हुए लिखा है कि मुगल चित्रकला समकालिक महान मुगलशासकों के सस्मरणों के समान है उससे ऐसी रुचि प्रतिबिम्बित होती है जो महज व्यक्तियों एव घटनाओं तक सीमित है । यह आवश्यकरूप से व्यक्तिपरक एव एतिहासिक कला है । उनके अनुसार यह बौद्धिक नाटकीय यथार्थवादी और मिश्रित चित्रकला है ।[2]

---

2 Mughal painting like the contemporary Memoirs of the Great Mughals reflect an interest that is exclusively in per ons and event is essentially an art of portraiture and chronicle Mughal painting is academic dramatic objective and eclectic कुमारस्वामी पूर्वोक्त, पृ 127 28

अध्याय 15

आधुनिक चित्रकला

भारतीय चित्रकला का आधुनिक युग विश्व की कला शैलियों क प्रभाव के अन्तर्गत ही रखा जाता है । विश्व की नूतन कला शैलियों के प्रभाव स आधुनिक युग का भारतीय चित्रकार भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ । चित्रकला के क्षेत्र में पश्चिमा जगत में विकसित होने वाली नई अवधारणाओं नये वादों तथा अभिनव प्रयोगों का भारतीय चित्रकारों द्वारा अनुकरण नितान्त स्वाभाविक था । 19वी शताब्दी में जहाँ एक ओर पहाडी शैली की चित्रकला का अस्तित्व था वहीं दूसरी ओर योरोपीय कला क सम्मिश्रण से भारतीय कला में नव चेतना का सचार हुआ । औद्योगिक क्राति विकसित सचार साधनों की उपस्थिति तथा महायुद्धों ने विश्व के राष्ट्रों के चिन्तन की दिशा में आमूल चूल परिवर्तन किया । परिणामत कला कलाकार की विचारणा विषय चयन ध्येय प्रतीक शैली आदि सभी क्षेत्र प्रभावित हुये । अत समसामयिक चित्रशैलियों के सागोपाग अध्ययन के लिए उन तमाम परिस्थितियों का मनन करना अपेक्षित है जिनस कला का आधुनिक विकास प्रभावित हुआ है । आधुनिक भारतीय चित्रशिल्प में आये नवीन परिवर्तनों का समर्थन करत हुये विख्यात कला समीक्षक बार्थो लोम्यू कहते हैं कि पुराने जमाने की चित्रकारी के विषय दरबारी या प्रकृति चित्रों तक ही सीमित थे । वह राजा महाराजाओं और दरबारियों के मनोरजन के लिए होती थी लेकिन आज की चित्रकला में धार्मिक और प्रेमपूर्ण कल्पनाओं के प्रतीक कृष्ण और अनेक देवताओं राज्यों दरबारियों नर्तकियों भीतरी महलों दृश्यों जगल की परियों और गीत गाते हुये ग्वालों को चित्रित करने की हिदायत नहीं है क्यों कि अब स्थिति बदल चुकी है । अब यथार्थ को चित्रित करन की जरूरत है । इसलिए आज के चित्रों में बीमा एजेंट डाकिया सामाजिक नारी बुशशर्टधारी बाबू और मशीनों आदि की हा भरमार है । जब हमारा सारा ससार आधुनिकना की ओर तेजी से बढ रहा है तब भारतीय चित्रकार से भी पुरातनता का दामन पकडे रहने की आशा नही की जा सकती ।

योरोपीय शैली क प्रारभिक चित्रकार — अग्रेजों के आगमन से पहले भी कुछ भारत के चितेरों ने योरोपीय शैली को अपना लिया था । अग्रेजी राज की स्थापना के पश्चात उनकी सस्कृति के प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई । 19 वी शताब्दी में योरोपीय शैली का अनुसरण करने वाले प्रारभिक भारतीय चित्रकारों में मदुरा के चित्रकार अलाग्री नाइडू एव त्रावनकोर के राजा रवि वर्मा का नाम अग्रणी है । रवि वर्मा के चित्रों को देश–विदेश में पर्याप्त सम्मान मिला । पाश्चात्य कला के सम्मिश्रण से भारतीय कला के क्षेत्र में नव जागरण का सूत्रपात करने की दृष्टि से रवि वर्मा का नाम उल्लेखनीय है । उनके चित्रों से निश्चिल ही भारतीय चित्रकला के आधुनिक रूप ने प्रेरणा ग्रहण नहीं की थी । उनकी कला में राजा–महाराजाओं के छविचित्रों तथा पौराणिक विषयों की प्रधानता के कारण

ही आधुनिक भारतीय चित्रकार उनसे अधिक प्रेरणा नहीं ले सके । [1]

आधुनिक भारतीय चित्रशिल्प का प्रारम्भ — बगाल में चित्रकार का जो नवीन आन्दोलन रवि वर्मा के पश्चात प्रारम्भ हुआ रामानन्द चटर्जी अर्धेन्दुकुमार गागुली आनन्द कुमारस्वामी ई बी हैवेल तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर उसके कर्णधार थे । वस्तुत बगाल स्कूल की स्थापना से ही आधुनिक चित्रकला का प्रारम्भ माना जा सकता है । हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के सहयोग से ही प्राचीन भारतीय भृजनशील प्रवृत्तियों का पुनर्जागरण हुआ । यह दोनों क्रमश कलकत्ता के सरकारी आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल तथा सह प्रिंसिपल थे । स्कूल के प्रधानाचार्य हैवेल ने भारतीय विद्यार्थियों को नये सिरे से योरोपाय कला की शिक्षा दी । उसने योरोपीय उपादानों को आधुनिक चित्रकला के लिए ग्रहण किया । दोनों ही कलाकरों की नवीन शैली का विदेशीपन के आधिक्य के कारण प्रारभ में विरोध किया गया । नवीन शैली में जापानीपन एव क्यूबिज्म का प्रभाव पर्याप्त था । बगाल में इस नवीन आन्दोलन के जनक अवनीन्द्रनाथ ठाकुर थे । उन्हें ही आधुनिक चित्रकला का प्रवर्तक होने का श्रेय प्राप्त है । उन्होंने अपने चाचा रवीन्द्रनाथ ठाकुर एव राजा रविवर्मा से प्ररणा ग्रहण की । वह अपने सहकर्मी हैवेल तथा इटालवी गुरु गिलहार्डी स भी प्रभावित थे ।

उल्लेखनीय है कि नये आन्दोलन का प्रभाव प्राय सम्पूर्ण देश के चित्रकारों पर पडा और विरोधों के बावजूद भारत के सभी भागों में योरापीय चित्रकला की शैली में भारतीय विषयों को दर्शित करने की प्रवृत्ति बढती गई । उन्होंने कला के क्षेत्र में न तो परम्परावादी दृष्टिकोण ही अपनाया और न ही पूर्णत पश्चिम का अन्धानुकरण किया । अवनीन्द्रनाथ ने मुगल राजपूत और पहाडी शैलियों में समन्वय स्थापित किया । उन्होंने अजन्ता मे प्रेरणा प्राप्त की तथा महाकाव्यों और पुराणों के प्रसगों पर चित्रकारी की । कला के विदेशी तत्वों के पक्षपाती होने के साथ ही उनमें राष्ट्रप्रेम भी था।उन्होंने भारतीय शिल्प के षडग नामक विख्यात ग्रथ का प्रणयन किया था । इसके अतिरिक्त इण्डियन सोसाइटी ऑव आरियण्टल आर्ट की स्थापना की थी । उनके भारतमाता बुद्ध जन्म बुद्ध और सुजाता महापुराण ताजमहल आदि शीर्षक चित्र विषय की दृष्टि से भारतीय थे । यद्यपि उन्होंने योरोपीय शैलियों को महत्त्व देकर अपने चित्रों में चीनी जापानी और फारसी कला शैलियों की टेक्नीकों का समावेश किया किन्तु उनकी कृतियों में भारतीयता का स्वर मुखरित होता रहा । उनकी कृतियों में लोककला का स्वाद एव धार्मिक विश्वासों की स्वीकृति देखी जा सकती है ।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के पश्चात उनके शिष्यों ने चित्रकला में नयी आस्था एव निष्ठा को उजागर किया । उनके विख्यात एव योग्य शिष्यों में नन्दलाल बसु समरेन्द्रनाथ गुप्त असित कुमार हाल्दार के वेंकटप्पा सुरेन्द्रनाथ गागुली हकीम मुहम्मद समी उज ज़मा प्रमोद कुमार चटर्जी शैलेन्द्रनाथ दे मुकुलचन्द दे शारदा चरण उकील शिलीन्द्रनाथ मजूमदार वीरेश्वर सेन देवीप्रसाद रायचौधरी तथा पुलिन बिहारी दत्त का नाम उल्लेखनीय है । इनमें से असितकुमार हाल्दार ने लखनऊ में शारदा चरण उकील ने दिल्ली में समरेन्द्रनाथ गुप्त ने पजाब में शैलेन्द्रनाथ दे ने राजस्थान में देवीप्रसाद रायचौधरी ने मद्रास में के वेंकटप्पा ने मैसूर में तथा पुलिन बिहारी दत्त ने बम्बई में स्वतत्र केन्द्र स्थापित करके आधुनिक भारतीय कला प्रवृत्तियों में नये युग का सूत्रपात किया ।

1 इस अध्याय के लेखन मे   से सहयोग

बगाल स्कूल के प्रमुख चित्रकार—बगाल स्कूल के सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्रकार तथा आधुनिक चित्रशैली के प्रवर्तक आचार्य अवनीन्द्रनाथ (जन्म 1871) ठाकुर के वर्चस्व में जिस शैली का विकास हुआ उसे ठाकुर शैली भी कहा जा सकता है । चाचा रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य के अग्रज गगनेन्द्रनाथ ठाकुर को भी स्थूलत ठाकुर शैली का चित्रकार माना जा सकता है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली नितान्त मौलिक है । उन्होंने 12 वर्षो में दो हजार चित्रों का निर्माण किया । साक्षात्कार साध्यवेला व्यथित युगल वेदना आदि उनके नयी शैली के चित्र है । वह अपनी शैली के निर्माता स्वय थे । गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने गीतों को कला की भाषा में उतारा । उनके चित्रों में परम्परा एव पूर्वाग्रह का प्रभाव नही है । उनके अनुसार मुझे कला के किसी सिद्धान्त की स्थापना नही करनी है । मेरे चित्रों के मूल में कोई सीखी हुई दक्षता नही है। वे किसी परम्परा या जान बूझ कर किय गये प्रयत्नों का प्रतिफल नही हैं । उनके चित्रों में बालकों की मुक्त प्रकृति बोलती है । उनके शब्दों म ही उनके चित्र किसी विचार की व्याख्या के लिए किसी तथ्य के चित्रण के लिए अभिप्रेत नहीं है । विश्वकवि ने जो शैली अपनायी वह भारत के लिए नयी थी। उस पर अवनीन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित शैली का प्रभाव नही था । वह स्वय लिखते हैं आधुनिक कला आन्दोलन जो पूर्वी परम्परा की लीक पर था मेरे भतीजे अवनीन्द्रनाथ द्वारा आरम्भ किया गया । मैं उसका कार्यक्रम आत्मग्लानि के ईर्ष्या मिश्रित भाव से देखता था ।

आचार्य के अग्रज गगनेन्द्र नाथ ठाकुर ने भी आधुनिक चित्रकला के विकास को गति प्रदान की। उन्होंने अकन विधान और चित्रित विषयों के विन्यास में कितने ही नवीन एव सफल प्रयाग किये। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करने के साथ-साथ सुन्दर व्यग्य चित्रों का निर्माण भी किया। उनके कुछ चित्र प्रभावोत्पादक हैं ।

आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के योग्यतम शिष्यों में नन्दलाल बसु का उल्लेखनीय स्थान है । ठाकुर शैली के चितेरों ने अनेक शैलियों में चित्रण किये । कुछ चित्रकार नये-नये प्रयोग करने में विशेष रुचि रखते थे इनमें आचार्य के शिष्य नन्दलाल वसु प्रमुख हैं । उन्होंने अजन्ता और बाघ के भित्ति चित्रों की प्रतिलिपियाँ उतारी । वह रवीन्द्रनाथ के साथ 1924 ई में चीन भी गय । स्वप्न ढोलकवाला सती बुद्ध व मेष शिव का विषपान आदि कुछ मुख्य चित्र हैं । उनकी दो विख्यात पुस्तकों में रूपावली तथा शिल्पकथा का उल्लेख किया जा सकता है । उन्होंने हजारों कार्ड चित्रों का भी निर्माण किया । इस शैली का आरभ अवनीन्द्र और गगनेन्द्र ने किया था ।

दवी प्रसाद रायचौधरी ठाकुर शैलो के अन्य मूर्धन्य कलाकार थे । वह मद्रास गवर्नमेंट स्कूल ऑव आर्टस के प्रिंसिपल थे । उन्हें 1958 ई में भारत सरकार ने पद्मभूषण की उपाधि से सम्मानित किया था । उनकी कला पाश्चात्य शैली से प्रभावित है । उन्होंने कमल तालाब शीर्षक चित्रों को भारतीय शिल्प शैली के प्रभाव के अन्तर्गत चित्रित किया है । उनके कुछ चित्रों में पूरब और पश्चिम की मिश्रित विधियों का प्रदर्शन हुआ है—भारतीय विषय तथा पाश्चात्य वर्ण योजना । उन्होंने बनजारों मछुओं प्रकृति चित्रों के अतिरिक्त पर्वतीय जीवन से जुडे मनोहर चित्रों का निर्माण किया ।

आचार्य अवनीन्द्रनाथ के अन्य स्वनाम धन्य शिष्यों में असित कुमार हाल्दार का नाम लिया जा सकता है । उनकी कृतियों की हैवेल तथा कुमारस्वामी ने प्रशसा की है । वह जयपुर और लखनऊ में कला स्कूलों के प्रधानाचार्य रहे । उन्होंने शान्तिनिकेतन के कलाविभाग के अध्यक्ष का पद भी

सुशोभित किया । हाल्दार ने अजन्ता बाघ और जोगीमारा के गुहाचित्रों की प्रतिकृतियाँ उतारीं । उनकी कृतियों में पुनरुत्थान संघर्ष तथा परम्परा का समन्वय है । उनके चित्रों का रग विधान राजपूत तथा मुगल शैली का है । विषय प्राय पौराणिक ही हुआ करते है मुख्य चित्रों में प्रकाश और लय वेद का अध्ययन राम और गृह विकासोन्मुख यौवन कुणाल निर्माता अकबर' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। प्रकृति प्रणय ग्राम आदि से सम्बद्ध विषयों के अकन में भी उनकी समान रुचि थी । वह अच्छे लेखक भी थे ।

बगाल में कला के पुनर्जागरण से सम्बन्धित कलाकारों या कलाचार्यों में क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार का नाम भी लिया जाता है । वह आधुनिक चित्रशैली की पुरातन पीढी के कलाकार थे । उनके चित्रों में धार्मिक विषयों का प्राधान्य है । चैतन्य से वह विशेषत प्रभावित थे । चैतन्य का गृहत्याग अपनी परम्परा का श्रेष्ठ चित्र है । रचना प्रक्रिया एव तकनीक की दृष्टि से उनके चित्रों में वैविध्य दिखाई देता है । उनके चित्रों में रागात्मकता एव रगों की सूक्ष्मता भी दर्शनीय है । उनके यमुना तथा शकुन्तला शीर्षक चित्रों को आलकारिक ढग के चित्रों की श्रेणी में रखा जाता है ।

यामिनीराय तथा अमृत शेरगिल—बगाल स्कूल से स्वतत्र हो अपनी बुद्धि क बल पर चित्र साधना करने वाले चित्रकारों में यामिनीराय तथा अमृत शेरगिल का नाम लिया जाता है । उन्होंने कलकत्ता में रहते हुए भी अपने लिये नये मार्ग का निर्माण किया । उनकी व्यापक दृष्टि ही उनकी लोकप्रियता का कारण है । उन्होंने भावमयी स्वदेशी लोककला को अपनाया । ग्राम्य जीवन सम्बन्धी चित्र उनकी कला के उत्कृष्ट नमूने हैं । यामिनीराय ने पश्चिमी शैली के अन्धानुकरण को हेय दृष्टि से देखा। उनके चित्र ससार की विख्यात कला वीथियों में सुसज्जित हैं । उनकी सरल प्रवृत्ति धार्मिक भावना लोकरुचि और रगों के प्रति विशुद्ध दृष्टिकोण आधुनिक कला प्रवृत्तियों की स्वस्थ भूमिका के लिए उपयोगी साबित हुए ।

हगेरियन माता तथा भारतीय पिता की प्रतिभा सम्पन्न कन्या अमृत शेरगिल का जन्म 1913 ई में बूदापेस्त में हुआ था । उसकी कृतियाँ युग प्रवर्तक मानी जाती हैं । यामिनी राय के पश्चात् शेरगिल ने भारतीय चित्रशिल्प को मौलिक एव सवर्धनशील तत्त्व दिये । उसने भारतीय विषय वस्तु को यूरोपीय शैली एव सिद्धान्तों पर निर्मित किया । उसकी कृतियों में दलितवर्ग की भूख प्यास तथा वेदना बोलती है । उसने भित्तिचित्रों भारत की परम्परागत शैलियों और पश्चिम की कला प्रवृत्तियों के समन्वय से नये पीठ की रचना की जो 1941 ई में उसकी असामयिक मृत्यु से अधूरा रह गया । उसके चित्रों में रेखाओं का प्रवाह रगों की स्वच्छता टेकनीक की ताजगी और विषय की नवीनता देखने को मिलती है । चित्रशिल्प के क्षेत्र में शेरगिल की वही भूमिका रही जो हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द की । वर वधू का श्रृगार' पहाडी स्त्रियाँ भिखमगे युवतियाँ ग्रामीण ब्रह्मचारी तथा पिता का चित्र आदि उनकी लोकप्रिय चित्रकृतियाँ मानी जाती हैं । वह अजन्ता के भित्तिचित्रों तथा कुषाणयुगीन यक्ष प्रतिमाओं से भी प्रभावित थी ।

समसामयिक चित्रकार एव उनका चित्रशिल्प—अलाग्री नाइडू से क्षितीन्द्र मजूमदार तक के विभिन्न चित्रकारों द्वारा चित्रशिल्प के आधुनिक युग का प्रवर्तन हुआ । उन्होंने सैकडों नवीन कलाकारों को विकसित किया । यही नवीन कलाकार समसामयिक चित्रशिल्प के सृजक एव प्रवर्तक कहे जा सकते हैं । इनमें पुरातन के प्रति आस्था एव भविष्य के आज का चित्रकार

कला के क्षेत्र में हो रहे नवीन अनुसधानों एव गवेषणाओं की ओर उन्मुख है । आधुनिक शैली के अन्य चित्रकारों में कुमारिल स्वामी समरेन्द्रनाथ गुप्त नित्यानन्द महापात्र हकीम मुहम्मद शारदाचरण उकील अब्दुर्रहमान चगतई (पाकिस्तान) पुलिन विहारीदत्त आदि का नाम उल्लेखनीय है।

समसामयिक चित्रकारों के विषय में कोई निश्चित मत व्यक्त करना कठिन है । इनमें से कुछ प्रगतिशील वर्ग के चितेरे भी हैं । सामान्यत समसामयिक चित्रकारों की सूची में परिगणन योग्य नामों में भावेश सान्याल बारेन दे द्विजेन सेन चावदा गादे अनादि अधिकारी श्रीकृष्ण खन्ना प्रफुल्ल जोशी पनिक्कर कृष्णचन्द्र आर्य दिनेश शाह पीट्टीरेड्डी किरन सिन्हा भाऊ समर्थ रथीन मित्र, हरकिशन लाल आदि प्रमुख हैं ।

शैलोज मुकर्जी बम्बई स्कूल के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कलाकार थे । वह कला में राष्ट्रीयता तथा सार्वभौमिकता के पक्षधर थे । उनके तैल चित्रों में पूर्व पश्चिम समन्वय देखा जा सकता है । ग्रीष्म का धुआँ तथा पनघट उनके आकर्षक चित्र हैं । विश्व के श्रेष्ठतम चित्रकारों में रूसी मूल के भारतीय चित्रकार रोरिक स्वेतोस्लाव का नाम लिया जा सकता है । 1937 ई में पेरिस की लक्सेमवर्ग आर्ट गैलरी में प्रदर्शित करने हेतु उनका एक चित्र चुना गया था । उनकी कला में परम्परा का आग्रह एव आधुनिक्ता का अनुकरण न हाकर स्वतत्र चिन्तन की मौलिकता है । रग योजना सफाई और नाटकीय दृश्यों को दर्शाने में रोरिक की अपनी मौलिक दृष्टि है । सुधीर रजन खास्तगीर के व्यक्तिचित्र बडे प्रभावोत्पादक है । विश्राम उनकी श्रेष्ठकृति है । भगवान बुद्ध नौकाएँ प्रकृति मिलन आदि अन्य प्रमुख चित्र हैं । सतीश गुजराल ने कला की अभिव्यक्ति हेतु सघर्ष को अनिवार्य माना है। उन पर अभिव्यक्तिवादी तथा प्रतीक्वादी विचारधारा का प्रभाव है । मक्सिक्न महिला उनका उल्लेखनीय चित्र हैं। अनादि अधिकारी तथा अब्दुलरहीम अप्पाभाई अलमेलकर बम्बई क्षेत्र के प्रतिष्ठित चित्रकार हैं । बगाल स्कूल से स्वतत्र यामिनीराय एव शेरगिल की परम्परा में अप्पाभाई को भी रखा जाता है । पूर्णिमा उनका पुरस्कृत चित्र है । कृष्णचन्द्र आर्यन दिल्ली केन्द्र के कलाकार हैं। उनकी समन्वय में आस्था है। कँवल कृष्ण का झुकाव अमूर्त शैली की ओर है । रचना उनका दर्शनीय चित्र है । देवताओं का घर' एक तिब्बती मठ अन्य चित्र हैं । आरभिक चित्र अध्यात्म प्रधान हैं । के एच आरा के चित्रों में रगों की सुयोजना दर्शनीय है । दो कवि शीर्षक चित्र उनकी विख्यात कृति है । दिनकर कौशिक की कृतियों के प्रगतिशील पक्ष की सराहना की गई है । कला के प्रति उनका निजी दृष्टिकोण है । एस कृष्ण अमृत शेर गिल के अनुयायी हैं । अभिसारिका उनका विख्यात चित्र है । प्रबुद्ध क्लाकार की कृतियों में भावात्मकता की प्रधानता है । के एस कुलकर्णी ने ग्राम्य जीवन का सुन्दर चित्रण किया है । किसान अपनी गाय के साथ उनकी उल्लेखनाय रचना है जिसके माध्यम से परम्परा एव बदलते समाज के दृष्टिकोण विषयक प्रश्न का निराकरण किया गया है ।

अजित चक्रवर्ती के चित्रों में आधुनिक प्रवृत्तियों और भारतीय परम्पराओं का समन्वय दिखाई देता है । वशीवाला और वात्सल्य उनकी श्लाघनीय मूर्तियाँ हैं । मूर्तिकला एव चित्रकला दोनों में रूमान गति है । उनके रेखाचित्र एव तैलचित्र भावात्मकता स ओत-प्रात हैं । जार्ज कीट पिकासो से प्रभावित सम्मानित चित्रकार हैं । उनका कार्यक्षेत्र श्री लका है । उनकी कृतियों पर मध्यकालीन तथा प्राचीन भारतीय साहित्य का प्रभाव है । कृष्ण जन्म उनका उल्लेखनीय चित्र है । श्रीमती प्रफुल्ल चन्द्र जोशी शाति दव तथा वीरेन दे भी उल्लेखनीय चित्रकार हैं । कनु दसाई जन साधारण क

कलाकार कहे जा सकते हैं । कला के कोमल पक्ष का उन्होंने अपनाया है । भारतमाता प्रतिध्वनि राधाकृष्ण आदि उल्लेखनीय चित्र हैं ।

पदमसी अकबर ने बम्बई स्कूल ऑव आर्टस से शिक्षा पाई है । वह विख्यात चित्रकार है । चित्रकारी के सम्बन्ध में उनके विचार स्वतंत्र हैं । पचास के दशक में बम्बई में हुई एक प्रदर्शनी में पदमसी को बन्द कर दिया गया था । उनके प्रदर्शित चित्रों पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया था। कुछ भी हो उनकी कृतियाँ प्ररणादायक हैं । पूर्णेन्दु पाल तथा रणवीर सिंह विष्ट आदि द्वारा निर्मित चित्र कला की दृष्टि से नवीनताएँ लिए हुए हैं । विष्ट का झुकाव फॉविज्म की ओर है । जीवन के यथार्थ का बोध कराने वाले सुन्दर चित्रों का निर्माण विष्ट ने किया है ।

रामकुमार को अमृत शेरगिल के द्वारा प्रवर्तित शैली का चित्रकार माना जा सकता है भारतीय विषयों का पेरिस के उपादानों की सहायता से चित्रण करने वाले अन्य चित्रकार थे के एस रजा । रामकुमार के प्रमुख चित्रों में सावित्री सत्यवान , समर्पण याचना मधुर स्मृति आदि का उल्लेख किया जा सकता है । रजा पर पेरिस के द स्तात्ल की शैली का प्रभाव है । वह प्री द क्रितिक पुरुस्कार प्राप्त कलाकार हैं । प्राय प्राकृतिक दृश्य चित्रण किया है । उनके चित्रों में प्रवाह गहराई ताजगी तथा भावों की अभिव्यञ्जना सराहनीय है । उनके चित्रों का देश विदेश में अनेक प्रदर्शनियाँ आयोजित हुई हैं ।

जगदीश मित्तल कलाकार कला शिक्षक एव समीक्षक के रूप में विख्यात हैं । उन्हें फ्रेस्का एव म्यूरल टेकनीक का विशषज्ञ कहा गया है । उन्होंने अनेक ग्रन्थ एव शोधपत्र अध्ययनशील लेख आदि प्रकाशित किये हैं । विनोदबिहारी मुकर्जी बगालस्कूल के शास्त्रीय परम्पराओं के समर्थक कलाकार माने जाते हैं । उन्होंने शातिनिकेतन में श्रेष्ठ भित्ति चित्रों का निर्माण किया । रविशकर रावल आधुनिक शैली के प्रयोगवादी चित्रकार मान जाते हैं । उनक चित्र स्पष्ट सुगम सुन्दर तथा प्राविधिक दृष्टि से उत्तम हैं । प्यार की प्यास नयी शैली का चित्र है । धरती की बेटी राह की पहचान अन्य चित्र हैं । गुजरात में प्रगतिशील कलाकारों की शाखा को जन्म दिया। जेनब रेड्डी के चित्र परिश्रमी शैली से प्रभावित हैं। मा और बच्चे तथा अफ्रीका वासी उनके प्रमुख चित्र हैं। राम गोपाल विजय वर्गीय न अनक शैलियों क चित्रों का निमाण किया है । उनके चित्र प्रभावोत्पादक हैं। राजस्थान में जन्म विजयवर्गीय को फक्कड स्वभाव के अध्ययन शील कलाकार कहा जा सकता है। नारायण श्रीधर बेन्द्र एक योग्य और सुशिक्षित कलाकार हैं। उनक चित्रों में भारतीय एव पाश्चात्य शैलियों का समन्वय है। बुद्ध पूजा व स्टेशन पर दो यात्री उनके उत्तम चित्र हैं। रणवीर सक्सेना कला में समन्वय के पक्षधर हैं। उनकी वाग और वाद में निष्ठा नहीं है। बुद्ध का गृह त्याग प्रतीक्षा उनके सुन्दर चित्र हैं।

ज्योतिष भट्टाचार्य कला में नित नूतनता के समर्थक होन क कारण उन्हें नवीनता का चमत्कारवादी भी कहा जाता है। भट्टाचाय क अनुसार उनकी कृतियों में यथार्थ चित्रण तत्पश्चात प्रभाववादी शैली तथा अन्त में एब्सट्रैक्ट शैली की ओर रुझान दिखेगा। वस्तुत यह स्वाभाविक है । मकबूल फिदा हुसैन को भारत क समसामयिक कलाकारों में उल्लेखनीय कला साधक कहा जा सकता है। उनक चित्रों पर राजर्षो रासेलिनी ने एक फिल्म बनाई है। उन्होंने अपन चित्रों में भारतीय सस्कृति को यथार्थ ढग स प्रस्तुत करने का यत्न किया है। [illegible]

मोहक स्वाद है। ढोलकिया उनके जलीय चित्रों का अच्छा नमूना है। के के हेब्बर की शैली में नवीनता तथा कला में विभिन्न प्रयोग उल्लेखनीय हैं । भूरिसिंह शेखावत राजस्थान के आधुनिक शैली के चित्रकार हैं । उन्हें यथार्थवादी चितेरों की श्रेणी में ही रखा जाता है। उन्होंने जलीय एव तैल दोनों ही प्रकार के चित्रों का निर्माण किया है। मोहन सामन्त में वर्तमान के प्रति उत्सुकता तथा परम्परा के प्रति निष्ठा है। उनकी कला में प्रौढता तथा व्यक्ति स्वातत्र्य झलकता है। कुमारिल स्वामी बगाल स्कूल के तैलगाना मूल के पुराने प्रमुख कलाकारों में एक हैं । यशस्वी चित्रकार समाज सेवा भाव से अत्यन्त प्रभावित है। जातक कथाएँ बुद्ध की विभिन्न मुद्राएँ मुख्य चित्र हैं । वह अवनीन्द्रनाथ तथा नन्दलाल वसु के शिष्य हैं। किरण सिन्हा सूरज सदन द्विजन सन आदि अन्य मुख्य चित्रकार हैं। तीसरे दर्जे में यात्रा बूढा माली आदि किरण सिन्हा के उल्लेखनीय चित्र हैं । उनके पैंसिल से बने रेखा चित्र काफी सुन्दर लगते हैं । सूरज सदन भी प्रतिभा सम्पन्न चित्रकार हैं । आरभ में उन्होंने राष्ट्रनेताओं के व्यक्तिचित्र बनाये थे । सेन नन्दलाल बसु की शिष्य परम्परा में हुये। उन्होंने बसन्त ग्रीष्म तथा वर्षा आदि के मनोहर चित्र बनाये हैं।

आधुनिक एव समसामयिक चित्रकारों की उपर्युक्त सूची किसी भी तरह पूर्ण नहीं कही जा सकती है। वस्तुत यह सूची न केवल विशाल है वरन क्रमश उसमें वृद्धि होती जा रही है। ऐसी स्थिति में सभी का उल्लेख करना यहा सम्भव नही है।

आधुनिक चित्रशिल्प की प्रमुख विशेषताएँ — आधुनिक भारतीय चित्रशिल्प में पूर्वात्य और पाश्चात्य का विचित्र सगम दृष्टिगत होता है। आज का चितेरा एक ओर प्राचीन भारतीय चित्रकारी की परम्परा से सम्बद्ध रहते हुए प्रेरित और प्रोत्साहित हो रहा है तथा दूसरी ओर पाश्चात्य जगत में विकसित होने वाली तकनीकों और शैलियों के अनुकरण की होड में लगा हुआ है। वास्तव में न तो अतीत का पूर्वाग्रह समझ कर पूर्णत बहिष्कार और पश्चिम का अन्धानुकरण ही उचित है और न ही प्राचीन की मात्र अनुकृति ।

योरोप में प्रतीकवाद (अमूर्त विचारों एव धारणाओं से साम्यमूलक उदाहरण अथवा प्रतीक ढूढना) आदर्शवाद यथार्थवाद (यथावत चित्रण ही यथार्थवाद है इसी से प्रभाववाद का उद्गम हुआ) अभिव्यञ्जनावाद (चतुर्दिक देखे समझे तथा अनुभव किये हुए विश्व को अभिव्यक्ति प्रदान करना) आदि नवीन शैलियों का प्रतिपादन हुआ। इसके अतिरिक्त भी अनेक वाद विकसित हुए हैं। इन सबका प्रभाव भारतीय चित्रशिल्प पर पडा है। आधुनिक भारतीय चित्रकार किसी न किसी पाश्चात्य स्कूल के पक्षधर अथवा अनुगामी हैं ।

आधुनिक कला को प्रयोगवादी एव व्यक्तिपरक कहा जाता है। कुलकर्णी के विचार में यह कहना कि परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उसका कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं है उचित नही है। कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कला में प्रकट होता है। और व्यक्तित्व का परम्परा आदर्शों अनुभवों तथा परिस्थितियों से इतना सघन सम्बन्ध है कि किसी भी व्यक्ति के लिए चीजों से अपने आप को पूर्णत अलग कर सकना कठिन है।

आधुनिक भारतीय चित्रकार नवीन शैली अपनाने के बावजूद पुरातन भावों सेअपने को असम्बद्ध नहीं कर सका है। उसका रोमाटिसिज्म से नाता अभी तक टूटा नहीं । अरण्यों मैदानों

गागुली ओ सी एण्ड गोस्वामी ए.	द आर्ट ऑव द राष्ट्रकूटज कलकत्ता 1958
हैवेल ई बी	इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिग लन्दन 1908 आइडियल्स ऑव इण्डियन आर्ट लन्दन 1911 एन्शियेन्ट एण्ड मेडिएवल आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया लन्दन 1915
हाल्दार असित कुमार	भारतीय चित्रकला (इतिहास) इलाहाबाद 1959
जौहरी मनोरमा	साउथ इण्डिया एण्ड इटस आर्किटेक्चर वाराणसी 1969
जाशी एल एम (सम्पा)	हिस्ट्री ऑव द पन्जाब प्रथम जिल्द पटियाला 1977
कुमार स्वामी ए.के	हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट दिल्ली 1972 एलिमेंटस ऑव बुधिस्ट आइकोनोग्राफी केम्ब्रिज 1935 राजपूत पेन्टिग्ज आक्सफोर्ड 1916
क्रमरिश स्टेला	हिन्दू टेम्पल (दो खण्डों में) कलकत्ता 1946 द आर्ट ऑव इण्डिया ट्रेडीशन आव इण्डियन स्कल्पचर पेन्टिग एण्ड आर्किटेक्चर लन्दन 1954 इण्डियन स्कल्पचर कलकत्ता 1933 अ सर्वे ऑव पेन्टिग इन द दकन लन्दन 1937
कजिन्स एच	मेडिएवल टेम्पल्स ऑव दकन कलकत्ता 1931 सोमनाथ एण्ड अदर मेडिएवल टेम्पल्स ऑव काठियावाड कलकत्ता 1931 चालुक्यन आर्किटेक्चर ऑव द कनारीज डिस्ट्रिक्टस कलकत्ता 1926
खन्डलवाला के	पहाडी मिनिएचर पेन्टिग बम्बई 1958
मिश्र वी एन	द स्टोन एज कल्चर्स ऑव राजपूताना थीसिस अप्रकाशित पूना विश्वविद्यालय 1961
मार्शल जान	इण्डस वैली सिविलीजशन लन्दन 1953 ए गाइड टु साची कलकत्ता 1936
पिगट एम	प्रिहिस्टॉरिक इण्डिया लन्दन 1950
पाण्डे सी बी	मौर्यन आर्ट दिल्ली 1983
रालैण्ड बेंजामिन	आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया मेरीलेंड (यू एस ए) 1970

राय एन आर	मौर्य एण्ड पोस्ट मौर्य आर्ट नई दिल्ली, 1974 मुगल कोर्ट पेन्टिंग कलकत्ता 1974 भारतीय कला का अध्ययन नई दिल्ली 1978
रायकृष्णदास	भारतीय मूर्तिकला वाराणसी वि स 2030 भारत की चित्रकला इलाहाबाद 1972
साकलिया एच डी	प्रि हिस्ट्री एण्ड प्राटोहिस्ट्री ऑव इण्डिया एण्ड पाकिस्ता पूना 1974
सुब्बाराव बी	पर्सनैलिटी ऑव इण्डिया बडौदा 1958
सरस्वती एस के	सर्वे आव इण्डियन स्कल्प्चर कलकत्ता 1957
सिंह एम	इण्डिया पेन्टिज फ्रॉम अजन्ता केव्ज न्यूयार्क 1954
स्मिथ वी ए	अ हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलो बम्बई 969
शुक्ल डी एन	भारतीय वास्तुशास्त्र लखनऊ 1955
सत्यकेतु विद्यालकार	प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग मसूरी 1977
साकृत्यायन राहुल	ऋग्वेदिक आर्य इलाहाबाद 1957
त्रिवेदी रामगोविन्द	वैदिक साहित्य वाराणसी 1968
उपाध्याय वासुदव	प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एव मन्दिर पटना 1972
वर्मा राधाकान्त	भारतीय प्रागितिहास भाग प्रथम इलाहाबाद 1970 भरतीय प्रागैतिहासिक सस्कृतियाँ इलाहाबाद 1977
वाजपेयी कृष्णदत्त	भारतीय वास्तुकला का इतिहास लखनऊ 1972
वत्स एम एस	एक्सकवेशन्स एट हडप्पा दिल्ली 1940
जिमर एच	द आर्ट ऑव इण्डियन एशिया न्यूयार्क 1968 मिथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट सिविलीजेशन न्ययार्क 1946